

GL H 294 482
SID



120842
LBSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

— 1203612 —

13723

H 294.482

सिद्धान्त

अवान्ति मर्या

Accession No.

वर्ग मर्या

Class No.

पुस्तक मर्या

Book No.

रायचंद्रजैनशास्त्रमाला ।



श्रीमनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकनकवर्तिरचित्

गोम्भटखार ।

(जीवकाण्ड)

न्या. वा. वा. ग. केसरी स्या. वारिधि पं. गोपालदासजी
वरैयाके अन्यतम शिष्य पं. खूबचन्द्र जैनदारारचित्

संस्कृतछाया तथा बालबोधिनीटीकासहित ।

(द्वितीयावृत्ति २००० प्राप्त)

जिसको

श्रीपरमथुतप्रभावकमंडल बर्म्बईके स्वत्वाधिकारियोंने
'मुंबईवैभव प्रेस'में छपाकर
प्रकाशित किया।

श्रीवीरनिवाण संवत् २४५३ ईस्वीसन १९२७।०

मूल्य टु रुपया.

मुद्रकः—चितामण सखाराम देवल्टे, मुंबईमध्ये प्रेरा, महाराष्ट्र ऑफ इंडिया
सोमायडीजू. विल्हिंग, गैंडस्टर्ड रोड, मिरगाव, मुंबई.

प्रकाशक—शा. रेवाशंकर जगजीवन जवेरी, आनंदेश्वर व्यवस्थापक, श्री परमथुत
प्रभावक मंडल, जवेरीजार, यम्बई २.



प्रस्तावना.

इस ग्रंथके रचयेता श्री नेमिचंद्र सिंहदांतचक्रवर्ती हैं । आपके पवित्र जन्मसे यह भारत भूमि किस समय अनेकुत्त हुई यह ठीक २ नहीं कहा जासकता, तथापि इतिहासान्वेषी विक्रमकी ग्यारहमी शताब्दीके प्रारम्भमें या उसके कुछ पूर्व ही बहुधा आपने अपने भव्यभंजक उपदेशसे भव्योंको कृतार्थ किया था यह सिद्ध करते हैं । इस सिद्धिमें जो प्रमाण दिये जाते हैं उनमें से कुछ का हम यहांपर संक्षेपमें उल्लेख करते हैं ।

बृहदद्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने आपका शक संवत् ६०० (वि. सं. ७३५) निर्धित किया है । व्योंकि श्रीनेमिचंद्र स्वामी तथा श्रीचामुण्डराय दोनोंही समकालीन थे । और श्री चामुण्डरायके विषयमें ‘बाहुबलिचरितमें लिखा है कि:—

‘कल्कयद्वे षट्दशताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्रपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलम्घे सुयोगे ।
सौभाग्ये हस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमचामुण्डराजो वेलगुलनगरे गोमटेशप्रतिप्राम् ॥ ५५ ॥

अर्थात् शक सं. ६०० में चैत्र शुक्रा ५ रविवारके दिन श्रीचामुण्डरायने श्रीगोमटस्वामीकी प्रतिष्ठा की । परंतु यदि दूसरे प्रमाणोंसे इस कथन की तुलना की जाय तो इसमें बाधा आकर उपस्थित होती है । व्योंकि बाहुबलिचरितमें ही यह बात लिखी हुई है कि ‘देशीयगणके प्रधानभूत श्री अजितसेन मुनिको नमस्कार करके श्रीचामुण्डराय ने श्रीबाहुबली की प्रतिमाके विषयमें वृत्तान्त कहा,’ यथा:—

‘पश्चात्सोजितसेनपणिष्ठतमुर्नि देशीगणाद्येसरम्
स्वरयाधिष्पत्यसुखादिधर्वनशशिश्रीनिविसंघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरासहनंदिमुनिपाङ्ग्याम्भोजरोलम्बकम्
चानम्य प्रवदस्तुपौदनपुरीश्रीदोवर्लेवृत्तकम् ॥’

श्रीमन्नेमिचंद्र सिंहदांतचक्रवर्तीने भी गोमटसारमें श्री अजितसेनका स्मरण किया है । और उनको श्रीचामुण्डरायका गुरु बताया है । यथा:—

‘जिम्बिहगुणा विस्संता गणहरदेवादि इड्डिपत्ताणं ।
सो अजितसेणाहो जस्स गुरु जयउ सो राओ ॥ ८ ॥

^१ यहांपर कल्पी शब्दसे जो शकका प्रहण पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने किया है वह किस तरह किया यह हमारी समझमें नहीं आया ।

और भी—“ अज्जसेणगुणगणसमूहसंधारि अजियसेणगुरु ।
भुवणगुरु जस्ते गुरु सों राओं गोम्मटो जयउ ॥ ”

अर्थात् वह श्री चामुण्डराय जयवंता रहो कि जिसके गुरु अजितसेन नाथमें ऋद्धिप्राप्त गणथर देवादिकोंके गुण वाये जाते हैं ॥ आचार्य श्री आर्यसेनके अनेक गुणोंके समूहको धारण करनेवाले तथा तीन लंकके गुरु अजितसेन गुरु जिसके गुरु हैं वह गोम्मट राजा जयवंता रहो ॥

इससे यह बात मालूम होती है कि जिन अजितसेन स्वामीका उल्लेख बाहुबली चरितमें और गोमटसारमें किया गया है वे एक ही हैं । परंतु ये अजितसेन कवि हुए इस बातका कुछ पता श्रवणवेलगालाके एक शिलालेखसे मिलता है ।

उसमें अजितसेनके विषयमें लिखा है कि:—

गुणा- कुंदस्पन्दनोद्भुमरसमरा वाग्मृतवाः ,
सूवप्रायः प्रेयःप्रसरसरसा कीर्तिरिय सा ।
नखन्दुजर्येत्स्ताङ्गेवृपच्यन्नकोरप्रणयिनी,
न कासां श्लाघानां पदमजितसेनो व्रतिपतिः ॥

यह शिलालेख कीव ग्यारहमी शर्दीका लुढ़ा हुआ है । इससे मालूम होता है कि श्री अजितसेन स्वामी ग्यारहमी शर्दीका पूर्व हुए हैं, और उसी समय श्री चामुण्डराय भी हुए हैं । परंतु पं. नाथरामजी प्रेमी द्वारा लिखित ‘चंद्रप्रभन्तिरिका भूमिका’में श्री चामुण्डरायके परिचयमें लिखा है कि कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रखने शक सम्बत ९१५ सं. ‘पुणातिळक’ नामक ग्रंथकी रचना की है और उसने अपनेको रक्ष संग्रहजनका आश्रित बनलाया है । चामुण्डरायकी भी अपनेपर विशेष कृपा रहनेका वह जिकर करता है ।’ इससे मालूम होता है कि शक सं. ९१५ या विक्रम सं. १०५० के लगभग ही श्री चामुण्डराय और श्री अजितसेन स्वामी हुए हैं ।

गोमटसारकी श्री चामुण्डरायकुठ एक कर्णाटक बृत्ति श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके समक्ष ही वन चुकी थी । उसीके अनुसार श्री कंशवचर्णाकृत संस्कृत टीका भी है । उसकी आदिमें लिखा हुआ है कि:-

‘श्रीमद्वितीहतप्रभावस्याद्रावशासनगुरुभ्यंतरानिवासिप्रवादिसिद्धुरसिंहायमान-सिंह-नंदिनिद्विगंगवंशललाम-राजसर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेय-श्रीमद्राजमल्लदेवमही-वलुभमहा-मात्यपदविवराजमान-रणद्रमलासहायपराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविवि धगुणनामसमाप्तादितकीर्तिकांत-श्रीमत्त्वामुण्डरायप्रभावतार्णिकचत्वारिंशत्पदनामसत्वप्ररूप-णद्वौरेणाशेषविनेयजननिकुरंवसंबोधनार्थे श्रीमत्त्वामिचंद्रसेद्वानितिक-चक्रवर्ती समस्तसेद्वानितिकजनप्रस्त्रयातविशदयशाः विशालमतिरसौ भगवान् गोमटसारपंचसंग्रहप्रयंचमारच्यस्तदावौ निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तिनिमित्तं देवताविशेषं नमस्करोति ।

राचमल और रक्षस गंगराज ये दोनों ही मार्ड थे । उपर्युक्त गोमटसारकी वंकियोंसे स्पष्ट है कि राचमल चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती तीनोंही समकालीन हैं । राचमलका समय विक्रमकी ग्यारहमी शर्दी निश्चित की जाती है । अत एव स्वयं सिद्ध है कि यही समय चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका भी होना चाहिये ।

नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने कई जगह वीरनंदि आचार्यका स्मरण किया है । यथा:-

“ जस्स य पायपसाएणणांतसंसारजलहिमुक्ति जो ।

वीरिद्विणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ”

“ णमिक्तण अभयणंदिं सुद्सागरपारगिदणंदिगुरुं

वरवीरणंदिणाहं पद्यडीणं पञ्चयं वीच्छुं ॥ ”

“ णमह गुणरयणभूसणिसिद्धांतमियमहदिधभवभावं :

वरवीरणंदिच्छं णिम्मलगुणभिदणंदिगुरुं ॥ ”

इन्ही वीरनंदिका स्मरण वादिग्रन्त सूरीने भी किया है । यथा:-

चंद्रप्रभामिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम् ।

कुमुदतीय नो धर्ते भारती वीरनंदिनः ॥ (पार्श्वनाथकाव्य श्लो. ३०)

वादिराज सूरीने पार्श्वनाथ काव्यकी पूर्ति शक सं. ९४७ में की है, यह उसीकी अन्तिम प्रश्न-स्तिके इस पथसे मालुम होता है ।

“ शाकान्दे नगवार्धिरन्धगणने संवत्सरे कोधने,

मासे कार्तिकनान्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।

सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया,

निष्पर्ति गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥ ”

अर्थात् ‘ शक सम्वत् ९४७ (कोठन सम्वत्सर) की कार्तिक शुक्ल तृतीयाको पार्श्वनाथ काव्य पूर्ण किया । ’ इस कथनसे यथापि यह मालुम होता है कि वीरनंदि आचार्य शक संवत् ९४७ के पहले ही होन्चुके हैं; तथापि जब कि वीरनंदी आचार्य स्वयं अभयनंदीको गुरु स्थीकार करते हैं और नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती भी उनको गुरुस्थपसे स्मरण करते हैं तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि वीरनंदि और नेमिचंद्र दोनों ही समकालीन हैं ।

गोमद्वारकी गाथाओंका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें भी मिलता है—यथा:-

“ विग्रहगाविमावणा केवलिणो समुहदो अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा ॥ ” (६६५)

श्रीप्रभाचंद्र आचार्यने प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना भोजराजके समयमें की है; क्योंकि उसके अंतमें यह उल्लेख है कि:-

“ श्री भोजदेवराजये श्रीमद्वारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्रभाचंद्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुख्यप्रमिदं विवृतमिति । ”

धारानगरीके अधिपति भोजराजका समय विकम्पी ११ वीं शदी निश्चित है । इससे यह मालुम होता है कि नेमिचंद्रस्वामी या तो प्रभाचंद्राचार्यके समकालीन हैं या कुछ पहले होन्चुके हैं । यथापि इस प्रमाणसे यह भी मालुम होसकता है कि श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती प्रभाचंद्राचार्यसे कई शदी पूर्व हुए हैं; परंतु जबकि कवि रचने अपनेपर श्रीमान् चामुण्डाचार्यकी कृपा गहनेका जिक्र किया है तथा पुराणतिलककी रचना शक सं. ९१५ में उसने की है यह निश्चित है तब इस शंकाको स्थान नहीं रहता । अत एव इतिहासप्रेमी यह निश्चित करते हैं कि श्रीमान् नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका समय भी लगभग शक सं. ९१५ के ही है । परंतु यह निश्चित एक प्रकारसे पुराणतिलकके आधारसे ही है । अत एव

अभी इतना संदेह ही है कि यदि पुराणतिलकके कथनको प्रमाण माना जाय तो वाहुबलीचरितके कथनको प्रमाण क्यों न माना जाय ? यदि माना जाय तो किस तरह घटित किया जाय ? इसतरह नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीका समय एक तरहसे अभीतक हमको संदिग्ध ही है। इसीलिये समयनिर्णयको हम यही विराम देते हैं। इसी बात यह भी है कि समयकी प्राचीनता या अर्वाचीनतासे प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय नहीं होता। प्रामाण्य या अप्रामाण्यके निर्णयका हेतु ग्रंथकर्ताका ग्रंथ होता है।

इस ग्रंथके रचयिता साधारण विद्वान् न थे। उनके रचित गोमटसार त्रिलोकसार लघिसार आदि उपलब्ध ग्रंथ उनकी आसाधारण विद्वाना ओर 'सिद्धांतचक्रवर्ती' इस पदवीको सार्थक सिद्ध कर रहे हैं। यथापि उपलब्ध ग्रंथोंमें गणितकी प्रनुराता देखकर लग यह विश्वास कर सकते हैं कि श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती गणितकं ही अप्रतिम पिण्डित थे, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे सर्वविषयमें पूर्ण निष्ठात थे।

उपर जो गोमटसार संस्कृत टीकाकी उत्थानिकाका उल्लेख दिया है उसमें यह बात दिखाई गई है कि इस ग्रंथकी रचना श्रीमाचामुण्डरायके प्रश्नके अनुसार हुई है। इस विषयमें ऐसा सुननेमें आता है कि एक बार श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ध्वलांडि महासिद्धांत ग्रंथोंमेंसे किस सिद्धांत-ग्रंथका स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय गुरुका दर्शन करनेके लिये श्री चामुण्डराय भी आये। शिष्यको आता हुआ देखकर श्रीनिमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने स्वाध्याय करना बंद कर दिया। जब चामुण्डराय गुरुको नमस्कार करके बैठायें तब उनने पृष्ठा कि गरे ! आपने ऐसा क्यों किया ? तब गुरुने कहा कि श्रावकको इन सिद्धांत ग्रंथोंके सुननेका आविकार नहीं है। इसपर चामुण्डरायने कहा कि हमको इन ग्रंथोंका अवबोध किस तरह होसकता है ? कृपया कोई ऐसा उपाय निकालिये कि जिससे हम भी इनका महावानुभव कर सकें। सुनते हैं कि इसीपर श्रीनिमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने सिद्धांत ग्रंथोंका सार लेकर इस गोमटसार ग्रंथकी रचना की है।

इस ग्रंथका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है। क्योंकि इसमें महाकर्मप्राभृतके सिद्धांतसंबंधी जीव-स्थान क्षुद्रवंध वंधस्थामी वेदनासंख वर्णणांशंड इन पांच विषयोंका वर्णन है। मूलग्रंथ प्राकृतमें लिखा गया है। यथापि मूल लेखक श्रीयुत नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती ही हैं; तथापि कहीं २ पर कोई २ गाथा माधवचंद्र त्रैविद्येवन भी लिखी हैं। यह टीकामें दी हुई गाथाओंकी उत्थानिका के देखनेसे मालूम होती है। माधवचंद्र त्रैविद्येवन श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। मालूम होता है कि तीन विद्याओंके अधिपति होनेके कारण ही आपको त्रैविद्येवका पद मिला होगा। इससे पाठकोंको यह भी अंदाज करलेना चाहिये कि नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीकी विद्वाना कितनी असाधारण थी।

इस ग्रंथाजके ऊपर अभीतक चार टीका लिखी गई हैं। जिसमें सबसे पहले एक कर्नाटक वृत्ति बनी है। उसके रचयिता ग्रंथकर्ताके अन्यतम शिष्य श्रीमाचामुण्डराय हैं। इसी टीकाके आधारपर एक संस्कृत टीका बनी है, (जिसके निर्वाता केशवर्णी हैं) और यह टीका भी इसी नामसे प्रसिद्ध है। इसी संस्कृत टीका श्रीमद्भगवन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीकी बनाई हुई है जो कि 'मंद्रप्रवेषिनी' नामसे प्रस्तुत है। उपर्युक्त दोनों टीकाओंके आधारसे श्रीमद्विद्वद्र औटरमधुजीने 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामकी हिंदी टीका बनाई है। उक कर्नाटक वृत्तिके विवाय तीनों टीकाओंके आधारपर यह संक्षेप बालबोधिनी टीका लिखी है। 'मंद्रप्रवेषिनी' हमको पूर्ण नहीं मिलसकी इसलिये जहांतक मिल सकी वहांतक तीनों टीकाओंके आधारसे और आगे 'केशवर्णी' तथा 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका'के आधारसे ही हमने इसको लिखा है।

इस ग्रंथके दो भाग हैं—पहले जीवकाण्ड द्वितीय कर्मकाण्ड । जीवकाण्डमें जीवकी अनेक भशुद्व अवस्थाओंका या भावोंका वर्णन है । कर्मकाण्डमें कर्मोंकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है । कर्मकाण्डकी संक्षिप्त हिंदी टीका श्रीयुत पं. मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित दसी ग्रंथमालाके द्वारा पहले प्रकाशित हो चुकी है । जीवकाण्डकी संक्षिप्त हिंदी टीका अभीतक नहीं हुई थी । अत एव आज विद्वानोंके समक्ष उसके उपायित करनका मौन साहस किया है ।

जिस समय श्रीयुत प्रातःस्मरणीय न्यायवाचारपति भ्याद्यादवारिधि वार्दिगजेफसरी गुरुवर्ये पं. गोपालदासजीके चरणोंमें मैं विश्वाध्ययन करता था उसी समय गुनकी आजानुसार इसके लिखनेका मैने प्रारम्भ किया था । यथापि इसके लिखनेमें प्रमाद या असनन्वश भूक्षप्त कितनी ही अशुद्धियाँ रहगई होंगी; तथापि मजन पाठ्यक्रमें गुणात्मकी स्वभावपर दृष्टि देनेसे इस विषयमें मुझे अपने उपहासका बिल-कुल भय नहीं होता । ग्रंथके पूर्ण करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ था तथापि किसीभी तरह जो मैं इसको पूर्ण कर सका हूँ उसका कारण केनल मुझमाद है । अत एव इस कृतज्ञताके निर्दशनार्थ गुरुके चरणोंका चिरंतन चिंतन करना ही श्रेय है ।

प्राचीन टीकाएं समुद्रसमान गम्भीर हैं—सहसा उनका कोई अवगाहन नहीं कर सकता । जो अवगाहन नहीं कर सकते उनकेलिये कुल्याके समान इस क्षुद्र टीकाका निर्माण किया है । आशा है कि इसके अभ्याससे प्राचीन सिद्धांत सितीर्पुओंको अवश्य कुछ सरलता होंगी । पाठ्यक्रमें यह निवेदन है कि यदि इस कृतिमें कुछ सार भाग मानुम है तो उसे मेरे गुरुका समझ हृदयंगत करें । और यदि कुछ निःसारता या विपरीतता मालुम पड़े तो उसे मेरी कृति समझें, और मेरी असानतापर क्षमाप्रदान करें ।

यह टीका स्व. श्रीमान् रायचंद्रजीद्वारा स्थापित ‘परमश्रुतप्रभावकमंडल’की तरफसे प्रकाशित की गई है । अत एव उक्त मंडल तथा उसके ऑनररी व्यवस्थापक शा. रेवाशंकर जगाजीवनदासजीका साधुवादन करता हूँ ।

इस तुच्छ कृतिको पढ़नेके पूर्व “गच्छतः स्वलनं कापि भवत्येव प्रमादतः । हसंति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः” इस श्लोकके अर्थको दृष्टिपथ करनेके लिये विद्वानोंसे प्रार्थना करनेवाला—

७-७-१९९६
२ रा पांजरापोल-बवई नं. ४ } }

खूबचंद जैन
वेरली (एटा) निवासी



विषयसूची ।

विषय.	पु. नं.	विषय.	इ. नं.
मंगलका प्रयोजन ...	११ १	छेड़े गुणस्थानका लक्षण ...	५४२३
मंगल और प्रतिज्ञा ...	११ ५	प्रमादके ११ भेद ...	११ ६
बोस अधिकारोंके नाम ...	२१ १	प्रमादके विषयमें ५ प्रकार ...	१५१९५
गुणस्थान और मार्गेणाकी उत्पत्ति १		संख्या ...	१५१२५
निमित्त और उक्त प्राय वाचक शब्द	२१८	प्रस्तारका पहला कम ...	१६१९१
गुणस्थान संज्ञाको मोहयोगभवा क्यों		प्रस्तारका दूसरा कम ...	१६१२५
कहा ? इसका उत्तर ...	३१ १	प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तन ...	१७१०
दो प्रकृष्टण और बीस प्रकृष्टणकी भिन्न		दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचार ...	१७१२४
२ अपेक्षा ...	३१ ५	नष्टकी विधि ...	१८ ६
मार्गेणप्रकृष्टणमें दूसरी प्रकृष्टणओंका		उद्दिष्टका स्वरूप ...	१८१२३
अंतभीव ...	३१९४	प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा नष्ट उद्दिष्टका	
संज्ञाओंका अंतभीव ...	४१ १	गृहयंत्र ...	१५१९०
उपर्योगका अंतभीव ...	४१९३	दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गृहयंत्र ...	१५१२२
गुणस्थानका लक्षण ...	४१२५	सातमेगुणस्थानका स्वरूप ...	२० ३
बौद्ध गुणस्थानके नाम ...	५१ ६	सातमें गुणस्थानके दो भेदोंका स्वरूप ...	२०१९१
चार गुणस्थानोंमें होनेवाले पाच भाव ...	६१ १	अध्यकरणका लक्षण ...	२१ १
४ गुणस्थानोंके पाच भावोंकी अपेक्षा ...	६१९६	अपूर्वकरण गुणस्थान ...	२३१९५
पाचमें आदि गुणस्थानोंमें होनेवाले		आपूर्वकरण परिणामोंका कार्य ...	२५ ३
भाव और उनकी अपेक्षा ...	७१ १	नवमें गुणस्थानका स्वरूप ...	२५१२३
मिथ्यात्वका लक्षण और भेद	७१२१	दशमे गुणस्थानका स्वरूप ...	२७ ८
मिथ्यात्वके पाच भेदोंका व्याप्ति ...	८१९४	ग्यारहमें गुणस्थानका स्वरूप ...	२७१२८
प्रकारात्मरसे मिथ्यात्वका लक्षण ...	८१२२	बारहमा गुणस्थान ...	२८ ६
मिथ्याद्विके बाया चिन्ह ...	९१ ५	तेरहमा गुणस्थान ...	२८१९४
सासादन गुणस्थानका लक्षण ...	९१९४	बीदहमा गुणस्थान ...	२९ ४
सासादनका व्याप्ति ...	९१२५	गुणस्थानोंमें होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा ...	२९१९६
तीसरे भिन्न गुणस्थानका लक्षण ...	१०११	सिद्धोंका स्वरूप ...	३०१९२
तीसरे गुणस्थानका व्याप्ति ...	१०१०	सिद्धोंको दियेहुए विशेषणोंका फल ...	३०१२३
तीसरे गुणस्थानकी कुछ विशेषता ...	११ ८	जीवसमास-अधिकार १	
वेदक सम्यक्त्वका लक्षण ...	१२ १	जीवसमासका लक्षण ...	३११७
ओपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वका		जीवसमासके चौदह भेद ...	३२१११
लक्षण ...	१२१२२	जीवसमासके ५७ भेद ...	३२१९५
चतुर्थ गुणस्थानकी कुछ विशेषता ...	१३ १	जीवसमासके विषयमें स्थानादि ४ अधि-	
पांचमे गुणस्थानका लक्षण ...	१४ १	कार ...	३२१२९
विरताविरतकी उपत्ति ...	१४ ९	स्थानाधिकार ...	३३१०

विषय,	पु. पं.	विषय,	पु. पं.
योनिअधिकार	३५१२७	संज्ञाओंके स्वामी	५७१ ६
तीन प्रकारका जन्म	३६१९५	मार्गणा-महाधिकार	
जन्मका योनिके साथ सम्बन्ध	३७ ४	मंगलाचरण और मार्गणाधिकारके वर्णनकी प्रतिज्ञा	५७२९
गुणयोनिकी संहथा	३७१२४	मार्गणाका निश्चिपूर्वक लक्षण	५८ १
गतिकी अपेक्षा जन्म	३८११२	चौदह मार्गणाओंके नाम	५८११०
गतिकी अपेक्षा वेदोंका नियम	३९ ७	अंतरमार्गणाओंके भेद और उनके कालका नियम	५८११७
अवगाहनाअधिकार	३९११९	अंतरमार्गणा विशेष	५९ ७
अवगाहनाओंके स्वामी और उनकी न्युनाधिकारका गुणाकार	४१ ७	गतिमार्गणा अ-६	
चतुःस्थानपतित वृद्धि और अवगाहनाके मध्यके भेद	४२११४	गति शब्दकी निश्चिपूर्वक लक्षण और उसके भेद	५९१२१
बायुकायकी अवगाहना	४५११३	नाराकादि ४ गतियोंका भिन्न स्वरूप	६० १
तैजस्कायादिकी अवगाहनाओंके गुणाकारकी उत्पत्तिका क्रम	४६१२३	सिद्धगतिका स्वरूप	६१ ३
अवगाहनाके विषयमें मस्त्यरचना	४७ ३	गतिमार्गणामें जीवसंहथा	६२११८
कुलअधिकार	४७११६	इन्द्रियमार्गणा अ-७	
पर्याप्ति-अधिकार ३		इन्द्रियका निश्चिपूर्वक अर्थ	
दृष्टिद्वारा पर्याप्ति अपर्याप्तका स्वरूप	४८१२२	इन्द्रियके द्रव्य भावरूप दो भेद और	६२१२३
पर्याप्तिके छह भेद और उनके स्वामी	४९ ५	उनका स्वरूप	६३ ५
पर्याप्तिका काल	५० १	इन्द्रियकी अपेक्षा जीवोंके भेद	६३११४
अपर्याप्तका स्वरूप	५०१२६	इन्द्रियबुद्धिका क्रम	६४ १
अपर्याप्तके उक्षण भव	५१ १	इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र	६४१११
जीवलिंगोंकी अपर्याप्तताकी शंकाका परिद्वारा	५२११०	इन्द्रियोंका आकार	६५ १
गुणस्थानोंकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त अवस्था	५२१२८	इन्द्रियगत आमप्रदेशोंका अवगाहना-	
सासादन और सम्प्रक्षत्के अभावका नियम	५३११०	प्रमाण	७० ६
प्राण-अधिकार ४		अतीनिद्रियज्ञनियोंका स्वरूप	७१ १
प्राणका लक्षण	५३१२१	एकेन्द्रियादि जीवोंकी संहथा	७१११७
प्राणके भेद	५४ ५	कायमार्गणा अ-८	
प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री	५४११२	कायका लक्षण और भेद	७३१२७
प्राणोंके स्वामी	५४१२७	पृथ्वी आदि ४ स्थावरोंकी उत्पत्तिका	
एकेन्द्रियादि जीवोंके प्राणोंका नियम	५५ ६	कारण	७४ ६
संज्ञा-अधिकार ५		शरीरके भेद और लक्षण	७४११६
संज्ञाका स्वरूप और भेद	५५१२४	शरीरका प्रमाण	७४१२५
कमस्थ आहारादि संज्ञाका स्वरूप	५६ ४	वनस्पतिका स्वरूप और भेद	७५ ४
		त्रसोंका स्वरूप भेद क्षेत्र आदि	७५१२६
		वनस्पतिके समान दूसरे जीवोंमें प्रतिष्ठित	
		अप्रतिष्ठित भेद	८०१२६
		स्थावर और त्रस जीवोंका आकार	८१ ५

विषय.	पृ. वं.	विषय.	पृ. वं.
दृष्टद्वारा कायका कार्ये ...	८११९५	कषायमार्गणा अ-११	
कायरहित-सिद्धोका स्वरूप	८१२६	कषायके निश्चिसिद्ध लक्षण	१०५११४
पृथ्वीकायिकादि जीवोंकी संख्या	८२११०	शक्तिकी अपेक्षा कोधादिके ४ भेद	११०१ ६
योगमार्गणा अ-११		मतिहोके प्रथम समयमें कोधादिका	
योगका सामान्य लक्षण ...	८७१ ९	नियम	१११११४
योगका विशेष लक्षण ...	८७१२३	कषायरहित जीव	११११२६
दश प्रकारका सत्य ...	८८११३	कषायोंके स्थान	११२१ ४
अनुभय वचनके भेद ...	९०१२४	कषायकी अपेक्षा जीवसंख्या ...	११४११३
वार प्रकारके मनोयोग और वचनयो-		ज्ञानमार्गणा अ-१२	
गके कारण ...	९११७	ज्ञानका निश्चिसिद्ध सामान्य लक्षण ...	११५१२८
स्वयोगके वलोंके मनोयोगकी संभवता ...	९११२५	पाच ज्ञानोंका क्षायेप्राप्तिक क्षायिकरू-	
काययोगके प्रयेक भेदका स्वरूप ...	९११७	पसे विभाग	११६१ ६
योगप्रवृत्तिका प्रकार ...	९६१ ४	मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी ...	११६११३
अयोगी जिन ...	९६१११	मित्रज्ञानका कारण और मनःपर्ययज्ञान-	
शरीरमें कर्म नोकरीका विभाग ..	९६११८	का स्वामी	११६१२२
औदारिकादिके समयप्रबद्धकी संख्या ...	९६१२६	श्रुतद्वारा तीन मिथ्याज्ञानका स्वरूप ...	११६१ ३
औदारिकादिके समयप्रबद्ध और वर्णणा-		मतिज्ञानका स्वरूप उत्पत्ति आदि ...	११८१ ३
का अवगाहन प्रमाण ...	९७११३	श्रुतज्ञानका सामान्य लक्षण ...	१२११२३
विश्वसोपचयका स्वरूप ...	९८१ १	श्रुतज्ञानके भेद	१२३१ २
कर्म नोकरीका उत्कृष्ट संचय और स्थान	९८११२	पर्यायज्ञान	१२२१२८
उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेष	९८१२५	पर्यायसमाप्त	१२४१ ३
शरीरोंकी उत्कृष्ट रिति ...	९९१ ३	छह बुद्धियोंकी छह संज्ञा ...	१२४१२०
उत्कृष्ट स्थितिका गुणहासी आयाम ...	९९११४	छह बुद्धियोंकी कुछ विशेषता ...	१२४१२८
शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय सत्त्व		अर्थाक्षर श्रुतज्ञान ...	१२७११०
अवस्थामें द्रव्यप्रमाण ...	९९१२२	श्रुतनिबद्ध विषयका प्रमाण ...	१२७१२१
औदारिक और वैक्षिक शरीरकी विशे-		अक्षरसमाप्त और पदज्ञान ...	१२८१ ३
षता ...	१००१११	पदके अक्षरोंका प्रमाण ...	१२८१११
औदारिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्वामी	१००११२	पदसमाप्त और संचात श्रुतज्ञान ...	१२८१२४
वैक्षिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान	१०११५	संघातसमाप्त आदि १३ प्रकारके श्रुतज्ञा-	
तैजस कर्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान	१०११९६	नका विस्तृत स्वरूप ...	१२३१ ४
योगमार्गणामें जीवोंकी संख्या ...	१०११२५	अंगबासि श्रुतेके भेद ...	१४०१ ७
वेदमार्गणा अ-१०		श्रुतज्ञानका माहात्म्य ...	१४०११९
तीन वेदोंके दो भेदोंका कारण और		अवधिज्ञानका स्वरूप और दो भेद ...	१४११ ९
उनकी समविषमता ...	१०११ १	दो प्रकारकी अवधिका स्वामी और	
भावभेद और उसके तीन भेदोंका स्वरूप	१०६११३	स्वरूप	१४१११५
वेदरहित जीव ...	१०७११५	गुणप्रत्यय और सामान्य अवधिके भेद	१४११२६
द्रुडी अपेक्षा जीवसंख्या	१०७१२३	अवधिका द्रव्यादिचतुर्थकी अपेक्षा	
		वर्णन	१४३१ ८

विषय.	पृ. पं.	विषय.	पृ. पं.
अवधिका सबसे जघन्य द्रव्य ...	१४३।१७	विपुलमतिका द्रव्य ...	१६५।२१
अवधिका जघन्य क्षेत्र ...	१४३।२८	दोनों भेदोंके क्षेत्रादिका प्रमाण ...	१६६।११
जघन्यस्वेतका विशेष कथन ...	१४४। ७	केवल ज्ञानका स्वरूप ...	१६७।१६
अवधिका समयप्रबद्ध ...	१४५।२७	ज्ञानमार्गामें जीवसंहया ...	१६७।२६
ध्रुवहारका प्रमाण ...	१४६। ५	संयममार्गणा अ-१४	
मनोद्रव्य-वर्गणाका जघन्य और उक्षुष्ट प्रमाण ...	१४६।१४	संयमका स्वरूप और उसके पांच भेद	१६९। १
प्रकारान्तरसे ध्रुवहारका प्रमाण ...	१४६।२३	संयमकी उत्पत्तिका कारण ...	१६९।१०
देशावधिके द्रव्यकी अपेक्षा भेद ...	१४७। ६	देशसंयम और असंयमका कारण ...	१७०। ३
क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य और उक्षुष्ट प्रमाण १४७।१५		सामायिक संयम ...	१७०।१०
वर्गणाका प्रमाण ...	१४७।२४	छेदोपस्थापना संयम ...	१७०।१९
परमावधिके भेद ...	१४८। ३	परिहारविशुद्धि संयम ...	१७०।२८
देशावधिके विकल्प और उनके विषयभूत क्षेत्रादिके प्रमाण निकालनेके क्रम ...	१४८।१२	सूक्ष्मसांपर्य संयम ...	१७१।१७
उच्चिस काषटकमें दोनों क्रमोंका स्वरूप ...	१५०।१०	यथाहयात संयम ...	१७१।२६
ध्रुववृद्धिका प्रमाण ...	१५१। ४	देशवितर ...	१७२। ९
अध्रुववृद्धिका प्रमाण ...	१५१।१६	असंयत ...	१७२।२५
उक्षुष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्यादिका प्रमाण ...	१५२। १	इन्द्रियोंके आठाहैस विषय ...	१७३। ३
परमावधिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण ...	१५३।२५	संयमकी अपेक्षा जीवसंहया ...	१७३।१२
उक्षुष्ट द्रव्यका प्रमाण ...	१५४। ३	वर्णनमार्गणा अ-१४	
सर्वावधिका विषयभूत द्रव्य ...	१५४।३१	दर्शनका लक्षण... ...	१७४। १
परमावधिके क्षेत्र कालकी अपेक्षा भेद	१५४।२२	चक्षुरदर्शन आदि ४ भेदोंका क्रमसे स्वरूप	१७४।१७
विषयके असंहयातगुणितकमका प्रकार ...	१५४।२८	दर्शनकी अपेक्षा जीवसंहया ...	१७५।१३
प्रकारान्तरसे गुणाकारका प्रमाण ...	१५५।१७	लेश्यामार्गणा अ-१५	
परमावधिके विषयभूत उक्षुष्ट क्षेत्र और कालका प्रमाण निकालनेकेलिये दो करणमूल ...	१५६।१३	लेश्याका लक्षण... ...	१७६।११
जघन्य देशावधिसे सर्वावधिपर्यंत भावका प्रमाण ...	१५६।३०	लेश्याओंके निर्देश आदि १६ अधिकार	१७७। १
नरकगतिमें अवधिका क्षेत्र ...	१५७।२०	१ निर्देश ...	१७८।१३
तिर्यक और मतुष्यगतिमें अवधि ...	१५७।३०	२ वर्ण ...	१७८।२४
देवगतिमें अवधिका क्षेत्रादि ...	१५८। ३	३ परिणाम ...	१७९। ६
मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप ...	१६।१८	४ संक्रम ...	१८०।१८
मनःपर्ययके भेद ...	१६। ७	५ कर्म ...	१८१। ९
मनःपर्ययके दो भेदोंका विशेष स्वरूप	१६।२६	६ लक्षण ...	१८१। ९
मनःपर्ययका स्वामी आदि ...	१६।४। १	७ गति ...	१८५। ९
क्षुभितिका जघन्य और उक्षुष्ट द्रव्य	१६५।१४	८ स्वामी ...	१८९।१८
		९ साधन ...	१९१। ९
		१० संख्या ...	१९३।१२
		११ क्षेत्र ...	१९४।२७
		१२ स्पर्श ...	१९६। ६
		१३ काल ...	१९८।१६
		१४ अंतर ...	१९९।१९

विषय.	पृ. पं.	विषय.	पृ. पं.
१५-१६ भाव और अत्यबहुत्त्व ...	२००१२७	संकीर्ण असंक्षिप्त परीक्षाका विन्द ...	२४५११२
लेखारहित जीव ...	२०१११	संकीर्ण मार्गणामें जीवसंख्या ...	२४६। १
भव्यमार्गणा अ-१६		आहारमार्गणा अ-१६	
भव्यअभव्यका स्वरूप ...	२०११२४	आहारका स्वरूप ...	२४६।१०
भव्यत्व अभव्यत्वसे रहित जीव ...	२०२।२४	आहारक अनाहारकका विभेद ...	२४६।२५
भव्यमार्गणामें जीवसंख्या ...	२०३। ५	समुद्रातके भेद ...	२४७। ४
पाच परिवर्तन... ...	२०३।१२	समुद्रातका स्वरूप ...	२४७।१२
सम्यक्त्वमार्गणा अ-१७		आहारक और अनाहारकका कालप्रभाग	२४७।२६
सम्यक्त्वका स्वरूप ...	२०४।१३	आहारमार्गणामें जीवसंख्या ...	२४८। ५
सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्यका निष्पत्ति ...	२०४।२७	उपयोगाधिकार-१०	
१ नाम ...	२०९। ५	उपयोगका स्वरूप और दो भेद ...	२४८।१४
२ उपलक्षण ...	२०९।२२	दोनों उपयोगोंके उत्तर भेद ...	२४८।१२
३ स्थिति ...	२१५।१२	साकार उपयोगकी विशेषता ...	२४९। १
४ क्षेत्र ...	२१६। ३	अनाकार उपयोगकी विशेषता ...	२४९।१३
५ संख्या ...	२१७।२५	उपयोगाधिकारमें जीवसंख्या ...	२४९।२७
६ स्थानस्वरूप ...	२१८।२३	अंतर्भीवाधिकार १	
७ फल ...	२२३। ४	गुणस्थान और मार्गणामें शेष प्रकृष्टणा-ओंका अंतभीव ...	२५०। ७
परमाणुके स्फूर्त्यरूप परिणमनका कारण	२२४।२१	मार्गणाओंमें गुणस्थानादि... ...	२५०।१७
पंचास्तिकाय ...	२३८।२६	गुणस्थानोंमें जीवसमाप्ति ...	२५१।२०
नव पदार्थ ...	२२९।१४	आलापाधिकार १	
गुणस्थानकमसे जीवसंख्या	२३०। ६	नमस्कार और आलापाधिकारके कहनेकी प्रतिका ...	२६३।१६
अजीवादि-तत्त्वोंका संक्षिप्त स्वरूप ...	२३८। ७	गुणस्थान और मार्गणाओंके आलापोंकी संख्या ...	२६३।२४
क्षयिक सम्यक्त्व	२३९। ७	गुणस्थानोंमें आलाप ...	२६४। १
वेदक सम्यक्त्व	२४०।२६	मार्गणाओंमें आलाप ...	२६५। १
उपशम सम्यक्त्व	२४१। ७	जीवसमाप्तकी विशेषता ...	२६९।२७
पाच लक्ष्य ...	२४१।२२	शीस भेदोंकी योजना ...	२७०।११
सम्यक्त्व प्रहणके योग्य जीव	२४२। ६	आवश्यक नियम ...	२७०।२९
सम्यक्त्वमार्गणाके द्वारे भेद	२४२।२७	गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप ...	२७२। १
सम्यक्त्वमार्गणामें जीवसंख्या	२४४। १	शीस भेदोंके जानेका उपाय ...	२७२।२१
संकीर्ण मार्गणा अ-१८		अंतिम आशीर्वाद ...	२७३।१८
संकीर्ण असंक्षिप्त का स्वरूप ...	२४५। १		

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालादारा प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ पुरुषार्थसिद्धवृपाय भाषाटीका यह श्रोतुभृतचन्द्रत्वामी निरचित प्रसिद्ध शास्त्र है। इसमें आचार-संबन्धी बडे २ गृह रहस्य हैं। विशेष कर हिंसका स्वरूप बहुत खूबीकैसाथ दरसाया गया है। यद् एक वार लपकर विकागयाथा इसकारण फिरसे संशोधन करके दूसरीवार छपाया गया है। न्यों, १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृत. भा. टी. यह श्रीकुण्डकुण्डार्यकृत मूल और श्रीभृतचन्द्रसूरीकृत संस्कृतीकासहित पहले छाया था। अबकी वार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने तनाई है अर्थकी सरलताकोलिये लगादी गई है। तथा पहली संस्कृतीको सुम अक्षरोंको मोटा करादिया है और गायामूर्ती व विषयसूची भी देखेनकी सुगमताको लिये लगादी हैं। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया गया है। इसकी भाषा शीका स्थगीय पाठि हेमराजकी भाषाटीकाके अनुसार नवीन सुरल भाषाटीकामें परिवर्तन कीगई है। इसपर भी न्यों, २ रु.

३ ह्यानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमताए किया है। प्रकरणवश ब्रह्मवैद्यत्रवत्का वर्णन भी बहुत दिखलाया है। यह एकवार छपकर विकागया था अब द्वितीयवार संशोधन करके छपाया गया है। न्यों, ४ रु.

४ सप्तभङ्गीतरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें प्रथकर्ता श्रीविमलदासजीने स्यादस्ति, स्याशास्ति आदि सप्तभङ्गी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वादमत कदा है यह जानेकोलिये यह प्रथ अवश्य पढ़ना चाहिये। इसकी पहली आवृत्तिमें की एक भी प्रति नहीं रही अब दूसरी आवृत्ति शीघ्र छपकर प्रकाशित होगी। न्यों, १ रु.

५ बृहद्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृतीका तथा उत्तर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है। इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप अतिश्पृशीतिसे दिखाया गया है। न्यों, २ रु.

६ द्रव्यानुयोगतर्कणा इस प्रथमें शास्त्रकार श्रीमङ्गोजसागरजीने सुगमतासे मन्दबुद्धियोंको द्रव्य-ज्ञान होनेकोलिये 'अथ, "गुणपर्यवद्व्यम्" इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति' आदि सप्तभङ्गोंका और दिगंबराचार्यवर्य श्रीदेववेदस्वामीविनाचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है। न्यों, २ रु.

७ सभाध्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वाध्याधिगम मोक्षशास्त्र भी है। जैनियोंका यह परममान्य और मुख्य प्रन्थ है। इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्ताति (मी) जैन बहे लाघवसे संप्रह किये हैं। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूतोंमें गर्भित न हो। सिद्धान्तशास्त्रशो एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थसूत्री बट्टमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगामीर्थको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है। न्यों, २ रु.

८ स्याद्वादमञ्जीरी संस्कृत भा. टी. इसमें छह मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्वर्य श्रीम-श्रिष्णेशसूरीजीने स्याद्वादको पूर्णरूपसे खिद किया है। न्यों, ४ रु.

९ गोम्मटसार (कर्मकाळ) संस्कृताया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित। यह महान् प्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यविद्वान्ततत्त्वकृतोंका बनाया हुआ है, इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा

कर्मका स्वरूप हतना विस्तारसे है कि वचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसे ही मालूम होसकता है। और जो कुछ संसारका जगत है वह इन्हीं दोनों (जीव-कर्म) के संबन्धसे है सो इन दोनोंका स्वरूप दिखा-नेकेलिये अर्थात् सूर्य है । न्यों, २ रु.

१० प्रवचनार——प्रीभृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., “ जो कि यूनिवर्सिटीके कोर्समें दखिल है ” तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तत्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालाकबोधिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है इसके मूलकर्ता श्रीकुण्डकुन्दाचार्य है । यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है । न्यों, ३ रु.

११ मोक्षमाटा—कर्ता मरुम सतावधानी कवी श्रीमद्राजनंद छे. आ एक स्थाद्वाद तत्त्वावधेय-धृक्षनुं बीज छे. आ ग्रन्थ तत्त्व पामवानी जिज्ञासा उत्पन्न करीशके एवं एमा कंड अंशे पण दैवत रहुं छे. आ पुस्तक प्रसिद्ध करवानों मुहूर्ते हेतु उछरता बाल युवानी अविवेकी विद्या पामी जे आत्मसिद्धीय भ्रष्ट थाय छे ते प्रष्टाता अटकाववानों छे. आ मोक्षमाटा मोक्षमेववानों कारण रूप छे. आ पुस्तकनी बे बे आवृत्तिओं खलास थइ गइछे अने प्राहोकों बहोढी मागणी थी आ त्रीजी आवृत्ति छपावी छे. कीमत आना बार.

१२ भावनाबोध——आ ग्रन्थना कर्ता पण उक्त महापुरुष छे. वैराग्य ए आ ग्रन्थनो मुहूर्विषय छे. प्रात्रता पामवानुं अने क्षयायमल दूर करवानुं आ ग्रन्थ उत्तम साधन छे. आत्मगवेषिबोने आ ग्रन्थ आनंदोळास आपनार छे. आ ग्रन्थनी पण बे आवृत्तिओं खपी जवाथी अने प्राहोकों बहोढी मागणी थी आ त्रीजी आवृत्ति छपावी छे. कीमत आना चार. आवेने प्रन्थो गुजराती भाषामां अने बालबोध टाइपमां छपावेल छे.

१३ परमात्मप्रकाश——यह ग्रन्थ श्रीयोगीदेव रचित प्राकृतदोहाणोंमें है इसकी संस्कृताका श्रीविद्वादेवकृत है तथा भाषाटीका ५० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन प्रचलित हिंदीभाषा अन्वयार्थ भावार्थ पृथक् करके बनाई गई है । इसतरह दो टीकाओं सहित छपगया है । ये अध्यात्मग्रन्थ निष्ठ-यमोक्षमार्थका साधक होनेसे बहुत उपयोगी है । न्यों ३ रु.

१४ घोडशकप्रकरण——यह ग्रन्थ श्रेताम्बराचार्य श्रीमद्विभद्रसूरिका बनाया हुआ संस्कृत भार्या छन्दोंमें है. इसमें सोलह धमोंपदेशके प्रकरण हैं । इसका संस्कृत टीका तथा हिंदीभाषाटीका सहित प्रकाशन होरहा है । एक वर्षमें लगभग तयार होजायगा ।

१५ लघिधसार (क्षणासार सहित)——यह ग्रन्थ भी श्रीनेमिचंद्राचार्य सिद्धात चक्रवर्तीका बनाया हुआ है और गोमटसारका परिचिष्ट भाग है । इसीसे गोमटसारक स्वाध्याय करनेकी सफलता होती है । इसमें मोक्षका मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेकी पाच लघिधयोंका वर्णन है फिर सम्यक्त्व होनेके बाद कर्मोंके नाश होनेका बहुत अच्छा क्रम बतलाया गया है कि भव्यजीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूट अनेंत सुखको प्राप्त होकर अविनाशी पदको पासकरते हैं । यह भी मूल गाथा आया तथा संक्षिप्त भाषाटीका सहित छपाया जा रहा है । छह महीनेके लगभग तयार होजायगा ।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्थानाभावसे लिख नहीं सकते । और यह सेस्था किसी स्वार्थकोलिये नहीं है केवल परीपाकरकेवास्ते है । जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उलमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते लगाया जाता है ॥ इति शम् ॥

प्रयोक्ते मिलनेका पता—

शा० रेवाशंकर जगजीविन जोंहरी

ओंनैरैरी व्यवस्थापक श्रीपरमशुत्रप्रभावकमंडल

जोंहरी बाजार खाराकुबा पो० नं० २ बंदूई ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।



श्रीमन्मिचन्द्राय नमः ।

अथ छायाभाषाटीकोपेतः

गोम्मटसारः ।



जीवकाण्डम् ।

अथ श्रीनेमिचन्द्र सैद्धान्तिकचक्रवर्ती गोम्मटसार ग्रन्थके लिखनेके पूर्व ही निर्विघ्न समाप्ति नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालनं और उपकारस्मरण—इन चार प्रयोजनोंसे इष्टदेवको नमस्कार करते हुए इस ग्रन्थमें जो कुछ वक्तव्य है उसकी “सिद्धं” इत्यादि गाथासूत्रद्वारा प्रतिज्ञा करते हैं:—

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिन्द्रवरणेमिचन्द्रमकलंकं ।

गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूदणं वोच्छं ॥ १ ॥

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रमकलङ्कम् ।

गुणरक्तभूषणोदयं जीवस्य प्रस्तुपणं वश्ये ॥ १ ॥

अर्थ—जो सिद्ध अवस्था अथवा स्वात्मोपलब्धिको प्राप्त हो चुका है, अथवा न्यायके अनेक प्रमाणोंसे जिसकी सत्ता सिद्ध है, और जो चार धातिया—द्रव्यकर्मके अभावसे शुद्ध, और मिथ्यात्वादि भावकर्मोंके नाशसे अकलङ्क हो चुका है, और जिसके हमेशाही सम्यकत्वादि गुणरूपी रक्तोंके भूषणोंका उदय रहता है, इस प्रकारके श्रीजिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रस्वामीको नमस्कार करके, जो उपदेशद्वारा पूर्वोत्तर्य परम्परासे चला आरहा है इस लिये सिद्ध, और पूर्वोपर विरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध, और दूसरेकी निन्दा आदि न करनेके कारण तथा रागादिका उत्पादक न होनेसे निकलङ्क है, और जिससे सम्यकत्वादि गुणरूपी रक्तभूषणोंकी प्राप्ति होती है—जो विकथा आदिकी तरह रागका कारण नहीं है इस प्रकारके जीवप्रस्तुपण नामक ग्रन्थको अर्थात् जिसमें अशुद्ध जीवके स्वरूप भेद प्रभेद आदि दिखलाये हैं इस प्रकारके ग्रन्थको कहूँ गा ।

इस प्रकार नमस्कार और विवक्षित प्रंगकी प्रतिज्ञा कर इस जीवकाण्डमें जितने अधिकारोंके द्वारा जीवका वर्णन करेगे उनके नाम और संस्था दिखाते हैं।

**गुणजीवा पञ्चनी पाणा सण्णाय मग्गणाओ य ।
उबओगोवि य कमसो वीसं तु परूपणा भणिदा ॥ २ ॥**

गुणजीवा: पर्याप्तयः प्राणः संज्ञाश्च मार्गणाश्च ।

उपयोगोपि च क्रमशः विंशतिस्तु प्रलूपण भणितः ॥ ३ ॥

अर्थ—गुणस्थान, जीवसमाप्त, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोग इस प्रकार ये वीस प्रलूपणा पूर्वाचार्योंने कही हैं। भावार्थ इनहींके द्वारा आगे जीवद्रव्यका निरूपण किया जायगा। इसलिये इनका लक्षण यद्यपि अपने अपने अधिकारमें स्वयं आचार्य कहेंगे तथापि यहांपर संखेपसे इनका लक्षण कहदेना भी उन्नित है। मोह और योगके निमित्तसे होनेवाली आत्माके सम्यदर्शन, सम्यज्ञान सम्यक्त्वारित्रगुणोंकी अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। जिन सदृशवर्मोंके द्वारा अनेक जीवोंका सङ्क्रह किया जासके उन सदृशवर्मोंका नाम जीवसमाप्त है। शक्तिविशेषकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। जिनका संयोग रहनेपर जीवमें 'यह जीता है' और वियोग होनेपर 'यह मरगया', ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। आहारादिकी बाढ़ोंको संज्ञा कहते हैं। जिनके द्वारा अनेक अवस्थाओंमें स्थित जीवोंका ज्ञान हो उनको मार्गणा कहते हैं। बाह्य तथा अस्त्वितर कारणोंके द्वारा होनेवाली आत्माके चेतना गुणकी परिणतिको उपयोग कहते हैं।

उक्त वीस प्रलूपणाओंका अन्तर्भाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्रलूपणाओंमेंही हो सकता है, इस कथनके पूर्व दोनों प्रलूपणाओंकी उत्पत्तिका निमित्त तथा उनके पर्यायवाचक शब्दोंको दिखाते हैं।

संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।

वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्भभवा ॥ ३ ॥

संखेप ओघ इति गुणसंज्ञा सा च मोहयोगभवा ।

विस्तार आदेश इति च मार्गणसंज्ञा स्वर्कम्भभवा ॥ ३ ॥

अर्थ—संखेप और ओघ यह गुणस्थानकी संज्ञा है और वह मोह तथा योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है, इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणाकी संज्ञा है और यह भी अपने २ कर्मोंके उदयादिसे उत्पन्न होती है। यहांपर चकारका ग्रहण किया है इससे गुणस्थानकी सामान्य और मार्गणाकी विवेष यह भी संज्ञा समझना। यहांपर यह शङ्का हो सकती है कि मोह तथा योगके निमित्तसे गुणस्थान उत्पन्न होते हैं, नकि 'गुणस्थान'

^१ नामके एकदेशसे भी सम्पूर्ण नाम समझा जाता है इस लिये गुणस्थान और जीवसम्बद्धसे जीवसमाप्त समझना।

यह संज्ञा; फिर संज्ञाको मोहयोगभवा (मोह और योगसे उत्पन्न) . को कहा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थसे मोह और योगके द्वारा गुणस्थान ही उत्पन्न होते हैं न कि गुणस्थानसंज्ञा, तथापि यहांपर वाच्यवाचकमें कथंचित् अभेदको मानकर उपचारसे संज्ञाको भी मोहयोगभवा कहा है ।

उत्तर वीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भूव दो प्ररूपणाओंमें किस अपेक्षासे हो सकता है और वीसप्ररूपणा किस अपेक्षासे कही हैं यह दिखाते हैं ।

आदेशे सर्लीपा जीवा पञ्चिपाणसण्णाओ ।

उबओगोवि य भेदे वीसं तु परुबणा भणिदा ॥ ४ ॥

आदेशे संलीना जीवाः पर्यास्तिप्राणसंज्ञाश्च ।

उपयोगोपि च भेदे विवशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ ४ ॥

अर्थ—मार्गणाओंमें ही जीवसमाप्त, पर्यासि, प्राण, संज्ञा और उपयोग इनका अन्तर्भूव हो सकता है, इस लिये अभेद विवशासे गुणस्थान और मार्गणा ये दो प्ररूपणा ही माननी चाहिये; वीस प्ररूपणा जो कही हैं वे भेद विवशासे हैं ।

किस मार्गणामें कौन २ प्ररूपणा अन्तर्भूत हो सकती हैं यह बात तीन गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

इन्द्रियकाये लीणा जीवा पञ्चिआणभासमणो ।

जोगे काओ णाणे अक्खा गदिमगणे आऊ ॥ ५ ॥

इन्द्रियकाययोर्लीना जीवाः पर्याप्त्यानभाषामनांसि ।

योगे कायः ज्ञाने अक्षीणि गतिमार्गणायामायुः ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रियमार्गणामें तथा कायमार्गणामें स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा, अथवा सामान्यविशेषकी अपेक्षा जीवसमाप्तका अन्तर्भूव हो सकता है; क्योंकि इन्द्रिय तथा काय जीवसमाप्तके स्वरूप हैं और जीवसमाप्त स्वरूपवान् हैं । तथा इन्द्रिय और काय विशेष हैं जीवसमाप्त सामान्य है । इसीप्रकार धर्मधर्मिं सम्बन्धकी अपेक्षा पर्यासि भी अन्तर्भूत हो सकती है, क्योंकि इन्द्रिय धर्मी हैं और पर्यासि धर्मी है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनबल प्राण, तथा मनोबलप्राणका, पर्यासिमें अन्तर्भूव हो सकता है; क्योंकि प्राण कार्य है और पर्यासि कारण है । कायबल प्राण विशेष है और योग सामान्य है इसलिये सामान्यविशेषकी अपेक्षा योगमार्गणामें कायबलप्राण अन्तर्भूत हो सकता है । कार्यकारण सम्बन्धकी अपेक्षासे ही ज्ञानमार्गणामें इन्द्रियोंका अन्तर्भूव हो सकता है । क्योंकि ज्ञानकार्यके प्रति लैंडीन्द्रिय कारण हैं । इसीप्रकार गतिमार्गणामें आयुप्राणका अन्तर्भूव साहचर्यसम्बन्धकी अपेक्षा हो सकता है, क्योंकि इन दोनोंका उदय सायही होता है ।

१ इन्द्रियहानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न निर्मलता ।

संज्ञाओंका अन्तर्भूत किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं ।

मायालोहे रदिषुव्वाहारं कोहमाणगद्धि भयं ।

वेदे मेहुणसण्णा लोहद्धि परिगगहे सण्णा ॥ ६ ॥

मायालोभयो रतिपूर्वकमाहारं कोधमानकयोर्भयम् ।

वेदे मैथुनसंज्ञा लोभे परिग्रहे संज्ञा ॥ ६ ॥

अर्थ—रतिपूर्वक आहार अर्थात् आहारसंज्ञा रागविशेष होनेसे रागका स्वरूपही है और माया तथा लोभकषाय दोनोंही स्वरूपवान् हैं इसलिये स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा माया और लोभकषायमें आहारसंज्ञाका अन्तर्भूत होता है । इसीप्रकार (स्वरूपस्वरूपवत्स-म्बन्धकी अपेक्षा) क्रोध तथा मानकषायमें भयसंज्ञाका अन्तर्भूत होता है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा वेदकषायमें मैथुनसंज्ञाका और लोभकषायमें परिग्रहसंज्ञाका अन्तर्भूत होता है; क्योंकि वेदकषाय तथा लोभकषाय कारण हैं और मैथुनसंज्ञा तथा परिग्रहसंज्ञा कार्य हैं ।

उपयोगका अन्तर्भूत दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सागारो उबजोगो णाणे मग्गद्धि दंसणे मग्गे ।

अणगारो उबजोगो लीणोन्ति जिणोहिं णिहिंदुं ॥ ७ ॥

साकार उपयोगो ज्ञानमार्गाणां दर्शनमार्गाणायाम् ।

अनाकार उपयोगो लीन इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उपयोग दो प्रकारका होता है एक साकार दूसरा अनाकार । साकार उपयोग उसको कहते हैं जिसमें पदार्थ ‘यह चट है, यह पट है’ इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिभासित हों । इसीको ज्ञान कहते हैं । इसलिये इसका ज्ञानमार्गाणमें अन्तर्भूत होता है । जिसमें कोई भी विशेष पदार्थ प्रतिभासित न होकर केवल महासत्ताही विषय हो उसको अनाकार उपयोग तथा दर्शन कहते हैं । इसका दर्शनमार्गाणमें अन्तर्भूत होता है ।

यद्यपि यहांपर ऊपर सब जगह अभेद विवक्षासे दो ही प्रस्तुपणाओंमें शेष प्रस्तुपणाओंका अन्तर्भूत दिखलादिया है तथापि आगे प्रत्येक प्रस्तुपणाका निरूपण भेदविवक्षासे ही कोंगे ।

प्रतिज्ञाके अनुसार प्रथम कमप्राप्त गुणस्थानका सामान्य लक्षण करते हैं ।

जेहिं दु लक्ष्मज्जंते उद्यादिसु संभवेहिं भावेहिं ।

जीवा ते गुणसण्णा णिहिंडा सञ्चवदरसीहिं ॥ ८ ॥

यैस्तु लक्ष्यन्ते उद्यादिषु सम्भवैर्भवैः ।

जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—दर्शनमेहनीयादि कर्मोंकी उद्य, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाके

होनेपर होनेवाले जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणस्थानवाला और परिणामोंको गुणस्थान कहा है ।

मात्रार्थः—जिस प्रकार किसी जीवके दर्शन मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीवको मिथ्यादृष्टि और उन परिणामोंको मिथ्यात्व गुणस्थान कहेंगे ।

गुणस्थानोंके १४ चौदह भेद हैं । उनके नाम दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।

विरदा प्रमत्त इदरो अपुब्व अणियदु सुहमो य ॥ ९ ॥

१ मिथ्यात्वं २ सासनः ३ मिश्रः ४ अविरतसम्यक्त्वं च ५ देशविरतश्च ।

विरताः ६ प्रमत्तः ७ इतरः ८ अपूर्वः ९ अनिवृत्तिः १० सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्वादित, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय । इस सूत्रमें चैथे गुणस्थानके साथ अविरतशब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्वके तीन गुणस्थानोंमेंपी अविरतपना समझना चाहिये । तथा छठे गुणस्थानके साथका विरत शब्द आदि दीपक है इस लिये यहांसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं ऐसा समझना ।

उबसंत स्त्रीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।

चउदस जीवसमासा क्रमेण सिद्धा य णाद्ववा ॥ १० ॥

११ उपशान्तः, १२ क्षीणमोहः, १३ संयोगकेवलिजिनः, १४ अयोगी च ।

चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ १० ॥

अर्थ—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवलिजिन, अयोगकेवली ये १४ चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं । और सिद्ध जीवसमासोंसे रहित हैं । अर्थात् इस सूत्रमें क्रमेण शब्द जो पड़ा है उससे यह सूचित होता है कि जीवसमान्यके दो भेद हैं, एक संसारी दूसरा मुक्त । मुक्तअवस्था संसारपूर्वक ही होती है । संसारियोंके गुणस्थानकी अपेक्षा चौदह भेद हैं । इसके अनन्तर क्रमसे गुणस्थानोंसे रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है । इस गाथामें संयोग शब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्वके मिथ्यादृष्टचार्य सबही गुणस्थानवर्ती जीव योगसहित होते हैं । और जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयतसम्यक्त्वादिसे लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं । केवल शब्द आदिदीपक है इसलिये संयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है ।

इस प्रकार सामान्यसे गुणस्थानोंका निर्देशकर अब प्रत्येक गुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनका उल्लेख करते हैं ।

मिच्छे खलु ओदहओ विदिये पुण पारणामिओ भावो ।

मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्महि तिणेव ॥ ११ ॥

मिथ्यात्वे खलु औदयिको द्वितीये पुनः पारणामिको भावः ।

मिश्रे क्षायोपशमिकः अविरतसम्बन्धत्वे त्रय एव ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमें औदयिक भाव होते हैं । और द्वितीय गुणस्थानमें पारणामिक भाव होते हैं । मिश्रमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं । और चतुर्थ गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इस प्रकार तीनोंही भाव होते हैं ।

कर्मके उदयसे जो आत्माके परिणाम हों उनको औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उपशम होनेसे भाव होते हैं उनको औपशमिक भाव कहते हैं । सर्वशतिस्पर्धकोंके वर्तमान निषेकोंके बिना फल दिये ही निर्जरा होनेपर और उसीके (सर्वशतिस्पर्धकोंके) आगामिनिषेकोंका सद्वस्थारूप उपशम होनेपर देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जिनमें कर्मके उदय उपशमादिकी कुछ भी अपेक्षा न हो उनको पारणामिक भाव कहते हैं ।

उक्त चारों ही गुणस्थानके भाव किस अपेक्षासे कहे हैं उसको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

एदे भावा पियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु ।

चारित्तं णत्यि जदो अविरद्भन्तेसु ठणेसु ॥ १२ ॥

ऐसे भावा नियमा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिताः खलु ।

चारित्रं नास्ति यतो अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टचारित्रगुणस्थानोंमें जो नियमवद्ध औदयिकादि भाव कहे हैं वे दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षासे हैं; क्योंकि चतुर्थगुणस्थानपर्यन्त चारित्र नहीं होता । अर्थात् मिथ्यादृष्टचारि गुणस्थानोंमें यदि सामान्यसे देखा जाय तो केवल औदयिकादि भाव ही नहीं होते किन्तु क्षायोपशमिकादि भाव भी होते हैं तथापि यदि केवल दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षा देखा जाय तो औदयिकादि भाव ही होते हैं; क्योंकि प्रथमगुणस्थानमें दर्शनमोहनीय-कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमात्रकी अपेक्षा है इसलिये औदयिक भाव ही हैं । द्वितीयगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा ही नहीं है इसलिये पारणामिकभाव हैं । तृतीयगुणस्थानमें जात्यन्तर सर्वशति मिथ्यप्रकृतिका उदय है इसलिये क्षायोपशमिक भाव होते हैं । इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम क्षय क्षयोपशम तीनोंका सम्भाव है इसलिये तीनों ही प्रकारके भाव होते हैं ।

पश्चमादिगुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनको दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

देशविरदे प्रमत्ते इदरे य स्वओबसमियभावो दु ।

सो स्वलु चरित्रमोहं पहुच्च भणियं तहा उवाँरे ॥ १३ ॥

देशविरते प्रमत्ते इतरे च क्षायोपशमिकभावस्तु ।

स स्वलु चारित्रमोहं प्रतीत्य भणितस्था उपरि ॥ १३ ॥

अर्थ—देशविरत प्रमत्त अप्रमत्त इन गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव होते हैं । तथा इनके आगे अपूर्वकरणादि गुणस्थानोंमें भी चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ही भावोंको कहेंगे ।

तत्तो उवर्दिं उवसमभावो उवसामगेसु स्वबगेसु ।

खद्धो भावो णियमा अजोगिचरिमोत्ति सिद्धे य ॥ १४ ॥

तत उपरि उपशमभावः उपशमकेषु क्षपकेषु ।

क्षायिको भावो नियमात् अयोगिचरिम इति सिद्धे च ॥ १४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानके ऊपर उपशमश्रेणिवाले आठवें नौवें दशवें गुणस्थानमें तथा ग्यारहवेंमें औपशमिकभाव ही होते हैं, इसीप्रकार क्षपकश्रेणिवाले उक्त तीन गुणस्थान तथा क्षीणमोह, सयोगकेवली अयोगकेवली गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके नियमसे क्षायिक भाव ही होते हैं । क्योंकि उपशम श्रेणीवाला तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीय कर्मकी इकीस प्रकृतियोंका उपशम करता है और ग्यारहवेंमें सम्पूर्ण चारित्रमोहनीयका उपशम करनुकृता है इसलिये यहांपर औपशमिक भाव ही होते हैं । इसीतरह क्षपकश्रेणिवाला इकीस प्रकृतियोंका क्षय करता है और क्षीणमोह, सयोगी, अयोगी और सिद्ध यहांपर क्षय होनुका है इसलिये क्षायिक भाव ही होते हैं ।

इसप्रकार संक्षेपसे सम्पूर्ण गुणस्थानोंमें होनेवाले भाव और उनके नियमित्तको दिखाकर गुणस्थानोंका लक्षण अब क्रमप्राप्त है, इसलिये पहले प्रथमगुणस्थानका लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं ।

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्वहणं तु तत्त्वात्त्वाणं ।

प्रयंतं विवरीयं विणयं संसायद्यमण्णाणं ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानाम् ।

एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥ १६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं । इसके पांच भेद हैं एकान्त विपरीत विनय संशयित अज्ञान । अनेक धर्मात्मक पदार्थको किसी एक धर्मात्मक मानना इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिकही है, अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही है, अवक्तव्य ही है इत्यादि ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायाम्

धर्मादिकके स्वरूपको विपर्ययरूप मानना इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे हिंसासे स्वर्गादिककी प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु तथा उनके कहे हुए शाखोंमें समान बुद्धि रख-नेको विनयमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जिन और बुद्ध तथा उनके धर्मको समान समझना।

समीक्षीन तथा असमीक्षीन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसी भी एकका निश्चय न होना इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे सग्रन्थ लिङ्ग मोक्षका साधन है या निर्ग्रन्थ लिङ्ग, अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्षका साधन है अथवा यागादि कर्म, तथा कर्मोंके सर्वथा अभावसे अनन्तगुणविशिष्ट आत्माकी शुद्ध अवस्थाविशेषको मोक्ष कहते हैं यद्वा बुद्धि आदि विशेषगुणोंके अभावको मोक्ष कहते हैं।

जीवादि पदार्थोंको “यही है” “इसी प्रकार है” इस तरह विशेषरूपसे न समझनेको अज्ञानमिथ्यात्व कहते हैं।

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यात्वके ये पांच भेद हैं विस्तारसे असंख्यातलोकप्रमाणतक भेद हो सकते हैं।

उक्त मिथ्यात्वके पांच भेदोंके वृद्धान्तोंको दिखाते हैं।

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बह्य तावसो विणओ ।

इन्दो विय संसइयो मकडियो चेव अण्णाणी ॥ १६ ॥

एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः ।

इन्द्रोपि च संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ॥ १६ ॥

अर्थ—ये केवल दृष्टान्तमात्र हैं इसलिये प्रत्येकके साथ आदि शब्द लगालेना चाहिये। अर्थात् बौद्धादिमतवाले एकान्तमिथ्यादृष्टि हैं। याज्ञिक ब्राह्मणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं। तापसादि विनयमिथ्यादृष्टि हैं। इन्द्रनामक श्वेताम्बर गुरु प्रभूति संशयमिथ्यादृष्टि हैं। और मस्करी आदिक अज्ञानी हैं।

उक्त मिथ्यात्वके लक्षणको दूसरे प्रकारसे कहते हैं।

मिच्छुंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।

ण य धर्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

मिथ्यात्वं विद्न् जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।

न च धर्मं रोचते हि मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः ॥ १७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पत्त होनेवाले मिथ्या परिणामोंका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाल हो जाता है। उसको जिसप्रकार वित्तज्वरसे युक्त जीवको मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता उस ही प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है। मावार्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जो जीव देवगुरुशास्त्रके यथार्थ स्वरूपका

श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता है उसके मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यहांपर जो च शब्द डाला है उससे यह अभिप्राय समझना चाहिये कि यदि कोई जीव बाहरसे सम्पर्क-टिके समान आचरण करे और अन्तरङ्गसे उसके विपरीत परिणाम हों तो वह यथार्थमें मिथ्यादृष्टि ही है।

इस अर्थके दृढ़ करनेके लिये ही मिथ्यादृष्टिके बाह्य चिह्नोंको दिखाते हैं।

मिच्छाइडुर्गी जीवो उबडुर्गुं पवयणं ण सहहदि ।

सहहदि असद्भावं उबडुर्गं वा अणुबडुर्गं ॥ १८ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्ट प्रवचनं न श्रद्धाति ।

श्रद्धाति असद्भावमुपदिष्टं वाऽनुपदिष्टम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव समीक्षीन गुरुओंके पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रंहित और हितके करनेवाले भी वचनका यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु आचार्याभासेकेद्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका इच्छानुसार श्रद्धान करता है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानका स्वरूप, उसके भेद, और उनके दृष्टान्त, तथा बाह्य चिह्नोंको दिखाकर अब दूसरे सासादन गुणस्थानको कहते हैं।

आदिमसम्भन्द्वा समयादो छावलिति वा सेसे ।

अणअणवरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्षो सो ॥ १९ ॥

आदिमसम्यक्त्वाद्वा आसमयतः षडावलिति वा शेषे ।

अनान्यतरोदयात् नाशितसम्यक्त्वं इति सासनात्यः सः ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अथवा यहांपर वा शब्दका व्रहण किया है इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्मात्र कालमेंसे जब जन्धन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने कालमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसीके भी उदयसे सम्यक्त्वकी विराधना होनेपर सम्यदर्शनगुणकी जो अव्यक्त अतस्त्रद्धानरूप परिणति होती है उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

अब इस गुणस्थानको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

सम्भन्दयणपव्यसिहरादो मिच्छभूमिसमभिष्ठुहो ।

णासियसम्भतो सो सासणामो मुणेयद्वो ॥ २० ॥

सम्यक्त्वरूपवर्तशिखरात् मिथ्यात्वभूमिसमभिष्ठुलः ।

नाशितसम्यक्त्वः सः सासनामा मन्तव्यः ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यक्त्वरूपी रूपवर्तके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यावरूप भूमिके सम्मुख

हो जुका है, अत एव जिसने सम्यकत्वकी विराधना (नाश) करदी है और मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं किया है उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं । भावार्थ-जिसप्रकार पर्वतसे गिरनेपर और भूमिपर पहुंचनेके पहले मध्यका जो काल है वह न पर्वतपर ठहरनेकाही है और न भूमिपर ही ठहरनेका है; किन्तु अनुभय काल है । इसी प्रकार अनन्तानुचन्ती कथायमें से किसी एकके उदय होनेसे सम्यकत्वपरिणामोंके छूटनेपर, और मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय न होनेसे मिथ्यात्व परिणामोंके न होनेपर मध्यके अनुभयकालमें जो परिणाम होते हैं उनको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं । यहापर जो सम्यकत्वको रखर्पतकी उपमा दी है उसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार रखर्पत अनेक रङ्गोंका उत्पन्न करनेवाला और उत्तरस्थान पर पहुंचानेवाला है उसही प्रकार सम्यकत्व भी सम्यज्ञानादि अनेक गुणरङ्गोंको उत्पन्न करनेवाला है और सबसे उत्तम भोक्षस्थानपर पहुंचानेवाला है ।

कमप्राप्त तृतीयगुणस्थानका लक्षण करते हैं ।

सम्मामिच्छुदयेण य जन्तंतरसवघादिकज्ञेण ।

य य सम्भं मिच्छुं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

सम्यमिथ्यात्मदयेन च जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण ।

न च सम्यकत्वं मिथ्यात्वमपि च सम्मिश्रो भवति परिणामः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्माके गुणको सर्वथा धातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोंसे विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यमिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यकत्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं । (शङ्का) यह तीसरा गुणस्थान वन नहीं सकता; क्योंकि मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकते । यदि विरुद्ध दो प्रकारके परिणाम एकही आत्मा और एकही कालमें माने जाय तो शीतउषणकी तरह परस्पर सहावस्थान लक्षण विरोध दोष आवेदा । यदि क्रमसे दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति मानीजाय तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता । (समाधान) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मित्रामित्रन्यायसे एककाल और एकही आत्मामें मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं । भावार्थ-जिसप्रकार देवदत्तनामक किसी मनुष्यमें यज्ञदत्तकी अपेक्षा मित्रपना और चैत्रकी अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एकही कालमें रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है । उस ही प्रकार सर्वं निरूपित पदार्थके स्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभासकायित अतन्त्रवश्रद्धानभी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मामें घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं हैं ।

उक्त अर्थको ही दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

वहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेष कारिदुं सकं ।

एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्तिणादध्वो ॥ २२ ॥

दधिगुडमिव व्यामिश्रं पृथग्भावं नैव कर्तु शक्यम् ।

एवं मिश्रकभावः सम्यग्मिश्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ——जिसप्रकार दही और गुडको परस्पर इस तरहसे मिलनेपर कि फिर उन दोनोंको पृथक् २ नहीं करसकें, उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है। उस ही प्रकार मिश्रपरिणामोंमें भी एकही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं ऐसा समझना चाहिये।

इस गुणस्थानमें होनेवाली विशेषताको दिखाते हैं ।

सो संजमं ण गिणहदि देसजमं वा ण बंधदे आउँ ।

सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥ २३ ॥

संयमं न गृह्णाति देशयमं वा न ब्रह्माति आयुः ।

सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य मियते नियमेन ॥ २३ ॥

अर्थ——तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देशसंयमको ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थानमें आयुर्कर्मका बन्ध ही होता है। तथा इस गुणस्थानवाला जीव यदि मरण करता है तो नियमसे सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोंको प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता।

उक्त अर्थको और भी स्पष्ट करते हैं ।

सम्मत्तमिच्छपरिणामेषु जहिं आउगं पुरा बद्ध ।

तहिं मरणं मरणंतसमुद्धादो वि य ण मिस्समिम ॥ २४ ॥

सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिणामेषु यत्रायुष्कं पुरा बद्धम् ।

तत्र मरणं मारणान्तसमुद्धातोपि च न मिश्रे ॥ २४ ॥

अर्थ——तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवने तृतीयगुणस्थानको प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूपके परिणामोंमेंसे जिस जातिके परिणाम कालमें आयुर्कर्मका बन्ध किया हो उस ही तरहके परिणामोंके होने पर उसका मरण होता है, किन्तु मिथ्रगुणस्थानमें मरण नहीं होता। और न इस गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्धात ही होता है।

१ घूल शरीरको बिना छोड़े ही आत्माके प्रदेशोंका बाहिर निकलना इसको समुद्धात कहते हैं। उसके सात भेद हैं—देवदा कथाय वैक्यकार मारणान्तिक तैजस आदार और केवल। मरणसे पूर्व समयमें होनेवाले समुद्धातको मारणान्तिक समुद्धात कहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थानका लक्षण बताने के पूर्व उसमें होनेवाले सम्पदर्शन के औपशमिक क्षायिक क्षयोपशमिक इन तीन भेदोंमें प्रथम क्षयोपशमिकका लक्षण करते हैं।

सम्पत्तवेसधादिस्मुदयादो वेदगं हवे सम्मं ।

चलमलिनमगादं तं णिञ्च कम्मक्खवणहेतु ॥ २५ ॥

सम्पदक्तवेदशात्तरेतरुदयादेवदं भवेत्सम्पत्तवत्तम् ।

चलं मलिनमगादं तत्रित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ २९ ॥

अर्थ—सम्पदर्शनगुणको विपरीत करनेवाली प्रकृतियोंमें देशवाति सम्पदक्तव प्रकृतिके उदय होने पर (तथा अनन्तानुवन्निव चतुर्थ और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्ववाति प्रकृतियोंके आगामि निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी विना फल दिये ही निर्जरा होनेपर) जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षयोपशमिक सम्पदर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जगन्य अन्तर्मुद्दर्त्तसे लेकर उत्कृष्ट छायासठ सागरपर्यन्त कर्मोंकी निर्जराको कारण हैं।

जिसप्रकार एकही जल अनेक कलोलख्यमें परिणत होता है उसही प्रकार जो सम्पदर्शन सम्पूर्ण तीर्थकर या अहंतोर्म समान अनन्त शक्तिके होने पर भी ‘श्रीशान्तिनथजी शान्तिकलिये और श्रीआर्थनाथजी रक्षा करनेके लिये समर्थ हैं’ इस तरह नाना विषयोंमें चलयमान होता है उस को चल सम्पदर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध मुवर्ण भी मलके निर्मितसे मलिन कहा जाता है उसही तरह सम्पदक्तव प्रकृतिके उदयसे जिसमें पर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्पदर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुषके हाथमें उहरी हुई भी लाठी कांपती है उसही तरह जिस सम्पदर्शनके होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिरादिमें ‘यह मेरा मन्दिर है’ और दूसरेके बनवाये हुए मन्दिरादिमें ‘यह दूसरेका है’ ऐसा भ्रम हो उसको अगाढ़ सम्पदर्शन कहते हैं।

अब औपशमिक या क्षायिक सम्पदर्शनका लक्षण कहते हैं।

सत्त्वं ह उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।

विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

सप्तनामुपशमत उपशमसम्पत्तं क्षयात् क्षयिकं च ।

द्वितीयकषयोदयादसंयंतं भवति सम्पत्तं च ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्पदक्तव तथा चार अनन्तानुवन्नी कषय इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम और सवेचा क्षयसे क्षयिक सम्पदर्शन होता है। इस (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) सम्पदर्शन के साथ संयम बिलकुल ही नहीं होता; क्योंकि यहां पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषयका उदय है। अत एव इस गुणस्थानवर्ती जीवको असंयतसम्पदादि कहते हैं।

इस गुणस्थानमें जो कुछ विशेषता है उसको दिखाते हैं ।

सम्माइड्डी जीवो उबहद्दं पवयणं तु सद्वहदि ।

सद्वहदि असद्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥

सम्यग्दृष्टिर्णय उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्धाति ।

श्रद्धात्यसद्भावमज्ञायमानो गुरुनियोगात् ॥ २७ ॥

अर्थ——सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कलेता है । भावार्थ “ अरिहंत-देवका ऐसा ही उपदेश है ” ऐसा समझकर यदि कोई पदार्थका विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहंतका उपदेश समझकर उस पदार्थका ऐसा श्रद्धान किया है । परन्तु—

सुक्षादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्वहदि ।

सो चेव हवह भिञ्छाइड्डी जीवो तदो पहुदी ॥ २८ ॥

सूक्षात्तं सम्यक् दर्शयन्तं यदा न श्रद्धाति ।

स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्णवस्तदा प्रभृति ॥ २८ ॥

अर्थ——गणधरादिकथित सूत्रके आश्रयसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थका समीक्षीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही कालसे मिथ्यादृष्टि होजाता है । भावार्थ—आगममें दिखाकर समीक्षीन पदार्थके समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्वमें अज्ञानसे किये हुए अतत्त्वश्रद्धानको न छोड़े तो वह जीव उसही कालसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ॥

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवका और भी विशेष स्वरूप दिखाते हैं ।

णो इन्द्रियेषु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।

जो सद्वहदि जिणुन्तं सम्माइड्डी अविरदो सो ॥ २९ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्यावरे त्रसे वापि ।

यः श्रद्धाति जिनोक्तं सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ॥ २९ ॥

अर्थ——जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है । भावार्थ—संयम दो प्रकारका होता है, एक इन्द्रियसंयम दूसरा प्राणसंयम । इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होनेको इन्द्रियसंयम, और अपने तथा परके प्राणोंकी रक्षाको प्राणसंयम कहते हैं । इस गुणस्थानमें दोनों संयमोंमेंसे कोई भी संयम नहीं होता अत एव इसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं । परन्तु इस गुणस्थानमें जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि बिना प्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त भी नहीं होता ।

पंचमगुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

पञ्चकसाणुदयादो संजमभावो ण होदि पवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥

प्रत्याख्यानोदयात् संयमभावो न भवति नवर्ते तु ।

स्तोकवतो भवति ततो देशवतो भवति पञ्चमः ॥ ३० ॥

अर्थ—यहां पर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यह विशेषता है कि अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय न होनेसे देशवत होता है, अत एव इस पंचमगुणस्थानका नाम देशवत है ।

इस गुणस्थानको विरताविरत भी कहते हैं । सो क्यों ? इसकी उपपत्तिको कहते हैं ।

जो तसब्बहाउविरदो अविरदओ तहय थावरबहादो ।

एकसमयमिह जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥

यत्क्षसवधाद्विरतः अविरतस्तथा च स्थावरबधात् ।

एकसमये जीवो विरताविरतो जिनैकमतिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ त्रसकी हिंसासे विरत और उस ही समयमें स्थावरकी हिंसासे अविरत होता है उस जीवको विरताविरत कहते हैं । भावार्थ—यहां पर जिन शब्द उपलक्षण है इसलिये जिनशब्दसे जिनेन्द्रदेव, और उनके उपदेशरूप आगम, तथा उसके अनुसार चलनेवाले गुरुओंका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् जिनदेव, जिन आगम, जिनगुरुओंका श्रद्धान करनेवाला जो जीव एकही समयमें त्रस हिंसाकी अपेक्षा विरत और स्थावरहिंसाकी अपेक्षा अविरत होता है इसलिये उसको एकही समयमें विरताविरत कहते हैं । यहांपर जो तथा च शब्द पड़ा है उसका यह अभिप्राय है कि विना प्रयोजन स्थावरहिंसाको भी नहीं करता ।

छटे गुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।

मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

संज्वलननोकषायाणामुदयात्संयमो भवेयस्मात् ।

मलजननप्रमादेपि च तस्मात्खलु प्रमत्तविरतः सः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सकलसंयमको रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है; किन्तु उस संयम के साथ संज्वलन और नो कषायके उदयसे संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है, अत एव इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं ।

१ विशेषता अर्थका योतक यह अव्यय है ।

वस्त्रावत्तपमादे जो वसह पमत्तसंजदो होदि ।
सयलगुणशीलकलिओ महव्वर्द्दि चित्तलायरणो ॥ ३३ ॥

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे गो वमति प्रमत्तसंयते भवति ।

सकलगुणशीलकलितो महावती चित्रलाचरणः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो महावती सम्पूर्ण मूलगुण (२८) और शीलसे युक्त होता हुआ भी व्यक्त और अर्यक दोनों प्रकारके प्रमादोंको करता है उस प्रमत्तसंयतका आचरण चित्रलै होता है।

प्रकरणमें ग्रास प्रमादोंका वर्णन करते हैं ।

विकहा तहा कसाया इंदियाणिदा तहेव पणयोय ।
चदु चदु पणमेगेगं हाति पमादा हु पण्णरस ॥ ३४ ॥

विकासत्त्वा कषाया इन्द्रियनिद्रात्तथैव प्रणयश्च ।

चतुःचतुःपञ्चैकैं भवनिति प्रमादाः खलु पञ्चदशा ॥ ३४ ॥

अर्थ—चार विकथा (खीकथा भक्तकथा राष्ट्रकथा अवनिपालकथा) चार कषाय (क्रोध मान माया लोभ) पांच इन्द्रिय (सर्शन रसन धाण चक्षु और श्रोत्र) एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह) ये पंद्रह प्रमादोंकी संख्या है ।

अब प्रमादोंको विशेष वर्णन करनेके लिये उनके पांच प्रकारोंका वर्णन करते हैं ।

संखा तह पत्थारो परियट्टण णद्व तह समुद्दिङ् ।

एदे पंच पयारा पमदसमुकित्तणे योया ॥ ३५ ॥

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम् ।

एते पञ्च प्रकाराः प्रमादसमुक्तीर्तने ज्ञेयाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—प्रमादके विशेष वर्णनके विषयमें इन पांच प्रकारोंको समझना चाहिये । संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट । आलादोंके भेदों की गणनाको संख्या कहते हैं । संख्याके रखने या निकालनेके क्रमको प्रस्तार, और एक भेदसे दूसरे भेदपर पहुँचनेके क्रमको परिवर्तन, संख्याके द्वारा भेदके निकालनेको नष्ट, और भेदको रखकर संख्याके निकालनेको समुद्दिष्ट कहते हैं ।

संख्याकी उत्पत्तिका क्रम बताते हैं ।

सद्वेषि पुञ्चभंगा उवरिमभंगेषु एक्कमेक्केषु ।

मेलंतिति य कमसो गुणिदे उपपञ्जदे संखा ॥ ३६ ॥

१-२ जिसका स्थायं अनुभव हो उसको व्यक्त और उसेवे विपरीतको अव्यक्त प्रमाद कहते हैं ।

३ नितकबरा अर्थोद जिसमें किसी दूसरे रंगका भी सज्जाव हो । छठे गुणस्थानवर्ती मुनिका आचरण छवाययुक्त होतेसे चित्रल कहाजाता है ।

सर्वेषि पूर्वभक्ता उपरिमभज्जेषु एकैकेषु ।
मिलन्ति इति च क्रमशो गुणिते उत्पयते संख्या ॥ ३६ ॥

अर्थ—पूर्वके सब ही भज्जे आगेके प्रत्येक भज्जमें मिलते हैं, इसलिये क्रमसे गुणाकार करने पर संख्या उत्पन्न होती है। भावार्थ—पूर्वके विकथाओंके प्रमाण चारको आगंकी कथायोंके प्रमाण चारसे गुणा करना चाहिये, न्यौंकि प्रत्येक विकथा प्रत्येक कथायके साथ पाइ जाती है। इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे १६) उसको पूर्व समझकर उसके आगंकी इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करना चाहिये, न्यौंकि प्रत्येक विकथा या कथाय प्रत्येक इन्द्रियके साथ पाइ जाती है। इसके अनुसार सोलहको पांचसे गुणने पर अस्ती प्रमाणोंकी संख्या निकलती है। निदा और प्रणय ये एक ही एक हैं इसलिये इन के साथ गुणा करनेपर संख्यामें वृद्धि नहीं हो सकती।

अब प्रस्तारकमको दिखाते हैं।

पठमं पमदप्रमाणं कमेण णिकितविय उवरिमाणं च ।

पिण्डं पड़ि एककें णिकित्ते होदि पत्थरो ॥ ३७ ॥

प्रथमं प्रमादप्रमाणं कमेण निकित्प्य उपरिमाणं च ।

पिण्डं प्रति एकैकं निकिम्ब भवति प्रस्तारः ॥ ३७ ॥

अर्थ—प्रथम प्रमादके प्रमाणका विरलन कर क्रमसे निकेपण करके उसके एक एक रूपके प्रति आगेके पिण्डरूप प्रमादके प्रमाणका निकेपण करनेपर प्रस्तार होता है। भावार्थ—प्रथम विकथा प्रमादका प्रमाण ४, उसका विरलन कर क्रमसे १११ इसतरह निकेपण करना। इसके ऊपर कथायप्रमादके प्रमाण चारको प्रत्येक एकके ऊपर ४, ४, ४, ४, इसतरह निकेपण करना, ऐसा करनेके अनंतर परस्पर (कथायको) जोड़ देने पर १६ सोलह होते हैं। इन सोलहका भी पूर्वकी तरह विरलन कर एक २ करके सोलह जगह रखना तथा प्रत्येक एकके ऊपर आगेके इन्द्रियप्रमादका प्रमाण पांच २ रखना। ऐसा करनेसे पूर्वकी तरह परस्पर जोड़ने पर अस्ती प्रमाद होते हैं। इसको प्रस्तार कहते हैं। इससे यह मालम हो जाता है कि पूर्वके समस्त प्रमाद, आगेके प्रमाद के प्रत्येक भेदके साथ पाये जाते हैं।

प्रस्तारका दूसरा क्रम बताते हैं।

णिकित्तु विद्यमेत्तं पठमं तस्तुवरि विद्यमेककेकं ।

पिण्डं पड़ि णिक्खेऽतो एवं सद्वस्थ कायवरो ॥ ३८ ॥

निकिप्त्वा द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेककम् ।

पिण्डं प्रति निकेप एवं सर्वत्र कर्तव्यः ॥ ३८ ॥

अर्थ—दूसरे प्रमादका जितना प्रमाण है उतनी जगहपर प्रथम प्रमादके पिण्डको रखकर, उसके ऊपर एक २ पिण्ड प्रति आगेके प्रमादमेंसे एक २ का निशेपण करना, और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना । भावार्थ—दूसरे कथाय प्रमादका प्रमाण चार है इसलिये चार जगह पर प्रथम विकथाप्रमादके पिण्डका स्थापन करके उसके ऊपर पिण्ड पिण्डके प्रति एक २ कथायका (११११) स्थापन करना । इनको परस्पर जोड़नेसे सोलह होते हैं । इन सोलहको प्रथम समझकर, इनमें आगेके इन्द्रिय प्रमादका प्रमाण पांच है इस लिये सोलहके पिण्डको पांच जगह रखकर बीचे प्राच्येक पिण्डपर क्रमसे एक २ इन्द्रियका स्थापन करना (१६ १६ १६ १६ १६) इन सोलहको इन्द्रियप्रमादके प्रमाण पांचसे गुणा करने पर या पांच जगहपर रखते हुए सोलहको परस्पर जोड़नेसे प्रमादोंकी संख्या अस्ती निकलती है ।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षयैरिवतनको कहते हैं ।

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो ।

दोषिणवि गंतूणं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो ॥ ३९ ॥

तृतीयाक्ष अन्तगत आदिगते संकामति द्वितीयाक्षः ।

द्रावपि गत्वान्तमादिगते संकामति प्रथमाक्षः ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्रमादका तृतीयस्थान अन्तको प्राप्त होकर जब फिरसे आदिस्थानको प्राप्त हो-जाय तब प्रमादका दूसरा स्थान भी बदलजाता है । इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि को प्राप्त होजाय तब तीसरा प्रमादका स्थान बदलता है । भावार्थ—तीसरा इन्द्रियस्थान जब स्पर्शनादिके क्रमसे क्रोध और प्रथम विकथापर घूमकर अन्तको प्राप्त होजाय तब दूसरे कथायस्थानमें क्रोधका स्थान छूटकर मानका स्थान होता है । इसी प्रकार क्रमसे जब कथायका स्थान भी पूर्ण होजाय तब विकथामें खीकथाका स्थान छूटकर राष्ट्र-कथाका स्थान होता है । इस क्रमसे खीकथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् आदि अस्ती हू भइ निकलते हैं । निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है, इसलिये इनमें अक्षसंचार नहीं होता ।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचारको कहते हैं

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो ।

दोषिणवि गंतूणं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ ४० ॥

प्रथमाक्ष अन्तगत आदिगते संकामति द्वितीयाक्षः ।

द्रावपि गत्वान्तमादिगते संकामति तृतीयाक्षः ॥ ४० ॥

१ एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर जानेको परिवर्तन कहते हैं ।

अर्थ—प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमादस्थान वह धूमता हुआ जब क्रमसे अंततक पहुंचकर फिर खीकथारूप आदि स्थानपर आता है तब दूसरा कथायका स्थान क्रोधको छोड़कर मानपर आता है। इसी प्रकार जब दूसरा कथायस्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थानपर आता है तब तीसरा इन्द्रियस्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शनको छोड़कर रसनापर आता है।

आगे नष्टके लानेकी विधि बताते हैं।

सगमाणेहि विभत्ते सेर्वं लक्षितु जाण अक्षपदं ।

लन्द्रे रुचं पवित्रव सुन्द्रे अन्ते ण रुचपक्षेबो ॥ ४१ ॥

स्वकमानैविभत्ते शेषं लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदश ।

लब्धे रुपं प्रक्षिप्य शुद्धे अन्ते न रुपप्रक्षेपः ॥ ४१ ॥

अर्थ—किसीने जितनेवां प्रमादका भङ्ग पूछा हो उतनी संख्याको रखकर उसमें क्रमसे प्रमादप्रमाणका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर, दूसरे प्रमादके प्रमाणका भाग देना चाहिये, और भाग देनेसे जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझना चाहिये। किन्तु शेष स्थानमें यदि शून्य हो तो अन्तका अक्षस्थान समझना चाहिये, और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिये। जैसे किसीने पूछा कि प्रमादका वीसवा भड्ग कौनसा है? तो वीसकी संख्याको रखकर उसमें प्रथम विकथाप्रमादके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध पांच आये, और शून्य शेषस्थानमें है इसलिये पांचमें एक नहीं मिलाना, और अन्तकी विकथा (अवनिपालकथा) समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी कथायके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध और शेष एक २ ही रहा इस लिये प्रथम क्रोधकथा, और लब्ध एकमें एक और मिलानेसे दो होते हैं इसलिये दूसरी रस-नेन्द्रिय समझनी चाहिये। अर्थात् २० वां भङ्ग अवनिपालकथालाली कोधी रसनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्तेहवान् यह हुआ।

अब उद्दिष्टका स्वरूप कहते हैं।

संठाविदूण रुचं उबरीदो संगुणितु सगमाणे ।

अबणिज्ज अणाकेदयं कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥ ४२ ॥

संस्थाप्य रूपमुपरितः संगुणित्वा स्वकमानम् ।

अपनीयानक्षितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र ॥ ४२ ॥

अर्थ—एकका स्थापन करके आगेके प्रमादका जितना प्रमाण है उसके साथ गुणाकार करना चाहिये। और उसमें जो अनक्षित हो उसका त्याग करै। इसीप्रकार आगे भी करनेसे उद्दिष्टका प्रमाण निकलता है। भावार्थ—प्रमादके भङ्गको रखकर उसकी संख्याके निकालने

को उद्दिष्ट कहते हैं । उसके निकालने का क्रम यह है कि किसीने पूछा कि राष्ट्रकथालाली मायी ग्राणेन्द्रियवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान् यह प्रमादका भङ्ग कितनेमा है ? तो एक (१) संख्या को रखकर उसको प्रमादके प्रमाणसे गुणा करना चाहिये और जो अनंकित हो उसको उसमेंसे घटादेना चाहिये । जैसे १ एकका स्थापनकर उसको इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करनेपर पांच हुए उसमेंसे अनंकित चतुर्थः श्रोत्र दो हैं; क्योंकि भङ्ग पूछनेमें ग्राणेन्द्रिय का ग्रहण किया है, इसलिये दोको व्रताया तो शैष रहे तीन, उनको कथायके प्रमाण चारसे गुणा करनेपर चारह होते हैं, उनमें अनंकित एक लोभकः य है, इसलिये एक व्रतादिया तो शैष रहे ग्यारह । उनको विकथाओंके प्रमाण चारसे गुणनेपर चारलीस होते हैं, उसमेंसे एक अवनिपालकथाको घटा दिया तो! शैष रहे तेतालीस, इसलिये उक्त भङ्ग तेतालीसमां हुआ ।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा जो अक्षणरिवर्तन बताया था उसके आश्रयसे नष्ट और उद्दिष्टके गूढ़यन्त्रको दिखाते हैं ।

इगिवितिचपणखपणदशपणरसं खवीसतालसट्टी य ।

संठविय पमदटाणे णदुद्विढुं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४३ ॥

एकद्वित्रिचतुःपञ्चवपञ्चदशपञ्चदश खविशच्चत्वारिंशत् पष्ठीश्च ।

संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४३ ॥

अर्थ—तीन प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम पांच इन्द्रियोंके स्थानपर एक दो तीन चार पांचको क्रमसे स्थापन करना । चार कथायोंके स्थानपर शून्य पांच दश फन्द्रह स्थापन करना । तथा विकथाओंके स्थानपर क्रमसे शून्य बीस चालीस साठ स्थापन करना । ऐसा करनेसे नष्ट उद्दिष्ट अच्छातरह समझमें आसकते हैं । क्योंकि जो भङ्ग विविक्षित हो उसके स्थानोंपर रखकी हुई संख्याको परस्पर जोड़नेसे, यह कितनेवां भङ्ग है अथवा इस संख्यावाले भङ्गमें कौन २ सा प्रमाद आता है यह समझमें आसकता है ।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गूढ़यन्त्रको कहते हैं ।

इगिवितिचखचडवारं खसोलरागठदालचउसट्टुं ।

संठविय पमदटाणे णदुद्विढुं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४४ ॥

एकद्वित्रिचतुःखचतुरष्टदश खसोलशरौगाष्टत्वारिंशच्चतुःषष्ठिम् ।

संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४४ ॥

अर्थ—दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा तीनों प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम विकथाओंके स्थानपर १०२।१४ स्थापन करना, और कथायोंके स्थानपर ०।१४।१२ स्थापन करना, और

१—रागशब्दसे ३२ लिये जाते हैं; क्योंकि “कटप्पयुरस्थधर्मः” इत्यादि नियमस्मृतके अनुसार गका अर्थ ३ और इका अर्थ २ होता है । और यह नियम है कि “अङ्गोंकी विपरीत गति होती है” ।

इन्द्रियोंकी जगहपर ०।१६।३।२।४।८।८। स्थापन करना । ऐसा करनेसे दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा भी पूर्वकी तरह नष्टोद्दिष्ट समझमें आसकते हैं ।

सप्तमगुणस्थानका स्वरूप बताते हैं ।

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।

अप्रमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ॥ ४५ ॥

संजलननोकपायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति ।

अप्रमत्तगुणस्तेन च अप्रमत्तः संयतो भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जब संजलन और नोकषायका मन्द उदय होता है तब सकल संयमसे युक्त मुनिके प्रमादका अभाव हो जाता है । इस्हालिये इस गुणस्थानको अप्रमत्तसंयत कहते हैं । इसके दो भेद हैं—एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त ।

स्वस्थानाप्रमत्तसंयतका निरूपण करते हैं ।

णाडासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ पाणी ।

अणुबसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो ॥ ४६ ॥

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलवलिमण्डितो ज्ञानी ।

अनुपशमक अक्षपको ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस संयतके सम्र्पू व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाब्रत अद्वैत मूलगुण तथा शीलमें युक्त है, और शरीर आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्षके कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त जबतक उपशमक या क्षपक श्रेणिका आरोहण नहीं करता तबतक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं ।

सातिशय अप्रमत्तका स्वरूप कहते हैं ।

इगवीसमोहखवणुबसमणाणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिँ ।

पढमं अधापवत्तं करणं तु करेदि अपमत्तो ॥ ४७ ॥

एकविशितमोहक्षपणोपशमनानिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु ।

प्रथमधःप्रवृत्तं करणं तु करोति अप्रमत्तः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संजलन सम्बन्धी कोषमानमायालोभ तथा हास्यादिक नव नोकषाय मिलकर इक्कीस मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम या क्षय करनेको आत्माके ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकारके विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं, अधःकरण अर्पूकरण अनिवृत्ति-करण । उनमेंसे सातिशय अप्रमत्त—अर्थात् जो श्रेणि चढ़नेके सम्मुख है वह प्रथमके अधः-प्रवृत्त करणको ही करता है ।

अधःप्रवृत्तकरणका लक्षण कहते हैं ।

जहा उबरिमभावा हेद्विमभावेहि सरिसगा होति ।

तहा पढमं करणं अधापवचोत्ति णिद्विदुं ॥ ४८ ॥

यस्मादुपरितनभावा अधस्तनभावैः सदशका भवन्ति ।

तस्मात्प्रथमं करणमधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरणके कालमेंसे ऊपरके समयतर्ती जीवोंके परिणाम नविके समय-
तर्ती जीवोंके परिणामके सदृश—र्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं इसलिये
प्रथम करणको आगममें अधःप्रवृत्त करण कहा है ।

अधःप्रवृत्तकरणके काल और उसमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण बताते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तो तकालो होदि तस्थ परिणामा ।

लोगाणमसंस्वभिदा उबरुबरिं सरिसवद्विग्या ॥ ४९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रस्तकालो भवति तत्र परिणामाः ।

लोकानामसंस्वयमिता उपर्युपरिसदशवृद्धिगताः ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असं-
ख्यातलोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर ऊपर सदृश वृद्धिको प्राप्त होते गये हैं ।
अर्थात् यह जीव चात्रिमोहनीयकी दोष २१ प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेके लिये
अधःकरण अर्पूर्वकरण अनिवृत्तिकरणोंको करता है । उसमें से अधःकरण श्रेणि चढ़नेके
सम्मुख सातिशय अप्रमत्तके होता है, और अर्पूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तकरण नववें
गुणस्थानमें होता है । **भावार्थ—**करण नाम आत्माके परिणामोंका है । इन परिणामोंमें
प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है । जिसके बलसे कर्मोंका उपशम तथा क्षय
और स्थितिविष्टन तथा अनुभागवण्डन होते हैं । इन तीनों करणोंका काल यथापि सामा-
न्यालापसे अन्तर्मुहूर्तमात्र है, तथापि अधःकरणके कालके संख्यातर्वें भाग अर्पूर्वकरणका काल
है, और अर्पूर्वकरणके कालसे संख्यातर्वें भाग अनिवृत्तकरणका काल है । अधःप्रवृत्तकरणके
परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं । अर्पूर्वकरणके परिणाम अधःकरणके परिणामोंसे असं-
ख्यातलोकगुणित हैं । और अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या उसके कालके समयोंके
समान है । अर्थात् अनिवृत्तकरणके कालके जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं ।
पूर्वोक्त कथनका खुलासा विना दृष्टान्तके नहीं हो सकता इसलिये इसका दृष्टान्त इसप्रकार
समझना चाहिये कि:—कल्पना करो कि अधःकरणके कालके समयोंका प्रमाण १६, अर्पूर्व
करणके कालके समयोंका प्रमाण ८, और अनिवृत्तकरणके कालके समयोंका प्रमाण ४ है ।
अधःकरणके परिणामोंकी संख्या ३०७२, अर्पूर्वकरणके परिणामोंकी संख्या ४०९:, और

अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या ४ है। एक समयमें एक जीवके एकही परिणाम होता है इसलिये एक जीव अधःकरणके १६ समयोंमें १६ परिणामोंको ही धारण कर सकता है। अधःकरणके और अपूर्वकरणके परिणाम जो १६ और ८ से अधिक कहे हैं, वे नाना जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं। यहां इतना विशेष है कि अधःकरणके १६ समयोंमेंसे प्रथम समयमें यदि कोई भी जीव अधःकरण मांडेगा तो उसके अधःकरणके समस्त परिणामोंमेंसे पहले १६२ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन कालमें जब कभी चाहे जब चाहे जो अधःकरण मांडेगा तो उसके पहले समयमें नम्बर १ से लगाकर नम्बर १६२ तकके परिणामोंमेंसे उसकी योग्यताके अनुसार कोई एक परिणाम होगा। इसही प्रकार किसी भी जीवके उसके अधःकरण मांडनेके दूसरे समयमें नम्बर ४० से लगाकर नम्बर २०९ तक १६६ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इसीही प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें भी क्रमसे नम्बर ८० से लगाकर २४९ तक १७० परिणामोंमेंसे कोई एक और १२१ से लगाकर २९४ तकके १७४ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इसीतरह आगेके समयोंमें होनेवाले परिणाम गोम्घटसारकी बड़ी टीकामें, या सुशीला उपन्यासमें दिये हुए यन्त्रद्वारा समझलेने चाहिये। अधःकरणके अपुनरुक्त परिणाम केवल ९१२ हैं। और समस्त समयोंमें होनेवाले पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामोंका जोड़ ३०७२ है। इस अधःकरणके परिणाम समानवृद्धिको लिये हुए हैं—अर्थात् पहले समयके परिणामोंसे द्वितीय समयके परिणाम जिनने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयोंके परिणामोंसे तृतीयादिक समयोंके परिणाम अधिक हैं। इस समानवृद्धिको ही चय कहते हैं। इस दृष्टान्तमें चयका प्रमाण ४ है, स्थानका प्रमाण १६, और सर्व धनका प्रमाण ३०७२ है। प्रथमस्थानमें वृद्धिका अभाव है इसलिये अन्तिमस्थानमें एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण चय वर्द्धित है। अतएव एक घाटि पदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर $\frac{1}{16 \times 16} = 480$ चयधनका प्रमाण होता है। भावार्थ—प्रथम समयके समान समस्त समयोंमें परिणामोंको मिन समझकर वर्द्धित प्रमाणके जोड़को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर शेषमें पदका भागदेनेसे प्रथम समयसम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण $\frac{3072 - 480}{16} = 162$ होता है। इसमें क्रमसे एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादिक समयोंके परिणामपुंजका प्रमाण होता है। एक घाटि पदप्रमाण चय मिलानेसे अंतसमयसम्बन्धी परिणामपुंजका प्रमाण $162 + 1 \times 8 = 22$ होता है। एक समयमें अनेक परिणामोंकी सम्भावना है इसलिये एक समयमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको प्रहण करसकते हैं। अतएव एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें विस्टशता है। एकसमयमें अनेक जीव एक परिणामको प्रहण कर सकते हैं इसलिये एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें सदृशता है। भिन्न समयोंमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको प्रहण कर सकते हैं इसलिये भिन्न समयोंमें नाना जीवोंकी

अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है । जो परिणाम किसी एक जीवके प्रथम समयमें हो सकता है वही परिणाम किसी दूसरे जीवके दूसरे समयमें, और तीसरे जीवके तीसरे समयमें, तथा चौथे जीवके चौथे समयमें हो सकता है, इसलिये भिन्नसमयवर्ती अनेक जीवोंके परिमाणोंमें सदृशता भी होती है । जैसे १६ः नम्बरका परिणाम प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ समयमें होसकता है । प्रथम समयसम्बन्धी परिणामपुंजके भी ३९, ४०, ४१, ४२, इसतरह चार खण्ड किये गये हैं । अर्थात् नम्बर १ से लेकर ३९ नम्बर तकके ३९ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम समयमें पाये जाते हैं, द्वितीयादिक समयोंमें नहीं; इनही ३९ परिणामोंके पुंजको प्रथम रांड कहते हैं । दूसरे खण्डमें नम्बर ४० से ७९ तक ४० परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम और द्वितीय समयमें पाये जाते हैं इसको द्वितीय खण्ड कहते हैं । तीसरे खण्डमें नम्बर ८० से १२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम द्वितीय तृतीय समयोंमें पाये जाते हैं । और चतुर्थ खण्डमें नम्बर १२१ से १६२ तक ४२ परिणाम ऐसे हैं जो आदिके चारोंही समयोंमें पाये जा सकते हैं । इसही प्रकार अन्य समयोंमेंही समझना । अधःकरणके ऊपर २ के समस्त परिणाम पूर्वपूर्व परिणामकी अपेक्षा अनन्त २ गुणी विशुद्धता लिये हुए हैं ।

अब अपूर्वकरण गुणस्थानको कहते हैं ।

अंतोमुहुत्तकालं गमित्तण अधापवत्तकरणं तं ।

पडिसमयं सुजडान्तो अपुव्वकरणं समलियद ॥ ५० ॥

अन्तर्मुहूर्तकालं गमयित्वा अधःप्रवृत्तकरणं तत् ।

प्रतिसमयं शुद्धन् अपूर्वकरणं समाप्तयति ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसका अन्तर्मुहूर्तमात्र काल है ऐसे अधःप्रवृत्तकरणको बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको करता है तब उसको अपूर्वकरणनामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

अपूर्वकरणका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

एदह्नि गुणदाणे विसरिससययद्वियेहिं जीवेहिं ।

पुव्वमपत्ता जहा होति अपुव्वा हु परिणामा ॥ ५१ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः ।

पूर्वमप्राप्ता यस्मात् भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानमें भिन्नसमयवर्ती जीव, जो पूर्वसमयमें कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है ।

भावार्थ—जिसप्रकार अधःकरणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश दोनों

ही प्रकारके होते हैं, वैसा अपूर्वकरणमें नहीं है; किन्तु यहांपर भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते।

इस गुणस्थानका दो गाथाओंद्वारा विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

भिण्णसमयटुयेहिं दु जीवेहिं प्र होदि सब्बदा सरिसो ।

करणेहिं एकसमयटुयेहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ ५२ ॥

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न भवति सर्वदा साटश्यम् ।

करणैरेकसमयस्थितैः साटश्यं वैसाटश्यं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यहांपर (अपूर्वकरणमें) भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विशुद्ध परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी साटश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें साटश्य और वैसाटश्य दोनोंही पाये जाते हैं।

अंतोमुहुत्तमेते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।

कमउद्धा पुव्वगुणे अणुकट्टी प्रतिथिणियमेण ॥ ५३ ॥

अन्तमुहूर्तमात्रे प्रतिसमयमसंखलोकपरिणामाः ।

कमवृद्धा अपूर्वगुणे अनुकृष्णास्ति नियमेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानका काल अन्तमुहूर्तमात्र है, और इसमें परिणाम असंख्यात लोक-प्रमाण होते हैं, और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धिको लिये हुए हैं। तथा इस गुणस्थानमें नियमसे अनुकृष्णरचना नहीं होती है। **भावार्थ—**अधःप्रवृत्तकरणके कालमें अपूर्वकरणका काल यद्यपि संख्यातगुणा ही है; तथापि सामान्यमें अन्तमुहूर्तमात्रही है। और इसमें परिणामोंकी संख्या अधःप्रवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्यासे असंख्यातलोकगुणी है। और इन परिणामोंमें उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है। अर्थात् प्रथम समयके परिणामोंसे जिनमें अधिक द्वितीय समयके परिणाम हैं उतने २ ही अधिक द्वितीयादि समयके परिणामोंसे तृतीयादि समयके परिणाम हैं। तथा जिसप्रकार अधःप्रवृत्तकरणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें साटश्य पाया जाता है इसलिये वहांपर अनुकृष्टि रचना की है उस प्रकार अपूर्वकरणमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती; क्योंकि भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें यहांपर साटश्य नहीं पाया जाता। इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है। सर्वधनका प्रमाण ४०९६ है, चयका प्रमाण १६ और स्थानका प्रमाण ८ है। एक घटापदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर चयधनका प्रनाण $\frac{4096 \times 16}{2} = 484$ होता है। सर्वधनमें चयधनको घटाकर पदका भाग देनेसे प्रथमसमयसम्बन्धी परिणाम-पुंजका प्रमाण $\frac{4096 - 484}{2} = 496$ होता है। इसमें एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादिक

समयमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण निकलता है । इसमें एक बाटि पदप्रमाण चय जोड़नेसे अंतसमयसंबन्धी परिणामोंका प्रमाण $4\frac{9}{16} + 7\frac{7}{16} = 9\frac{6}{16}$ होता है ।

इन अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा क्या कार्य होता है? यह दो गाथाओंद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

तारिसपरिणामद्वियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।

मोहस्सपुवकरणः खबणुबसमणुजया भणिया ॥ ५४ ॥

तादशपरिणामस्थितजीवा हि निनैगलिततिमिरैः ।

मोहस्यापूर्वकरणः क्षपणोपशमनोद्यताः भणिता ॥ ५४ ॥

अर्थ—अज्ञान अन्यकारसं सर्वथा रैहित जिनेन्द्रेद्वने कहा है कि उक्त परिणामोंको धारण करनेवाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्तीं जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षपण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं ।

णिद्वापयले णटु सदि आऊ उबसमंति उबसमया ।

खबयं ढुक्के खवया णियमेण खबंति मोहं तु ॥ ५५ ॥

निद्राप्रचले नष्टे सति आयुषि उपशमयन्ति उपशमकाः ।

क्षपकं ढौकमानाः क्षपका नियमेन क्षपयन्ति मोहं तु ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिनके निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छिति हो नुकी है, तथा जिनका आयुकर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाले जीव शेषमोहनीयका उपशमन करते हैं, और जो क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवाले हैं वे नियमसे मोहनीयका क्षपण करते हैं । भावार्थ—जिसके अपूर्वकरणके छह भागोंमें प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छिति होगई है, और जिसका आयुकर्म विद्यमान है (जो मरणके सम्मुख नहीं है), अर्थात् जो श्रेणिको चढ़नेवाला है, क्योंकि श्रेणिसे उत्तरते समय यहांपर मरणकी सम्भावना है^३; इसप्रकारके उपशमश्रेणिको चढ़नेवाले जीवके अपूर्वकरण परिणामोंके निमित्तसे मोहनीयका उपशम और क्षपकश्रेणिवालेके क्षय होता है^४ ।

नवमें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं ।

एकहिं कालसमये संठाणादीहिं जह णिवद्वंति ।

ण णिवद्वंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ ५६ ॥

^३ इस विशेषणसे उनके कहे हुए वचनमें प्रामाण्य विखलाया है, क्योंकि यह नियम है कि जो परिपूर्ण शानका धारक है वह मिथ्या भावण नहीं करता । ^४ इन दोनों कमोंकी बन्धव्युच्छिति यहीं पर होती है । इस कथनसे अष्टमगुणस्थानका प्रथम भाग लेना चाहिये; क्योंकि उपशम या क्षयका प्रारम्भ यहांसे होजाता है ।

^५ मरणके समयसे दूर्वसमयमें होनेवाले गुणस्थानको भी उपचारसे मरणका गुणश्थान करते हैं । ^६ इस गाथामें तु' शब्द पड़ा है इससे सूचित होता है कि क्षपकश्रेणिमें मरण नहीं होता ।

एकस्मिन् कालसमये संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते ।

न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्यो यैः ॥ १६ ॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि या मध्य या अन्तके एक समयवर्ती अनेक जीवोंमें जिस प्रकार शरीरकी अवगाहना आदि बाह्य कारणोंसे तथा ज्ञानावरणादिकर्मके क्षयोपशमादि अन्तरङ्ग कारणोंसे परस्परमें भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामोंके निमित्तसे परस्परमें भेद नहीं पाया जाता:—

होति अणियडिणो ते पडिसमयं जेस्सिसमेक्षपरिणामा ।

विमलयरज्ञाणहुयवहसिहाहिं पिण्डहु कम्मवणा ॥५७॥ (जुम्म)

भवन्ति अनिवर्तनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः ।

विमलतरध्यानहुतवहशिवार्भिर्निर्दध्यकर्मवनाः ॥ १७ ॥ (युम्म)

अर्थ—उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं । और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं । इसलिये उसके कालके प्रत्येक समयमें अनिवृत्तिकरणका एक २ ही परिणाम होता है । तथा ये परिणाम अत्यन्तनिर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिला-ओंकी सहायतासे कर्मवनको भस्म करदेते हैं । भावार्थ—अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं, इसलिये प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है । अतएव यहांपर भिन्नसमयवर्ती परिणामोंमें सर्वथा विसदशता और एकसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा सदशता ही होती है । इन परिणामोंसे ही आयुकर्मको छोड़कर शोष सात कर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिस्थण्डन, अनुभागकाण्डकस्थण्डन होता है, और मोहनीय कर्मकी बादरक्षित सूक्ष्मकृषि आदि होती है ।

नवमें गुणस्थानके संस्थात भागोंमेंसे अन्तके भागमें होनेवाले कार्यको कहते हैं ।

पुष्टापुष्टवर्णक्षड्यवादरसुहमगयकिद्विअणुभागा ।

हीणकमाण्ठंतगुणेणवरादु वरं च हेट्टस्स ॥ ५८ ॥

पूर्वपूर्वस्पर्धकवादरसूक्ष्मगतकृष्टचनुभागाः ।

हीनकमा अनन्तगुणेन अवरातु वरं चाप्तस्तनस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—पूर्वस्पर्धकसे अपूर्व स्पर्धकके और अपूर्वस्पर्धकसे बादरक्षितके तथा बादरक्षितसे सूक्ष्मकृषिके अनुभाग क्रमसे अनन्तगुणे २ हीन हैं । और ऊपरके (पूर्व २ के) जघन्यसे नीचेका (उत्तरोत्तरका) उत्कृष्ट और अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनन्तगुणा २ हीन है । भावार्थः—अनेक प्रकारकी अनुभागशक्तिसे युक्त कार्मणवर्गणोंके समूहको स्पर्धक कहते हैं । जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पूर्वमें पायेजाय उनको पूर्वस्पर्धक कहते हैं । जिनका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण हो जाता है उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं । तथा जिनका

अनुभाग अपूर्व स्पर्धकसेभी क्षीण हो जाय उनको बादरकृष्टि, और जिनका अनुभाग बादरकृष्टि की अपेक्षाभी क्षीण हो जाय उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं । पूर्वस्पर्धकके जघन्य अनुभागसे अपूर्वस्पर्धकका उत्कृष्ट अनुभाग भी अनन्तगुणा हीन है । इसीप्रकार अपूर्वस्पर्धकके जघन्यसे बादरकृष्टिका उत्कृष्ट और बादरकृष्टिके जघन्यसे सूक्ष्मकृष्टिका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है । और जिस प्रकार पूर्वस्पर्धकके उत्कृष्टसे पूर्वस्पर्धकका जघन्य अनन्तगुणाहीन है उसही प्रकार अपूर्वस्पर्धक आदिमें भी अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है ।

दशवें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं ।

धुड़कोसुंभवयत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं ।

एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्ति णादवो ॥ ५९ ॥

धौतकौसुम्भवत्त्वं भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तम् ।

एवं सूक्ष्मकथायः सूक्ष्मसराग इति ज्ञातव्यः ॥ ६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार धुले हुए कस्मी वस्त्रमें लालिमा (सुर्ती) सूक्ष्म रहजाती है, उसही प्रकार जो अत्यन्तसूक्ष्म राग (लोभ) से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं । भावार्थ—जहांपर पूर्वोक्त तीन करणके परिणामोंसे क्रमसे लोभकथायके विना चारित्रमोहनीयकी शैष वीस प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय होनेपर सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभकथायका उदय पाया जाय उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामका दशावां गुणस्थान कहते हैं ।

इस सूक्ष्मलोभके उदयसे होनेवाले फलको दिलाते हैं ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उबसामगो व खबगो वा ।

सो सुहमसंपराओ जहसादेणूणाओ किंचि ॥ ६० ॥

अणुलोभं विद्न जीव उपशमको व क्षपको वा ।

स सूक्ष्मसाम्परायो यथास्थातेनोः किञ्चित् ॥ ६० ॥

अर्थ—चाहे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाल हो अथवा क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवालाहो; परन्तु जो जीव सूक्ष्मलोभके उदयका अनुभव कर रहा है ऐसा दशमे गुणस्थानवर्ती जीव यथास्थात चारित्रसे कुछही न्यून रहता है । भावार्थ—यहांपर सूक्ष्म लोभका उदय रहनेसे यथास्थात चारित्रके प्रकट होनेमें कुछ कमी रहती है ।

म्यारहमे गुणस्थानका स्वरूप दिलाते हैं ।

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व गिम्मलयं ।

सयलोवसंतमोहो उबसंतकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

कतकफलयुतजलं वा शरदि सरःपानीयं व निर्मलम् ।

सकलोपशान्तमोह उपशान्तकपायको भवति ॥ ६१ ॥

अर्थ—निर्मली फलसे युक्त जलकी तरह, अथवा शरदऋतुमें होनेवाले सरोवरके जलकी तरह, सभूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकपाय ग्याहरमां गुणस्थान कहते हैं ।

बारहमें गुणस्थानको कहते हैं ।

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुव्यसमचित्तो ।

खीणकसाओ भण्णदि णिगग्थो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

निशेषक्षीणमोहः स्फटिकामलभाजगोदकसमचित्तः ।

क्षीणकषयो भण्णते निर्ग्रन्थो वीतरागैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस निर्ग्रन्थका चित्त मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षीण होनेसे स्फटिकके निर्मल पात्रमें रखे हुए जलके समान निर्मल होगया है उसको वीतरागदेवने क्षीणकपायनामक बारहमें गुणस्थानवर्ती कहा है ।

दो गाथाओंद्वारा तेरहमें गुणस्थानको कहते हैं ।

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।

णवकेवललङ्घगमसुजणियपरमप्पववर्सो ॥ ६३ ॥

केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलापप्रणाशिताज्ञानः ।

नवकेवललङ्घयुद्धमसुनितपरमात्मन्यपदेशः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणोंके समूहसे (उत्कृष्ट अनन्तानन्तप्रमाण) अज्ञान अनधिकार सर्वथा नष्ट होगया हो, और जिसको नव केवललघ्वयोंके (क्षायिक—सम्यकत्व चारित्र ज्ञान दर्शन द्वान लाभ भोग उपभोग वीर्य) प्रकट होनेसे “ परमात्मा ” यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त होगया है, वहः—

असहायणाणदंसणसहितो इदि केवली हु जोगेण—

जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

असहायज्ञानदर्शनसहित इति केवली हि योगेण—

युक्त इति सयोगिजिनः अनादिनिधनवै उत्तः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इन्द्रिय आलोक आदिकी अभेक्षा न रखनेवाले ज्ञान दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, और काययोगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी, तथा घातिकमोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है । ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगममें कहा है । भावार्थ—बारहमें गुणस्था-

नका विनाश होतेही जिसके ज्ञानावरणादि तीने धाति और सोलह अधाति प्रकृति, समूर्ण मिलाकर ६३ प्रकृतियोंके नष्ट होनेसे अनन्त चतुष्य तथा नव केवललन्धि प्रकट हो जुकी है और काय योगसे युक्त है उस अरहंतको तेरहमे गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

चौदहमे अयोगकेवली गुणस्थानको कहते हैं ।

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्भरयाविष्पमुक्तो गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

शीलैर्यं संप्रातः निरुद्धनिःशोषात्वो जीवः ।

कर्मरजेविप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो अठारह हजार शीलके भेदोंका स्वामी हो जुका है । और जिसके कर्मोंके आनेका द्वारारूप आत्मव सर्वथा बन्द होगया । तथा है सत्त्व और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वत्कृष्ट निर्जरा होनेसे, जो उस कर्मसे सर्वथा मुक्त होनेके सम्मुख है, उस काय योगरहित केवलीको चौदहमे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं । भावार्थ—शीलकी पूर्णता यहींपर होती है, इसलिये जो शीलका स्वामी होकर पूर्ण संवर और निर्जराका पात्र होनेसे मुक्त अवस्थाके सम्मुख है, ऐसे काययोगसे भी रहित केवलीको चौदहमे गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

इसप्रकार चौदह गुणस्थानोंको कहकर, अब उनमें होनेवाली आयुकर्मके विना शेष सातकर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जराको दो गाथाओं द्वारा कहते हैं ।

सम्मतुष्पतीये सावयविरदे अण्ठतकम्मंसे ।

दृसंणमोहकस्वबगे कसायउबसामगे य उबसंते ॥ ६६ ॥

सम्प्यक्त्वोत्पत्तौ श्रावकवित्ते अनन्तकर्मोशो ।

दर्शनमोहक्षपके कषायोपशामके चोपशान्ते ॥ ६६ ॥

खबगे य खीणमोहे जिणेसु दृवा असंखगुणिदकमा ।

तविररीया काला संखेज्जगुणककमा होति ॥ ६७ ॥ (जुम्म)

क्षपके च क्षीणमोहे जिणेषु द्रव्याण्यसंख्यागुणितकमाणि ।

तद्विपरीताः कालाः संख्यातगुणकमा भवन्ति ॥ ६७ ॥ (युम्म)

अर्थ—सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्मका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय करनेवाला, कषायोंका उपशम करनेवाले ८-९-१० गुणस्थानवर्ती जीव, उपशान्तकषाय, कषायोंका क्षपण करनेवाले ८-९-१० गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीणमोह, सयोगी अयोगी दोनोंप्रकारके निन, इन ग्यारह स्थानोंमें द्रव्यकी अपेक्षा कर्मकी निर्जरा

१ मोहनीय कर्म पहले ही नष्ट हो जुका है इस लिये यहा तीनहीं लेना चाहिये । २ मोहनीय सहित ।

कमसे असंख्यातगुणी २ अधिक होती है। और उसका काल इससे विपरीत है—कमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है। भावार्थ—सादि अथवा अनादि दोनोंही प्रकारका मिथ्यादृष्टि जब करणलघिको प्राप्त कर उसके अधःकरणपरिणामोंको भी विताकर अपूर्वकरण परिणामोंको ग्रहण करता है, उस समयसे गुणश्रेणिनिराकार प्रारम्भ होता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टिके जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह पूर्वकी निर्जरासे असंख्यातगुणी अधिक है। श्रावक अवस्था प्राप्त होनेपर जो कर्मकी निर्जरा होती है वह सातिशयमिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे भी असंख्यातगुणी अधिक है। इसप्रकार विरतादिस्थानोंमें भी उत्तरोत्तर कमसे असंख्यातगुणी २ कर्मकी निर्जरा होती है। तथा इस निर्जराका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है। अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टिकी निर्जरामें जितना काल लगता है, श्रावककी निर्जरामें उससे संख्यातगुणा कम काल लगता है। इसी प्रकार विरतादिमें भी समझना चाहिये।

इस प्रकार चौदहगुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंका वर्णन करके अब गुणस्थानोंका अतिक्रमण करनेवाले सिद्धोंका वर्णन करते हैं।

अठविहकम्मवियला सीढीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्ठगुणा किदृकिच्चा लोयगणिवासिणो सिद्धा ॥ ६८ ॥

अष्टविष्कर्मविकलः शीतीभूता निरञ्जना नित्याः ।

अष्टगुणः कृतकृत्या लोकाग्निवासिनः सिद्धाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृतके अनुभव करनेवाले—ज्ञानितमय हैं, नवीन कर्मबन्धको कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अङ्गनसे रहित हैं, नित्य हैं, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अव्यावाप अवगाहन सूक्ष्मत्व अमुखलघु ये आठ मुख्यगुण जिनके प्रकट हो जूके हैं, कृतकृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है) हैं, लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

सिद्धोंको दियेहुये इन सात विशेषणोंका प्रयोगन दिखाते हैं।

सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी ।

ईसरमंडलिदंसणविदूसणदृं कयं एदं ॥ ६९ ॥

सदाशिवः सांख्यः मस्करी बुद्धो नैयायिकश्च वैशेषिकः ।

ईश्वरमण्डलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक और वैशेषिक, कर्तृवादी (ईश्वरको कर्ता माननेवाले), मण्डली इनके मर्तोंका निराकारण करनेके लिये ये विशेषण दिये

हैं । भावार्थ—संदाशिव मतवाला जीवको सदा कर्मसे रहितही मानता है, उसके निराकरणके लिये ही ऐसा कहा है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेपर ही जीव कर्मसे रहित होता है—सदा नहीं । सिद्ध अवस्थासे पर्व संसार अवस्थामें कर्मसे सहित रहता है । सांख्यमतवाला मानता है कि “बन्ध मोक्ष सुख दुःख प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं” । इसके निराकरणके लिये “सुखस्वरूप” ऐसा विशेषण दिया है । मस्करीमतवाला मुक्तजीवोंका लौटना मानता है, उसको दूषित करनेके लिये ही कहा है कि “सिद्ध निरञ्जन हैं” अर्थात् मिथ्यादर्शन क्रोध मानादि भावकर्मसे रहित हैं । क्योंकि विना भावकर्मके नवीन कर्मका ग्रहण नहीं हो सकता और विना कर्मग्रहणके जीव निर्वेतुक संसारमें लौट नहीं सकता । बौद्धोंका मत है कि “सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक अर्थात् क्षणावधीं हैं” उसको दूषित करनेके लिये कहा है कि वे “नित्य” हैं । नैयायिक तथा वैशेषिकमतवाले मानते हैं कि “मुक्तिमें बुद्धचारिगुणोंका विनाश होजाता है,” उसको दूर करनेके लिये “ज्ञानादि आठगुणोंसे सहित हैं” ऐसा कहा है । ईश्वरको कर्ता माननेवालोंके मतके निराकरणके लिये “कृतकृत्य” विशेषण दिया है । अर्थात् अब (मुक्त होनेपर) जीवको सृष्टि अदि बनानेका कार्य शेष नहीं रहा है । मण्डकी मतवाला मानता है कि “मुक्तजीव सदा ऊपरको गमन ही करता जाता है, कभी ठहरता नहीं” उसके निराकरणके लिये “लोकके अग्रभागमें स्थित हैं” ऐसा कहा है ।

इति गुणस्थानप्रस्तुपणा नामा प्रथमोऽधिकारः ।

क्रमप्राप्त जीवसमाप्तप्ररूपणाका निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं ।

जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।

ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विष्णेया ॥ ७० ॥

यैरनेके जीवा नयन्ते बहुविधा अपि तज्जातयः ।

ते पुनः संगृहीतार्था जीवसमासा इति विज्ञेयाः ॥ ७० ॥

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जाय उन धर्मोंको अनेक पदार्थोंका संग्रह करनेवाले होनेसे जीवसमाप्त कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये । भावार्थ—उन धर्मविशेषोंको जीवसमाप्त कहते हैं कि जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीवकी अनेक जातियोंका संग्रह किया जासके ॥

उत्पत्तिके कारणकी अपेक्षा लेकर जीवसमाप्तका लक्षण कहते हैं ।

तसच्चदुन्जगाणमज्ज्ञे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये ।

जीवसमाप्ता होति हु तद्भवसारिच्छसामण्णा ॥ ७१ ॥

१ सदाशिवः सदाऽकर्मा सास्यो मुक्तं सुखोऽस्ति । मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥ १ ॥
क्षणिकं निर्गुणं तैव बुद्धो योग्य मन्यते । कृतकृत्यं तसीशानो मष्टलीनोर्वैगामिनम् ॥ २ ॥

त्रसचतुर्युगलानां मध्ये अविरुद्धैर्युतजातिकमोदये ।

जीवसमाप्ति भवन्ति हि तद्वसादश्यसामान्याः ॥ ७१ ॥

अर्थ— ब्रह्मस्थावर बादरसूक्ष्म पर्याप्तापर्याप्त प्रत्येकसाधारण इन चार युगलोंमें से अँविरुद्ध त्रसादि कमोंसे युक्त जाति नामकर्मका उदय होनेपर जीवोंमें होनेवाले उर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्मोंको जीवसमाप्ति कहते हैं । भावार्थ—एक पदार्थकी कालकमोंसे होनेवाली अनेक पर्याप्तोंमें रहनेवाले समानधर्मको उर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्यसामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्म, त्रसादि युगलोंमें से अविरुद्ध कमोंसे युक्त एकेन्द्रियादि जाति नामकर्मका उदय होनेपर उत्पन्न होता है । इसीको जीवसमाप्ति कहते हैं ।

जीवसमाप्तके चौदह भेदोंको गिनाते हैं ।

बादरसुहमेहंदियवितिचतुरिन्दियअसणिणसण्णी य ।

पञ्जत्तापञ्जत्ता एवं ते चोद्दसा होति ॥ ७२ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्विनिचतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च ।

पर्याप्तापर्याप्ता एवं ते चतुर्दशा भवन्ति ॥ ७२ ॥

अर्थ— एकेन्द्रियके दो भेद हैं, बादर तथा सूक्ष्म । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपचेन्द्रिय, संज्ञिपचेन्द्रिय । ये सातो ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही प्रकारके होते हैं । इसलिये जीवसमाप्तके सामान्यसे चौदह भेद हुए ।

विस्तारपूर्वक जीवसमार्पका वर्णन करते हैं ।

भूआउतउवाऊणिच्चदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।

पत्तेयपदिष्ठिदरा तसपण पुण्णा अपुण्णदुगा ॥ ७३ ॥

ध्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदथूलेतराः ।

प्रयेकप्रतिष्ठेतराः त्रसपञ्च पर्णा अपर्णद्विकाः ॥ ७३ ॥

अर्थ— पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यनियोद, इतरनियोद । इन छहके बादर सूक्ष्मके भेदसे बारह भेद हुए । तथा प्रत्येकके दो भेद, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित । और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इसतरह त्रसके पांच भेद । सप्त मिलाकर उच्चीप भेद होते हैं । ये सभी पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त होते हैं । इसलिये उच्चीपका तीनके साथ गुणा करनेपर जीवसमाप्तके उत्तरभेद १७ होते हैं ।

जीवसमाप्तके उक्त १७ भेदोंके भी अवान्तर भेद दिखानेके लिये स्थानादि चार अधिकारोंको कहते हैं ।

१ त्रसकर्मका बादरकेसाथ अविरोध और सूक्ष्मके साथ विरोध है, इसीप्रकार पर्याप्तकर्मका साधारणकर्मके साथ विरोध और प्रत्येकके साथ अविरोध है । इसीतरह अन्यत्र भी यथासम्भव लगालेना ।

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि देहोगगाहणकुलाणभेदेहिं ।

जीवसमासा सब्बे परूपविद्वा जहाकमसो ॥ ७५ ॥

स्थानैरपि योनिभिरपि देहावगाहनकुलानां भेदैः ।

जीवसमासाः सर्वे प्ररूपितव्या यथाक्रमशः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, कुलोंके भेद इन चार अधिकारोंके द्वारा सम्पूर्ण जीवसमासोंका क्रमसे निरूपण करना चाहिये ।

एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जातिभेदको स्थान कहते हैं । कन्द मूल अण्डा गर्भ रस स्वेद आदि उत्पत्तिके आधारको योनि कहते हैं । शरीरके छोटे बड़े भेदोंको देहावगाहना कहते हैं । भिन्न २ शरीरकी उत्पत्तिको कारणीभूत नोकर्णवर्माणके भेदोंको कुल कहते हैं ।

क्रमके अनुसार प्रथम स्थानविकारको कहते हैं ।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे ।

इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ॥ ७५ ॥

सामान्यनीवः त्रसथावरयोः एकविलसकलचरमद्विके ।

इन्द्रियकाययोः चरमस्य च द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७६ ॥

अर्थ—सामान्यसे (द्रव्यार्थिक नयसे) जीवका एकही भेद है; क्योंकि “जीव” कहनेसे जीवमात्रका ग्रहण हो जाता है । इसलिये सामान्यसे जीवसमासका एक भेद । त्रस और स्थावरकी अपेक्षासे दो भेद । एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय (पञ्चेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद । यदि पञ्चेन्द्रियके दो भेद करदिये जाय तो जीवसमासके एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं । इन्द्रियोंकी अपेक्षा पांच भेद हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय । पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति ये पांच स्थावर और एक त्रस इसप्रकार कायकी अपेक्षा छह भेद हैं । यदि पांच स्थावरोंमें त्रसके विकल और सकल इसतरह दो भेद करके मिला दिये जाय तो सात भेद होते हैं । और विकल असंज्ञी संज्ञी इसप्रकार तीन भेदकरके मिलानेसे आठ भेद होते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय इसतरह चार भेद करके मिलानेसे नव भेद होते हैं । और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी इसतरह पांच भेद करके मिलानेसे दश भेद होते हैं ।

पणजुगले तससहिये तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे ।

छुगपत्तेयमिह य तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ॥ ७६ ॥

पञ्चयुगले त्रससहिते त्रसस्य द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ।

षड्द्विकप्रयेके च त्रसस्य त्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७६ ॥

अर्थ—पांच स्थावरोंके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा पांच युगल होते हैं । इनमें त्रस सामान्यका एक भेद मिलानेसे ग्यारह भेद जीवसमासके होते हैं । तथा इनहीं पांच युगलोंमें त्रसके विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय दो भेद मिलानेसे बारह, और त्रसके विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इसप्रकार तीन भेद मिलानेसे तेरह, और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय ये चार भेद मिलानेसे चौदह, तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच भेद मिलानेसे पन्द्रह भेद जीवसमासके होते हैं । पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतर निगोद इनके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक वनस्पति इनमें त्रसके उक्त विकलेन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये तीन भेद मिलानेसे सोलह, और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे सत्रह, तथा पांच भेद मिलानेसे अठारह भेद होते हैं ।

सगजुगलम्हि तसस्य य पणभंगजुदेषु होति उणवीसा ।

एयादुणवीसोत्ति य इगिवितिगुणिदे हवे ठाणा ॥ ७७ ॥

सप्तयुगले त्रसस्य च पंचभंगयुतेषु भवन्ति एकोनविशतिः ।

एकादोकोनविशतिरिति च एकाद्वितिगुणिते भवेयुः स्थानानि ॥ ७७ ॥

अर्थ—पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतरनिगोदके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येकका प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठितकी अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलोंमें त्रसके उक्त पांच भेद मिलानेसे जीवसमासके उच्चीस भेद होते हैं । इस प्रकार एकसे लेकर उच्चीस तक जो जीवसमासके भेद गिनाये हैं, इनका एक दो तीनके साथ गुणा करनेपर क्रमसे उच्चीस, अड़तीस, सत्तावन, जीवसमासके अवान्तर भेद होते हैं ।

एक दो तीनके साथ गुणाकरनेका कारण बताते हैं ।

सामण्णेण तिपंती पढमा विदिया अपुण्णगे हदरे ।

पञ्चते लद्धिअपञ्चतेऽपढमा हवे पंती ॥ ७८ ॥

सामान्येन त्रिपङ्क्यः प्रथमा द्वितीया अपूर्णके इतरस्मिन् ।

पर्यासे लब्ध्यपर्यासेऽप्रथमा भवेत् पङ्क्षः ॥ ७८ ॥

अर्थ—उक्त उच्चीस भेदोंकी तीन पङ्क्ष करनी चाहिये । उसमें प्रथम पङ्क्ष सामान्यकी अपेक्षासे है । और दूसरी पङ्क्ष अपर्यास तथा पर्यासकी अपेक्षासे है । और तीसरी पङ्क्ष पर्यास निर्वृत्यपर्यास लब्ध्यपर्यासकी अपेक्षासे है । भावार्थ—उच्चीसका जब एकसे गुणा करते हैं तब सामान्यकी अपेक्षा है, पर्यास अपर्यासके भेदकी विवक्षा नहीं है । जब दोके साथ गुणा करते हैं तब पर्यास अपर्यासकी अपेक्षा है । और जब तीनके साथ गुणा करते हैं तब पर्यास निर्वृत्यपर्यास लब्ध्यपर्यासकी अपेक्षा है । गायामें केवल लब्धि शब्द है उसका अर्थ लब्ध्यपर्यास होता है; क्योंकि नामका एक देशभी पूर्णनामका बोधक होता है ।

जीवसमासके और भी उत्तर भेदोंको गिनानेकेलिये दो गाथा कहते हैं ।

इगिविणं इगिविगले असणिणसणिणगय जलथलखगाणं ।

गव्यभवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो ॥ ७९ ॥

एकपश्चाशत् एकविकले असंजिसंजिगतजलस्थलखगानाप्र ।

गर्भभवे सम्भूद्धे द्विक्रिं भोगस्थलखेचरे द्वौ द्वौ ॥ ७९ ॥

अर्थ—जीवसमासके उक्त ९७ भेदोंमेंसे पञ्चनिद्र्यके छह भेद निकालनेमें एकेनिद्र्य विकलेनिद्र्यसम्बन्धी ९१ भेद शेष रहते हैं । कर्मभूमिमें होनेवाले तिर्यक्तोंके तीन भेद हैं, जलचर स्थलचर न नभश्वर । ये तीनों ही तिर्यक्त मन्त्री और असम्बन्धी होते हैं । तथा गर्भज और सम्भूद्धन होते हैं; परन्तु गर्भजोंमें पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं, इसलिये गर्भजके बारह भेद, और सम्भूद्धनोंमें पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही भेद होते हैं, इसलिये सम्भूद्धनोंके अठारह भेद, सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यक्तोंके तीनभेद होते हैं । भोगभूमिमें पञ्चनिद्र्यतिर्यक्तोंके स्थलचर न नभश्वर दो ही भेद होते हैं । और ये दोनोंही पर्याप्त तथा निर्वृत्यपर्याप्त होते हैं । इसलिये भोगभूमिज तिर्यक्तोंके चार भेद, और उक्त कर्मभूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ९१ भेदोंमें मिलानेमें तिर्यगति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवसमासके ८९ भेद होते हैं । भोगभूमिमें जलचर सम्भूद्धन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते ।

मनुष्य देव नारकसम्बन्धी भेदोंको गिनाते हैं ।

अज्जवमलेच्छमणुए तिदु भोगकुभोगभूमिजे दो दो ।

सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा हु अडणउदी ॥ ८० ॥

आर्यम्लेच्छमनुष्ययोद्धयो द्वौ भोगकुभोगभूमिनयोद्धौ द्वौ ।

सुरनिरययोद्धौ द्वौ इति जीवसमासा हि अष्टानवतिः ॥ ८० ॥

अर्थ—आर्यस्तप्तमें पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही प्रकारके मनुष्य होते हैं । म्लेच्छस्तप्तमें लब्ध्यपर्याप्तके छोड़कर दो प्रकारके ही मनुष्य होते हैं । इसीप्रकार भोग-भूमि कुभोगभूमि देव नारकियोंमें भी दो दो ही भेद होते हैं । इसलिये सब मिलाकर जीवसमासके ९८ भेद हुए । मावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यक्तोंके ८९ भेद, और ९ भेद मनुष्योंके तथा दो भेद देवोंके, दो भेद नारकियोंके, इसप्रकार सब मिलाकर जीवसमासके अवान्तर भेद ९८ होते हैं ।

इसप्रकार स्थानाधिकारकी अपेक्षा जीवसमासोंका वर्णन किया । अब दसरा योनि अधिकार क्रमसे प्राप्त है । उस योनिके दो भेद हैं, एक आकारयोनि दूसरी गैणयोनि । उसमें प्रथम आकारयोनिको कहते हैं ।

संखावत्तयजोणी कुमुण्णायवंसपत्तजोणी य ।

तत्थ य संसावते णियमादु विवज्जदे गव्यभो ॥ ८१ ॥

शंखवर्तकयोनिः कर्मेन्नतवंशपत्रयोनी च ।

तत्र च शंखवर्ते नियमात् विवर्जयेते गर्भः ॥ ८१ ॥

अर्थ—योनिके तीन भेद हैं, शंखवर्त कूर्मेन्नत वंशपत्र । उनमेंसे शंखवर्त योनिमें गर्भ नियमसे वर्जित है । भावार्थ—जिसके भीतर शंखके समान चक्र पड़े हों उसको शंखवर्त योनि कहते हैं । जो कछुआकी पीठकी तरह उठी हुई हो उसको कूर्मेन्नत योनि कहते हैं । जो वासके पत्तेके समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं । ये तीन तरह की आकार योनि हैं । इनमेंसे प्रथम शंखवर्तमें नियमसे गर्भ नहीं रहता ।

कुम्मण्णयजोणीये तित्थयरा दुष्विहचक्कवट्टी य ।

रामा वि य जायंते सेसाए सेसगजणो दु ॥ ८२ ॥

कूर्मेन्नतयोनौ तीर्थकरा द्विविहचक्कवर्तिनश्च ।

रामा अपि च जायन्ते शेषायां शेषकजनस्तु ॥ ८३ ॥

अर्थ—कूर्मेन्नतयोनिमें तीर्थकर अर्थचक्री चक्रवर्ती तथा बलभद्र और अपिशब्दकी सामर्थ्यसे साधारण पुरुष भी उत्पन्न होते हैं । तीसरी वंशपत्रयोनिमें साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं तीर्थकरादि महापुरुष नहीं होते ।

जन्म तथा उसकी आधारभूत गुणयोनिके भेदोंको गिनाते हैं ।

जन्मं खलु सम्मुच्छणगद्भुवबादा दु होदि तज्जोणी ।

सच्चित्तसीदसंउडसेदरामिस्सा य पत्तेयं ॥ ८३ ॥

जन्म खलु सम्भूद्धनगर्भेपपादास्तु भवति तथोनयः ।

सच्चित्तशीतसंवृत्तेसरमिश्राश्च प्रत्येकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकारका होता है, सम्भूद्धन गर्भ उपाद । तथा इनकी आधारभूत सच्चित शीत संवृत्त, अचित उष्ण विवृत, मिश्र, ये गुण योनि होती हैं । इनमेंसे यथासम्भव प्रत्येक सम्भूद्धनादि जन्मके साथ लगालेनी चाहिये ।

किन जीवोंके कौनसा जन्म होता है यह बताते हैं ।

पोतजरायुजञ्जनजीवाणं गद्भ देवणिरयाणं ।

उबबादं सेसाणं सम्मुच्छणयं तु णिद्विदुं ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजञ्जनजीवानां गर्भः देवनारकाणां ।

उपपादः शेषाणां सम्भूद्धनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत (जो उत्पन्न होते ही भागने लगे, जैसे शेर विली हिरन आदि), जरायुज

१ आत्मप्रदेशोंसे युक्त पुत्रलपिडको सचित कहते हैं । २ डका हुआ । ३ खुला हुआ । ४ दोका मिला हुआ, जैसे सचित और अचितको मिलाए एक मिश्र योनि होती है ।

(जो जेरके साथ उत्पन्न हों), अण्डज (जो अण्डेसे उत्पन्न हों) इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है । देव नारकियोंका उपर्युक्त जन्म ही होता है । शेष जीवोंका सम्भूतिं जन्मही होता है ।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

उबबादे अचित्तं गद्धमे मिस्सं तु होदि सम्भूत्ये ।

सचित्तं अचित्तं मिस्सं च य होदि जोणी हु ॥ ८५ ॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्भूते ।

सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि ॥ ८६ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अनित्त ही योनि होती है । गर्भ जन्मकी मिश्रे योनि ही होती है । तथा सम्भूतिं जन्मकी सचित्त अचित्त मिश्र तीनों तरहकी योनि होती है ।

उबबादे सीदुसणं सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि ।

उबबादेयखेसु य संउड वियलेसु विउलं तु ॥ ८६ ॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति ।

उपपादैकासेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु ॥ ८६ ॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती हैं । शेष जन्मोंमें शीत उष्ण मिश्र तीनों ही योनि होती हैं । उपपाद जन्मवालोंकी तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत ही होती है । और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है ।

गद्धमजजीवाणं पुण मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु ।

सम्भूत्येषु वियलं वा विउलं जोणी हु ॥ ८७ ॥

गर्भजजीवानां पुनः मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि ।

सम्भूत्येषु वियलं वा विवृतयोनिर्हि ॥ ८७ ॥

अर्थ—गर्भजजीवोंकी योनि नियमसे मिश्र (संवृत विवृतकी अपेक्षा) होती है । पञ्चेन्द्रिय सम्भूतिं जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृत योनि ही होती है ।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेषसंल्याको बताते हैं ।

सामणेण य एवं णव जोणीओं हवंति वित्थारे ।

लक्खाणं चदुरसीदीं जोणीओं होते णियमेण ॥ ८८ ॥

सामान्येन चैव नव योनयो भवन्ति विस्तारे ।

लक्खाणं चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन ॥ ८८ ॥

१ देवोंके उत्पन्न होनेकी शक्या और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उपस्थानोंके उपपाद कहते हैं, उनमें उत्पन्न होनेको भी उपपाद कहते हैं । २ चारों तरफसे मुदलका इकड़ा होना (छं मच्छर आदिके जन्मविशेषमें हूँद है) । ३ माताके सचित्तज्ञ और पिताके अचित्त वीर्यके मिलनेदेश मिथ योनि होती है ।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमनुसार सामान्यसे योनियोंके नियमसे नव ही भेद होते हैं। विस्तारकी अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

योनिसम्बन्धी विस्तृत संख्याको दिखाते हैं।

णिच्छिदरधादुसत्य त तरुदस वियलिंदियेषु छच्चेव ।

सुरणिरयतिरियचउरो चोदस मणुए सदसहस्रा ॥ ८९ ॥

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्दियेषु षट् चैव ।

सुरनिरयतिर्यक्ततत्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः ॥ ८९ ॥

अर्थ—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात २ लाख, वनस्पतिकी दशलाख, द्विनिद्रिय त्रीनिद्रिय चतुरनिद्रिय इन प्रत्येककी दो २ लाख अर्थात् विकलेन्द्रियकी छह लाख, देव नारककी तिर्यक्त इन प्रत्येककी चार २ लाख, मनुष्यकी चौदह लाख, सब मिलकर ८४ लाख योनि होती हैं।

किस गतिमें कौनसा जन्म होता है यह दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं।

उबबादा सुरणिरया गव्यमजसमुच्छिमा हु णरतिरिया ।

सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्ष्मा ॥ ९० ॥

उपपादाः सुरनिरया गर्भजसम्मूर्च्छिमा हि नरतिर्यक्तः ।

सम्मूर्च्छिमा मनुष्या अपर्याप्ता एकविकलाक्षाः ॥ ९० ॥

अर्थ—देवगति और नरकगतिमें उपपाद जन्मही होता है। मनुष्य तथा तिर्यक्तोंमें गर्भ और समूर्छन दो ही प्रकारका जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियोंका सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पंचक्षतिरिक्खाओ गव्यमजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं ।

भोगभूमा गव्यमवा नरपुणा गव्यमजाचेव ॥ ९१ ॥

पञ्चाक्षतिर्यक्तो गर्भजसम्मूर्च्छिमा तिरश्चाय् ।

भोगभूमा गर्भमवा नरपूर्णा गर्भजाक्षैव ॥ ९१ ॥

अर्थ—कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यक्त गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यक्तोंमें जो भोगभूमिया तिर्यक्त हैं वे गर्भज ही होते हैं। और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तकोंकी कहां २ सम्भावना है और कहां नहीं है यह बताते हैं।

उबबादगव्यमजेषु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण ।

णरसम्मुच्छिमर्जीवा लद्धिअपज्जत्तगा चेव ॥ ९२ ॥

उपपादगर्भनेषु च लब्ध्यपर्यासका न नियमेन ।

नरसमूर्धिमजीवा लब्ध्यपर्यासकाश्वै ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपपाद और गर्भ जन्मवालोंमें नियमसे लब्ध्यपर्यासक नहीं होते । और सम्मूर्धन मनुष्य नियमसे लब्ध्यपर्यासक ही होते हैं । भावार्थ—देव नारकी पर्यास निवृत्यपर्यास ही होते हैं । और चक्रवर्तीकी रानी आदिको छोड़कर शेष आर्यसंणदकी खियोंकी योनि कांत स्तन मूत्र मल आदिमें उत्पन्न होनेवाले संमूर्धन मनुष्य लब्ध्यपर्यासक ही होते हैं ।

नरकादि गतियोंमें होनेवाले वेदोंका नियम करते हैं ।

पेरह्या खलु संदा परतिरिये तिणिण हौंति समुच्छा ।

संदा सुरभोगभुमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ॥ ९३ ॥

नैरग्यिका: खलु षष्टा नवतिरश्चोत्तयो भवन्ति सम्मूर्ध्यः—

षष्टा: सुरभोगभुमा: पुरुषत्वीवेदकाश्वै ॥ ९३ ॥

अर्थ—नारकियोंका द्रव्यवेद, तथा भाववेद नर्सुक सक ही होता है । मनुष्य और तिर्थोंके तीनोंही (व्यापुरुष नर्सुक)वेद होते हैं । देव और भोगभूमियाओंके पुरुषवेद और ऋषिवेद ही होता है । भावार्थ—देव नारकी भोगभूमियां और सम्मूर्धन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है; किन्तु शेष मनुष्य और तिर्थोंमें यह नियम नहीं है । उनके द्रव्यवेद और भाववेदमें विपरीतता भी पाई जाती है । अङ्गोपाह्व नायकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरगत विह्विशेषको द्रव्यवेद, और मोहनीयकर्मकी वेदप्रकृतिके उदयसे होनेवाले परिणामविशेषोंको भावभेद कहते हैं ।

शरीरवगाहनाकी अपेक्षा जीवसमारोंका निरूपण करनेसे प्रथम सबसे उत्कृष्ट और जघन्य शरीरकी अवगाहनाओंके स्वभियोंको दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदअपज्जत्यस्य जादस्स तदियसमयम्हि ।

अंगुलअसंख्यागं जहण्णमुक्सस्यं मच्छे ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्यासकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अङ्गुलासंख्यागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ ९४ ॥

अर्थ—उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्यासक जीवकी अङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है । और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्यके होती है । भावार्थ—अजुगातिकेद्वारा उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्यासक जीवकी उत्पत्तिसे तीसरे समयमें शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण बनाङ्गुलके

१ उत्पत्तिके प्रथम समयमें आयतचतुरस्र और दूसरे समयमें समचतुरस्र होता है, इस लिये प्रथम द्वितीय समयमें जघन्य अवगाहना नहीं होती; किन्तु तीसरे समयमें गोल होजानेसे जघन्य अवगाहना होती है ।

असंख्यतर्में भागप्रमाण है । उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्रके मध्यमें होनेवाले महामत्स्यकी होती है । इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पांचसौ योजन चौड़ा, ढाईसौ योजन मोटा है । जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक २ प्रदेशकी वृद्धिके क्रमसे मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद होते हैं । अवगाहनाके सम्पूर्ण विकल्प असंख्यत होते हैं ।

इन्द्रियकी अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बताते हैं ।

साहियसहस्रमेकं वारं कोसूणमेकमेकं च ।

जोयणसहस्रदीहं परमे वियले महामच्छे ॥ ९५ ॥

साधिकसहस्रमेकं द्वादश क्रोशोनमेकं च ।

योजनसहस्रदीर्घं पद्मे विकले महामत्स्ये ॥ ९६ ॥

अर्थ—पद्म (कमल), द्रीनिद्रिय, त्रीनिद्रिय, चतुरनिद्रिय, महामत्स्य इनके शरीरकी अवगाहना क्रमसे कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीनकोश, एक योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये । भावार्थ—एकेनिद्रियोंमें सबसे उत्कृष्ट कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्रीनिद्रियोंमें शाखकी बारहयोजन, त्रीनिद्रियोंमें त्रैपी (चीटी) की तीन कोश, चतुरनिद्रियोंमें भ्रमरकी एक योजन, पचेनिद्रियोंमें महामत्स्यकी एक हजार योजन लम्बी शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण है । यहांपर महामत्स्यकी एक हजार योजनकी अवगाहनासे जो पद्मकी कुछ अधिक अवगाहना बताई है, और पूर्वमें सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यकी ही बताई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यहांपर केवल लम्बाईका बर्णन है, और पूर्वमें जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनशेत्रफलकी अपेक्षासे थी । इसलिये पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहनाका क्षेत्रफल अधिक है ।

पर्याप्तक द्रीनिद्रियादिकोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है ? और उसके धारक जीव कौन २ हैं यह बताते हैं ।

ब्रितिचपपुण्णजहण्णं अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु ।

सिच्छयमच्छे विद्युलसंखे संखगुणिदकमा ॥ ९६ ॥

द्वित्रिचपूर्णजघन्यमनुंधरीकुंयुकाणमक्षिकासु ।

सिक्षकमत्स्ये वृन्दाङ्गुलसंख्यं संख्यगुणितक्रमाः ॥ ९६ ॥

अर्थ—द्रीनिद्रिय त्रीनिद्रिय चतुरनिद्रिय पचेनिद्रिय जीवोंमें अनुंधरी कुंयु काणमालिका सिक्षमत्स्यके क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है । इसमें प्रथमकी घनाङ्गुलके संख्यातमें भागप्रमाण है । और पूर्वकी अपेक्षा अवगाहना क्रमसे संख्यातगुणी २ अधिक है । भावार्थ—द्रीनिद्रियोंमें सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरीके पाई जाती है और उसका

प्रेमाण घनाङ्गुलके संख्यातमें भागमात्र है। उससे संख्यातगुणी श्रीनिदियोंकी जशन्य अवगाहना है, यह कुंयुके पाई जाती है। इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियोंमें काणमालिका की, और इससे भी संख्यातगुणी पंचेन्द्रियोंमें सिक्थमत्स्यके जशन्य अवगाहना पाई जाती है। यहांपर आचार्योंने द्वीनिद्रिय श्रीनिद्रिय आदि शब्द न लिखकर “वि, ति, न, प,” ये शब्द जो लिखे हैं वे ‘नामका एकदेश भी सम्पूर्ण नामका बोधक होता है’ इस नियमके आश्रयसे लाघवके लिय लिखे हैं।

जशन्यसे लेकर उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त जितने भेद हैं उनमें किस भेदका कौन स्वामी है? और अवगाहनाकी न्यूनाविकताका गुणाकार क्या है? यह पांच गाथाओंद्वारा बताते हैं।

सुहमणिवातेआ। सूवातेआपुणिपादिद्विदं इदरं ।

वितिचपमाविलाणं एयाराणं तिसेढीय ॥ ९७ ॥

सूक्ष्मनिवातेआभूवातेअद्युनिप्रतिष्ठितमितरत् ।

द्वित्रिचपमायानामेकादशानां त्रिश्रेणयः ॥ ९७ ॥

अर्थ—एक कोठेमें सूक्ष्मनिगोदिया वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय इनका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे दूसरे कोठेमें वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय निगोदिया प्रतिष्ठित इनका क्रमसे स्थापन करना। और तीसरे कोठेमें अप्रतिष्ठित द्वीनिद्रिय श्रीनिद्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रियोंका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे उक्त सोलह स्थानोंमें आदिके ग्यारह स्थानोंकी तीन श्रेणि मांडना चाहिये। भावार्थ—तीनकोठेमें स्थापित सोलह स्थानोंके आदिके ग्यारहस्थान जो कि प्रथम द्वितीय कोठेमें स्थापित किये गये हैं—अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियासे लेकर प्रतिष्ठित पर्यन्तके ग्यारह स्थानोंको क्रमानुसार उक्त तीन कोठा औंके आगे पूर्ववत् दो कोठाओंमें स्थापित करना चाहिये, और इसके नीचे इनही ग्यारह स्थानोंके दूसरे और दो कोठे स्थापित करने चाहिये, तथा दूसरे दोनों कोठोंके नीचे तीसरे दो कोठे स्थापित करना चाहिये। इसप्रकार तीन श्रेणिमें दो २ कोठाओंमें ग्यारह स्थानोंको स्थापित करना चाहिये। और इसके आगे:—

अपविद्विदृष्टेयं वितिचपतिचबिअपविदिदंसयलं ।

तिचबिअपविदिदं च य सयलं बादालगुणिदकमा ॥ ९८ ॥

अप्रतिष्ठितप्रथेयं द्वित्रिचपत्रिचष्टप्रतिष्ठितं सकलम् ।

त्रिचष्टप्रतिष्ठितं च च सकलं द्वाचत्वारिंशत्पुणितकमाः ॥ ९८ ॥

अर्थ—छठे कोठेमें अप्रतिष्ठित प्रथेक द्वीनिद्रिय श्रीनिद्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रियका स्थापन करना। इसके आगेके कोठेमें क्रमसे श्रीनिद्रिय चौइन्द्रिय द्वीनिद्रिय अप्रतिष्ठित प्रथेक पंचेन्द्रियका स्थापन करना। इससे आगे के कोठेमें श्रीनिद्रिय चौइन्द्रिय द्वीनिद्रिय अप्रतिष्ठित प्रथेक गो. ५

पंचेन्द्रियका क्रमसे स्थापन करना । इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानोंमें व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । भावार्थ—आदिके तीन कोठोंमें स्थापित सोलह स्थान और जिन ग्यारहस्थानोंको तीन श्रेणियोंमें स्थापित किया था उनमेंसे नीचेकी दो श्रेणियोंमें स्थापित वाईस स्थानोंको छोड़कर उपरकी श्रेणिके ग्यारहस्थान । तथा इसके आगे तीन कोठोंमें स्थापित पन्द्रह स्थान । सब मिलाकर व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । और दूसरी तीसरी श्रेणिके वाईस स्थान अधिकक्रम हैं । व्यालीस स्थानोंके गुणाकारका प्रमाण और वाईसस्थानोंके अधिकका प्रमाण आगे बतावेंगे । यहांपर उक्त स्थानोंके स्वामियोंको बताते हैं ।

अवरमपूणणं पढमं सोलं पुण पढमविदियतदियोली ।

पुणिणदरपूणणयाणं जहणमुक्तसमुक्तस ॥ ११ ॥

अवरमपूणी प्रथम षोडश पुनः प्रथमद्वितीयतृतीयावलि: ।

पूर्णेतरपूर्णाना जगन्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टम् ॥ १२ ॥

अर्थ—आदिके सोलह स्थान जगन्य अपर्याप्तके हैं । और प्रथम द्वितीय तृतीयश्रेणि क्रमसे पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा पर्याप्तकी जगन्य उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये । भावार्थ—प्रथम तीन कोठोंमें विभक्त सोलह स्थानोंमें अपर्याप्तकी जगन्य अवगाहना ब्राह्मण है । और इसके आगे प्रथम श्रेणिके ग्यारह स्थानोंमें पर्याप्तकी जगन्य और इसके नीचे दूसरी श्रेणियोंमें अपर्याप्तकी उत्कृष्ट तथा इसके भी नीचे तीसरी श्रेणियोंमें पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये ।

पुणणजहणणं तत्तो वरं अपुणणसस पुणउक्तसं ।

वीपुणणजहणणोत्ति असंखं संखं गुणं तत्तो ॥ १०० ॥

पूर्णजगन्यं ततो वरमपूर्णस्य पूर्णोत्कृष्टम् ।

द्विपूर्णजगन्यमिति असंख्यं संख्यं गुणं ततः ॥ १०० ॥

अर्थ—श्रेणिके आगेके प्रथम कोठोंमें (छहे कोठोंमें) पर्याप्तकी जगन्य और दूसरे कोठोंमें अपर्याप्तकी उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठोंमें पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये । द्विन्द्रिय पर्याप्तकी जगन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यातका गुणाकार है, और इसके आगे संख्यातका गुणाकार है । भावार्थ—पहले जो व्यालीस स्थानोंको गुणितक्रम बताया था उनमेंसे आदिके उनतीस स्थान (सक्षमनिगोदिया अपर्याप्तक जगन्यसे लेकर द्विन्द्रिय पर्याप्तकी जगन्य अवगाहना पर्यन्त) उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे २ हैं । और इसके आगे तेरह स्थान उत्तरोत्तर संख्यातगुणे २ हैं ।

गुणाकार रूप असंख्यातका और श्रेणिगत वाईस स्थानोंके अधिकका प्रमाण बताते हैं ।

सुहमेवरगुणगारो आवलिपलाभसंखभागो दु ।

सहाणे सेदिगया अहिया तत्थेकपदिभागो ॥ १०१ ॥

सूक्ष्मतरगुणकार आवलिपत्यासंख्येयभागस्तु ।

स्वस्थाने श्रेणिगता अधिकास्तत्रैकप्रतिभागः ॥ १०१ ॥

अर्थ— सूक्ष्म और बादरोंका गुणकार स्वस्थानमें क्रमं आवली और पत्यके असंख्यात में भाग है, और श्रेणिगत वाईस स्थान अपने २ एक प्रतिभागप्रमाण अधिक ३ हैं। मावार्थ— सूक्ष्म निगोदियासे सूक्ष्म वायुकायका प्रमाण आवलीके असंख्यातमें भागसे गुणित है, और इसीप्रकार सूक्ष्मवायुकायसे सूक्ष्म तेजकायका और सूक्ष्मतेजकायसे सूक्ष्मजलकायका सूक्ष्मजलकायसे सूक्ष्म पृथिवीकाग्रा प्रमाण उत्तरोत्तर आवलीके असंख्यातमें २ भागसे गुणित है। परन्तु सूक्ष्म पृथिवीकायसे बादर वातकायका प्रमाण परस्थान होनेसे पत्यके असंख्यातमें भाग-गुणित है। इसीप्रकार बादर वातकायसे बादर तेजकायका और बादर तेजकायसे बादर जलकायदिका प्रमाण उत्तरोत्तर क्रमसे पत्यके असंख्यातमें भाग २ गुणा है। इसीप्रकार आगे के स्थान भी समझना। परन्तु श्रेणिगत वाईस स्थानोंमें गुणकार नहीं है; किन्तु उत्तरोत्तर अधिक २ हैं, अर्थात् वाईस स्थानोंमें जो सूक्ष्म हैं वे आवलीके असंख्यातमें भाग अधिक है, और जो बादर हैं वे पत्यके असंख्यातमें भाग अधिक हैं।

सूक्ष्मनिगोदिया लघृध्यपर्यासिककी जग्नन्य अवगाहनासे सूक्ष्म वायुकायकी अवगाहना आवलीके असंख्यातमें भाग गुणित है यह पहले कह आये हैं। अब इसमें होनेवाली चतुर्थस्थानपतित वृद्धिकी उत्पत्तिका क्रम तथा उसके मध्यमें होनेवाले अनेक अवगाहनाके भेदोंको कहते हैं।

अवरुबरि इगिपदेसे जुदे असंख्यमागवृद्धीए ।

आदी णिरंतरमदो एगेगपदेसपरिवृद्धी ॥ १०२ ॥

अवरोपरि एकप्रदेशो युते असंख्यातभागवृद्धेः ।

आदि: निरन्तरमतः एकैकप्रदेशपरिवृद्धिः ॥ १०२ ॥

अर्थ— जग्नन्य अवगाहनाके प्रमाणमें एक प्रदेश और मिलानेसे जो प्रमाण होता है वह असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान है। इसके आगे भी क्रमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि करनी चाहिये। और ऐसा करते २—

अवरोग्गाहणमाणे जहण्णपरिमिदअसंख्यरासिहिदे ।

अवरस्मुवरिं उहे जेद्वमसंख्यमागस्स ॥ १०३ ॥

अवरावगाहनप्रमाणे जग्न्यपरिमितासंख्यातराशिहते ।

अवरस्योपरि वृद्धे ज्येष्ठमसंख्यातभागस्य ॥ १०३ ॥

अर्थ— जग्नन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जग्नन्यपरीतासंख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आये उत्तने प्रदेश जग्नन्य अवगाहनमें मिलानेपर असंख्यातभागवृद्धिका उन्कुष्ट स्थान होता है।

तसुवरि इगिपदेसे जुदे अवत्तव्वभागपारम्भो ।
 वरसंखमवहिद्वरे रूऊणे अवरउवरिजुदे ॥ १०४ ॥
 तस्योपरि एकप्रदेशे युते अवकल्प्यभागप्रारम्भः ।
 वरसंख्यातावहितावेर रूपोने अवरोपरि युते ॥ १०४ ॥

अर्थ—असंख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानके आगे एक प्रदेशकी वृद्धि करनेसे अवकल्प्य भागवृद्धिका प्रारम्भ होता है । इसमें एक ३ प्रदेशकी वृद्धि होते ३, जब जनन्य अवगाहनाके प्रमाणमें उत्कृष्ट संख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसमें एक कमकरके जनन्यके प्रमाणमें मिलादिया जाय तबः—

तव्वहीए चरिमो तसुवरिं रूबसंजुदे पठमा ।
 संखेज्जभागउही उवरिमदो रूबपरिवही ॥ १०५ ॥
 तवृद्वेश्वरमः तस्योपरि रूपसंयुते प्रथमा ।
 संख्यातभागवृद्धिः उपर्यतो रूपपरिवृद्धिः ॥ १०५ ॥

अर्थ—अवकल्प्यभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । इसके आगे एक और मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका प्रथम स्थान होता है । और इसके आगे एक ३ की वृद्धि करते ३ जनन्य अवरन्दे अवरुवरि उहे तव्वहिपरिसमती हु ।

रूवे तदुबरि उहे होदि अवत्तव्वपठमपदं ॥ १०६ ॥
 अवराद्वे अवरोपरिवृद्वे तदवृद्धिपरिसमाप्तिर्हि ।
 रूपे तदुपरि वृद्वे भवति अवकल्प्यप्रथमपदम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जनन्यका जितना प्रमाण है उसमें उसका (जनन्यका) आधा और मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होता है । इसके आगे भी एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवकल्प्यवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

रूऊणवरे अवरुस्तुवरिं संवहिदे तदुककस्सं ।
 तस्मि पदेसे उहे पठमा संखेज्जगुणवही ॥ १०७ ॥
 रूपोनावेरे अवरस्योपरि संवद्धिते तदुत्कृष्टम् ।

तस्मिन् प्रदेशे वृद्वे प्रथमा संख्यातगुणवृद्धिः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जनन्यके प्रमाणमें एक कम जनन्यका ही प्रमाण और मिलानेसे अवकल्प्यवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसमें एक प्रदेश और मिलानेसे संख्यातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

अवरे वरसंखगुणे तव्वरिमो तम्हि रूबसंजुते ।
 दग्गाहणम्हि पठमा होदि अवत्तव्वगुणवही ॥ १०८ ॥

अवरे वरसंस्थयुगेण तत्त्वरमः तंस्मिन् रूपसंस्युक्ते ।

अवगाहने प्रथमा भवति अवक्तव्यगुणवृद्धिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—जघन्यको उत्कृष्ट संस्थातसे गुणा करनेपर संस्थगतगुणवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होता है । इस संस्थातगुणवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानमें ही एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्यगुणवृद्धिका प्रथमस्थान होता है ।

अवरपरित्तासंखेणवरं संगुणिय रूबपरिहीणे ।

तत्त्वरिमो रूबजुवे तद्विं असंखेजगुणपठमं ॥ १०९ ॥

अवरपरीतासंस्थेनावरं संगुण्य रूपपरिहीने ।

तत्त्वरमो रूपयुते तस्मिन् असंस्थातगुणप्रथमम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाका जघन्यपरीतासंस्थातके साथ गुणा करके उसमेंसे एक घटाने पर अवक्तव्यगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसमें एक प्रदेशकी वृद्धि होनेपर असंस्थातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

रूबुत्तरेण तत्त्वे आवलियासंखभागगुणगारे ।

तप्पाउउग्गेजावै वाउस्सोग्गाहणं कमसो ॥ ११० ॥

रूपोत्तरेण तत आवलिकासंस्थयभागगुणकारे ।

तत्प्रायोग्ये जाते वायोरत्पाहनं कमशः ॥ ११० ॥

अर्थ—इस असंस्थातगुणवृद्धिके प्रथमस्थानके ऊपर कमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि होते २ जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य आवलिके असंस्थातमें भागका गुणाकार उत्पन्न होनाय तब कमसे उस वायुकायकी अवगाहना होती है । भावार्थ—जघन्य अवगाहनाके ऊपर प्रदेशोत्तर वृद्धिके कमसे असंस्थातभागवृद्धि संस्थातभागवृद्धि संस्थातगुणवृद्धि असंस्थातगुणवृद्धिको कमसे असंस्थात २ वार होनेपर, और इन वृद्धियोंके मध्यमें अवक्तव्यवृद्धिको भी प्रदेशोत्तरवृद्धिके कमसे ही असंस्थात २ वार होनेपर, जब असंस्थातगुणवृद्धि होते २ अन्तमें अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाके उत्पन्न करनेमें योग्य आवलीके असंस्थातमें भागमाण असंस्थातका गुणाकार आजाय तब उसके साथ जघन्य अवगाहनाका गुणा करनेसे अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है । यह पूर्वोक्त कथन विना अंकसंदर्भिके समझमें नहीं आसकता इसलिये यहांपर अंकसंदर्भिलिखदेना उचित समझते हैं । वह इस प्रकार है—कल्पना कीजिये कि जघन्य अवगाहनाका प्रमाण १०० है और जघन्य संस्थातका प्रमाण १ तथा उत्कृष्ट संस्थातका प्रमाण १९ और जघन्य परीतासंस्थातका प्रमाण १६ है । इस जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्य अवगाहनाका ही भाग देनेसे १ कल्प आता है

उसके जग्न्य अवगाहनामें मिलनेसे असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। और जग्न्य परीतासंख्यात अर्थात् १६ का भाग देनेसे ६० लब्ध आते हैं उनको जग्न्य अवगाहनामें मिलनेसे असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। उत्कृष्ट संख्यातका अर्थात् १९ का जग्न्य अवगाहनामें भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं इनको जग्न्य अवगाहनामें मिलनेसे संख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। जग्न्यमें २ का भागदेनेसे जो लब्ध आवे उसको अर्थात् जग्न्यके आधेको जग्न्यमें मिलनेसे संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। परन्तु उत्कृष्ट असंख्यातभागवृद्धिके आगे और जग्न्य संख्यातभागवृद्धिके पूर्व जो तीन स्थान हैं, अर्थात् जग्न्यके ऊपर ६० प्रदेशोंकी वृद्धि तथा ६४ प्रदेशोंकी वृद्धिके मध्यमें जो ६१-६२ तथा ६३ प्रदेशोंकी वृद्धिके तीन स्थान हैं, वे न तो असंख्यातभागवृद्धिमें ही आते हैं और न संख्यातभागवृद्धिमें ही, इसलिये इनको अवक्तव्यवृद्धिमें लिया है। इसके आगे गुणवृद्धिका प्रारम्भ होता है, जग्न्यको दूना करनेसे संख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान (१९२०) होता है। इसके पूर्वमें उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धिके स्थानसे आगे अर्थात् १४४० से आगे जो १४४१ तथा १४४२ आदि १९१९ पर्यंत स्थान हैं वे सम्पूर्ण ही अवक्तव्यवृद्धिके स्थान हैं। इसही प्रकार जग्न्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणित करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसके आगे जग्न्यपरीतासंख्यातका जग्न्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान होता है। तथा इन दोनोंके मध्यमें भी पूर्वकी तरह अवक्तव्य वृद्धि होती है। इस असंख्यातगुणवृद्धिमें ही प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते २ सूक्ष्म वातकायकी जग्न्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य गुणाकार प्राप्त होता है उसका जग्न्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर सूक्ष्म वातकायकी जग्न्य अवगाहना उत्पन्न होती है। इस अंकसंदृष्टिके अनुसार अर्थ संदृष्टि भी समझना चाहिये; परन्तु अंकसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना चाहिये।

इसप्रकार सूक्ष्म निगोदियाके जग्न्य अवगाहनास्थानोंसे सूक्ष्म वातकायकी जग्न्य अवगाहनापर्यन्त स्थानोंको बताकर तेजस्कायादिके अवगाहनास्थानोंके गुणाकारकी उत्पत्तिके क्रमको बताते हैं।

एवं उवरि विणेओ पदेसववृद्धिकमो जहाजोगगं ।
सव्वत्थेक्केकहि य जीवसमासाण विज्ञाले ॥ १११ ॥

एवमुपर्यपि त्वयः प्रदेशवृद्धिकमो यथायोग्यम् ।

सर्वत्रैकैकस्मिंश्च जीवसमासानामन्तराले ॥ १११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तसे लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकायकी जग्न्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अवगाहनाके स्थान बताये, उसही प्रकार आगे

भी तेजस्कायिकसे लेकर पर्याप्त पञ्चनिद्रियकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीवसमासोंके प्रत्येक अन्तरालमें प्रदेशवृद्धिकमसे अवगाहनास्थानोंको समझना चाहिये ।

उक्त सम्पूर्ण अवगाहनाके स्थानोंमें किसमें किसका अन्तर्भाव होता है इसको मत्स्यरचनाके द्वारा सूचित करते हैं ।

हेठा जेसि जहणणं उबरिं उक्तस्यं हवे जत्थ ।
तथंतरगा सव्वे तेसि उग्राहणविअप्पा ॥ ११२ ॥

अवस्तनं येषां जनन्यमुर्युत्कृष्टकं भवेद्यत्र ।

तत्रान्तरगाः सर्वे तेषामवगाहनविकल्पाः ॥ ११३ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी प्रथम जनन्य अवगाहनाका और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहनाका जहां २ पर वर्णन किया गया है उनके मध्यमें जितने भेद हैं उन सबका मध्यके भेदोंमें अन्तर्भाव होता है । भावार्थ—जिनके अवगाहनाके विकल्प अल्प हैं उनका प्रथम विन्यास करना, और जिनकी अवगाहनाके विकल्प अधिक हैं उनका विन्यास पिछे करना । जिसके जहांसे जहांतक अवगाहना स्थान हैं उनका वहांसे वहांतक ही विन्यास करना चाहिये । ऐसा करनेसे मत्स्यका आकार होजाता है । इस मत्स्यरचनासे किस जीवके कितने अवगाहनाके स्थान हैं और कहांसे कहांतक हैं यह प्रतीत होजाता है ।

इसप्रकार स्थान योनि तथा शरीरकी अवगाहनाके निमित्तसे जीवसमासका वर्णन करके कुलोंके द्वारा जीवसमासका वर्णन करते हैं ।

वावीस सत्त तिणिण य सत्त य कुलकोडिसयसहस्राहं ।

णेया पुढविदगागणि वाउकायाण परिसंख्वा ॥ ११४ ॥

द्वाविशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि ।

ज्ञेया पृथिवीदक्षिणायुक्याकायानां परिसंख्या ॥ ११५ ॥

अर्थ—पृथिवीकायके वाईस लाख कुलकोटि हैं, जलकायके सात लाख कुलकोटि हैं । औप्पिकायके तीन लाख कुलकोटि हैं । और वायुकायके सात लाख कुलकोटि हैं । भावार्थ—शरीरके भेदको कारणभूत नोर्कर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं । ये कुल क्रमसे पृथिवीकायके वाईस लाख कोटि, जलकायके सात लाख कोटि, अप्पिकायके तीन लाख कोटि, और वायुकायके सात लाख कोटि समझने चाहिये ।

अद्वृत्तेरस वारस दसयं कुलकोडिसदसहस्राहं ।

जलचरपक्षिसङ्घप्यय उरपरिसप्पेषु णव होति ॥ ११५ ॥

अद्वृत्योदश द्वावश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि ।

जलचरपक्षिचतुष्पदोरुपरिसप्पेषु नव भवन्ति ॥ ११६ ॥

अर्थ— जलचंगोंके कुल सादेवारह लाख कोटि, पक्षियोंके बारह लाख कोटि, पन्नुओंके दश लाख कोटि, छातीके सहारे चलनेवाले जीव दमही आदिके नव लाख कोटि कुत्र हैं।

छप्पं चाधियवीसं बारसकलकोडिसदसहस्राङ् ।

सुरणेरहयणराणं जहाकमं होंति येयाण॥ ११५ ॥

षट्पञ्चाधिकविश्वतिः द्वादशा कलकोटिशतसहस्रणि ।

सरनैरयिक्तनराणां यथाक्रमं भवन्ति ज्ञेयानि ॥ ११९ ॥

अर्थ—देव नारकी तथा मनुष्य इनके कुल क्रमसे छवीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि, तथा बारह लाख कोटि हैं।

पूर्वोक्तप्रकारसे भिन्न ३ जीवोंके कुलोंकी संख्याको बताकर सप्तका जोड़ कितना है यह बताते हैं।

एया य कोडिकोडी सत्ताणउवीय सदसहस्रां ।

पण्णं कोडिसहस्रा सव्वंगीणं कलाणंय ॥ ११६ ॥

एका च कोटिकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि ।

पञ्चाशतको द्विसहस्राण सर्वाङ्गिनां कलानां च ॥ ३१६ ॥

इसप्रकार स्थान योनि देहावगाहना तथा कुल्के द्वारा जीवसमाप्ति नामक दूसरे अधिकारका वर्णन किया ।

इति जीवसमासप्ररूपणो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इसके अनन्तर तीसरे पर्यासिनामक अधिकारका प्रतिपादन करते हैं।

जह पुण्णापुण्णाहै गिहघडवस्थावियाहै वध्वा है।

तहु पुणिदरा जीवा पञ्चतिदरा मुणेयद्वा ॥ ११७ ॥

यथा पूर्णपूर्णनि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि ।

तथा पर्णेतरा जीवाः पर्यास्तेतरा मन्तव्याः ॥ ११७ ॥

अर्थ—निःप्रकार भर थट वल्ल आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं। उस ही प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारके होते हैं। जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं। मात्रार्थ—गृहीत आहारर्गणाके स्वरूप भागादिरूप परिणामेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको पर्याप्ति कहते हैं। यह

पर्यासि जिनके पाई जाय उनको पर्यास, और जिनकी वह शक्ति पूर्ण नहीं हुई है उन जीवोंको अपर्यास कहते हैं । जिसप्रकार घटादिक द्रव्य वन्-उक्तेष्ठर पूर्ण और उससे पूर्व अपर्ण कहे जाते हैं । इसही प्रकार पर्यासि सहितको पर्यास और पर्यासि रहितको अपर्यास कहते हैं ।

पर्यासिके छह भेद तथा उनके स्वामियोंका नामनिर्देश करते हैं ।

आहारसरीरिंदियपञ्चती आणपाणभासमणो ।

चत्तारि पञ्च छट्टिप य एहंदियवियलसण्णीणं ॥ ११८ ॥

आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्यास्यः आनप्राणभासमनान्तिः ।

चतस्रः पञ्च पडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥ ११८ ॥

अर्थ—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोद्गुस भाषा मन इस प्रकार पर्यासिके छह भेद हैं । जिनमें एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्यासि, और द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरन्द्रिय तथा असं-ज्ञिपचेन्द्रियके मनःपर्यासिको छोड़कर शेष पांच पर्यासि होती हैं । और संझी जीवोंके सभी पर्यासि होती हैं । भावार्थ—एक शरीरको छोड़कर नवीन शरीरको करण भूत जिस नोकर्म वर्गणाको जीव ग्रहण करता है उसको खल रस भागरूप परिणमावनेकेलिये जीवकी शक्तिके पूर्ण होजानेको आहारपर्यासि कहते हैं । और खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि द्रव (नरम) अवयवरूप परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेके शरीरपर्यासि कहते हैं । तथा उस ही नोकर्मवर्गणाके स्फूर्त्यमेंसे कुछ वगणाओंको अपनी २ इन्द्रियके स्थानपर उस उस द्रव्येन्द्रियके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होजानेको इन्द्रियपर्यासि कहते हैं । इसही प्रकार कुछ स्फूर्त्योंको श्वासोद्गुसरूप परिणमावनेको जो जीवकी शक्तिकी पूर्णता उसको श्वासोद्गुस पर्यासि कहते हैं । और वचनरूप होनेके योग्य पुद्दल स्फूर्त्योंको (भावार्गणाको) वचनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषापर्यासि कहते हैं । तथा द्रव्यमनरूप होनेको योग्य पुद्दलस्फूर्त्योंको (मनोवर्गणाको) द्रव्य-मनके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको मनःपर्यासि कहते हैं । इन छह पर्यासियोंमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्यासि ही होती हैं । और द्विन्द्रियसे लेकर असं-ज्ञिपचेन्द्रिय पर्यन्त मनःपर्यासिको छोड़कर पांच पर्यासि होती हैं । और संझी जीवोंके सभी पर्यासि होती हैं । जिन जीवोंकी पर्यासि पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्यास, और जिनकी पूर्ण नहीं होती उनको अपर्यास कहते हैं । अपर्यास जीवोंके भी दो भेद हैं—एक निर्वृत्यपर्यास दूसरा लब्ध्यपर्यास । जिनकी पर्यासि अभीतक पूर्ण नहीं हुई है; किन्तु अन्तर्मुहूर्तके बाद नियममें पूर्ण होजायगी उनको निर्वृत्यपर्यास कहते हैं । और जिसकी अभीतक भी पर्यासि पूर्ण नहीं हुई और पूर्ण होनेसे प्रथम ही जिसका मरण भी होजायगा—अर्थात् अपनी आयुके कालमें जिसकी पर्यासि कभी पूर्ण न हो उसको लब्ध्यपर्यासक कहते हैं ।

इन पर्यासियोंमें प्रत्येक तथा समस्तके प्रारम्भ और पूर्ण होनेमें कितना काल लगता है यह बताते हैं।

पञ्जतीपठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिठवणं ।

अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्त्वियालावा ॥ ११९ ॥

पर्यासिप्रस्थापनं युगपत्तु क्रमेण भवति निष्ठापनश् ।

अन्तर्मुहूर्तकालेन अधिककमास्तावदालापात् ॥ ११९ ॥

अर्थ— सम्पूर्ण पर्यासियोंका आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रममें होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका कुछ २ अधिक है; तथापि सामान्यकी अपेक्षा सबका अन्तर्मुहूर्तमात्र ही काल है। भावार्थ—एकसाथ सम्पूर्ण पर्यासियोंके प्रारम्भ होनेके अन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें आहारपर्यासि पूर्ण होती है। और उससे संख्यात्भाग अधिक कालमें शरीर पर्यासि पूर्ण होती है। इस ही प्रकार आगे २ की पर्यासिके पूर्ण होनेमें पूर्व २ की अपेक्षा कुछ २ अधिक २ काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। क्योंकि असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्तके भी असंख्यात भेद हैं; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं। इस लिये सम्पूर्ण पर्यासियोंके समुदायका काल भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है।

पर्यास और निर्वृत्यपर्यासका काल बताते हैं ।

पञ्जतस्स य उदये णियणियपञ्जतिणिठिदो होदि

जाव सरीरमपुणं णिववत्ति अपुणणगो ताव ॥ १२० ॥

पर्यासस्य च उदये निननिजपर्यासिनिष्ठितो भवति ।

यावत् शरीरमपणं निर्वृत्यपूर्णकस्तावत् ॥ १२० ॥

अर्थ— पर्यास नामकमेंके उदयसे जीव अपनी २ पर्यासियोंमें पूर्ण होता है; तथापि जबतक उसकी शरीरपर्यासि पूर्ण नहीं होती तबतक उसको पर्यास नहीं कहते; किन्तु निर्वृत्यपर्यास कहते हैं। भावार्थ—इन्द्रिय श्वासोऽश्वास भाषा और मन इन पर्यासियोंके पूर्ण नहीं होनेपर भी यदि शरीरपर्यासि पूर्ण होगई है तो वह जीव पर्यास ही है; किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्यपर्यासक कहा जाता है।

लब्ध्यपर्यासका स्वरूप दिखाते हैं ।

उदये दु अपुणणस्स य सगसगपञ्जतियं ण णिठवदि ।

अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपञ्जत्तगो सो दु ॥ १२१ ॥

उदये तु अपूर्णस्य च स्वकस्त्वकपर्यासीनिष्ठापयति ।

अन्तर्मुहूर्तमरणं लब्ध्यपर्यासकः स तु ॥ १२१ ॥

अर्थ—अपर्यास नामकर्मके उदय होनेसे जो जीव अपने योग्य पर्यासियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तकालमें ही मरणको प्राप्त होजाय उसको लब्ध्यपर्यासक कहते हैं । **भावार्थ—**जिन जीवोंका अपर्यास नामकर्मके उदयसे अपने २ योग्य पर्यासियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होजाय उनको लब्ध्यपर्यासक कहते हैं । इस गाथामें जो तु शब्द पडा है उससे इस प्रकारके जीवोंका अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होता है, और दूसरे चकारसे इन जीवोंकी जनन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्रही है, ऐसा समझना चाहिये । यदि अन्तर्मुहूर्त एक शासके अठारहवें भागप्रमाण है । इस प्रकारके लब्ध्यपर्यासक जीव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सर्वहाँस पाये जाते हैं ।

यदि एक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्ध्यपर्यासक अवस्थामें ज्यादेसे ज्यादे भवोंको धारण करे तो कितने करसकता है ? यह बताते हैं ।

तिष्णिणसया छत्तीसा छावड्डिसहस्रगाणि मरणाणि ।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२२ ॥

त्रीणि शतानि पृथ्विशत् पृथ्विष्ठसहस्रकाणि मरणानि ।
अन्तर्मुहूर्तकाले ताक्तंश्वैव क्षुद्रभवाः ॥ १२३ ॥

अर्थ—एक अन्तर्मुहूर्तमें एक लब्ध्यपर्यासक जीव छायासठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवोंका (जन्म) भी धारण कर सकता है । **भावार्थ—**एक लब्ध्यपर्यासक जीव यदि निरन्तर भवोंको धारण करे तो ६५३३६ जन्म और इतने ही मरणोंको धारण कर सकता है । अधिक नहीं करसकता ।

उक्त भवोंमें एकेन्द्रियादिकमेंसे किस २ के कितने २ भवोंको धारण करता है यह बताते हैं ।

सीढी सट्टी ताळं वियले चउबीस हाँति पंचक्खे ।
छावड्डिं च सहस्रा सयं च वर्तीसमेयक्खे ॥ १२४ ॥

अशीतिः पष्ठिः चत्वार्विशद्विक्ले चतुर्विशतिर्वन्ति पंचासे ।
पृथ्विश्व सहस्राणि शतं च द्वार्तिशमेकासे ॥ १२५ ॥

अर्थ—विकलेन्द्रियोंमें द्विन्द्रिय लब्ध्यपर्यासकके ८० भव, तीन्द्रिय लब्ध्यपर्यासकके ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्यासकके ४० और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्यासकके २४, तथा एकेन्द्रियोंके ६६१३२ भवोंको धारण कर सकता है, अधिकको नहीं ।

एकेन्द्रियोंकी संख्याको भी स्पष्ट करते हैं ।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहमपत्तेया ।
एवेसु अपुण्णेसु य एकेके बार खं छक्कं ॥ १२६ ॥

पृथ्वीदकाग्निमालूतसाधारणस्थूलसूक्ष्मप्रत्येकाः ।

एतेषु अपूर्णेषु च एकैकस्मिन् द्वादश खं पट्टकम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म दोनोंही प्रकारके जो पृथ्वी जल अग्नि वायु और साधारण, और प्रत्येक वनस्पति, इसप्रकार सम्पूर्ण भ्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येक (हर-एक) के ६०१२ भेद होते हैं । भावार्थ—स्थूल पृथ्वी सूक्ष्म पृथ्वी स्थूल जल सूक्ष्म जल स्थूल वायु सूक्ष्म वायु स्थूल अग्नि सूक्ष्म अग्नि स्थूल साधारण सूक्ष्म साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति इन भ्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येकके ६०१२ भव होते हैं । इसलिये ११ को ६०१२ से गुणा करनेपर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके उत्कृष्ट भवोंका प्रमाण ६६१३२ निकलता है ।

समुद्रात अवस्थामें केवलियोंके भी अपर्याप्तता कही है सो किस प्रकार हो सकती है यह बताते हैं ।

पञ्चसरीरस्य य पञ्चनुदयस्य कायजोगस्स ।

जोगिस्स अपुण्णतं अपुण्णजोगोति णिद्विदुं ॥ १२५ ॥

पर्याप्तशरीरस्य च पर्याप्त्युदयस्य काययोगस्य ।

येगिनोऽपूर्णत्वमपूर्णयोग इति निर्दिष्टम् ॥ १२९ ॥

अर्थ—जिस सयोग केवलीका शरीर पूर्ण है, और उसके पर्याप्ति नाम कर्मका उदय भी मौजूद है, तथा काययोग भी है, उसके अपर्याप्तता किसप्रकार हो सकती है ? तो इसका कारण योगका पूर्ण न होना ही बताया है । भावार्थ—जिसके अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो, अथवा जिसका शरीर पूर्ण न हुआ हो उसको अपर्याप्त कहते हैं । क्योंकि पहले “ जब सरीरमपुण्णं णिवृत्तिअपुण्णो ताव ” ऐसा कह आये हैं । अर्थात् जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तककी अवस्थाको निर्वृत्त्यपर्याप्ति कहते हैं । परन्तु केवलीका शरीर भी पर्याप्त है, और उनके पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी है, तथा काययोग भी मौजूद है, तब उसको अपर्याप्त क्यों कहा ? इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके काययोग आदि सभी मौजूद हैं तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण तीनोंही समुद्रात अवस्थामें योग पूर्ण नहीं है, इस ही लिये उनको आगममें गौणतासे अपर्याप्त कहा है; मुख्यतासे अपर्याप्त अवस्था जहांपर पाई जाती है ऐसे प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्ठा ये चार ही गुणस्थान हैं ।

किस २ गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था पाई जाती हैं ? यह बताते हैं ।

लद्धिअपुण्णं मिच्छे तत्थवि विदिये चउत्थछडे य ।

णिवृत्तिअपञ्चती तत्थवि सेसेषु पञ्चती ॥ १२६ ॥

लब्ध्यपूर्णे पिश्यात्वे तत्रापि द्वितीये चतुर्थपष्ठे च ।

निर्वृत्यपर्याप्तिः तत्रापि शेषेषु पर्याप्तिः ॥ १२६ ॥

अर्थ—लब्ध्यपर्याप्तक मिश्यात्वे गुणस्थानमें ही होते हैं । निर्वृत्यपर्याप्तक प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छठे गुणस्थानमें होते हैं । और पर्याप्तिः उक्त चारों और शेष सभी गुणस्थानमें पाई जाती है । भावार्थ—प्रथम गुणस्थानमें लब्ध्यपर्याप्ति निर्वृत्यपर्याप्ति पर्याप्तिः तीनों अवस्था होती हैं । सासादन असंयत और प्रमत्तमें निर्वृत्यपर्याप्ति पर्याप्तिः ये दो अवस्था होती हैं । उक्त तथा शेष सब ही गुणस्थानमें पर्याप्ति पाई जाती है । प्रमत्त गुणस्थानमें जो निर्वृत्यपर्याप्ति अवस्था कही है, वह आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षासे है । इस गायामें जो च शब्द पड़ा है । उससे सयोगकेवली भी निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं यह बात गौणतया सूचित की है ।

सासादन और सम्यक्त्वके अभावका नियम कहां २ पर है यह बताते हैं ।

हेट्टिमछपुढवीरिणं जोऽस्तिवणभवणसव्वद्वित्थीरिणं ।

पुणिणदरे पाहि सम्भो ण सासणो णारयापुणो ॥ १२७ ॥

अधःस्तनषट्पुश्चीनां ज्योतिष्कवनभवनसर्वलीणाश् ।

पूर्णेतरस्मिन् न ह सम्यक्त्वं न सासनो नारकार्पो ॥ १२७ ॥

अर्थ—द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकारके देव, तथा सम्पूर्ण ख्रियां इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता । और सासादन सम्यक्त्वी अपर्याप्त नारकी नहीं होता । भावार्थ—सम्यक्त्वसहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देवोंमें और समग्र ख्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता । और सासादनसम्यग्यदृष्टि मरण कर नरकको नहीं जाता ।

इति पर्याप्तिप्ररूपणो नाम तृतीयोऽधिकारः :

अब प्राणप्ररूपणा क्रमप्राप्त है उसमें प्रथम प्राणका निरुक्तिपूर्ण लक्षण कहते हैं ।

बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्दंतरेहिं पाणेहिं ।

पाणांति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिहिंडा ॥ १२८ ॥

बाहप्राणैर्यथा तथैवाभ्यन्तरैः प्राणैः ।

प्राणन्ति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अभ्यन्तरप्राणोंके कार्यभूत नेत्रोंका खोलना, वचनप्रवृत्ति, उच्छ्रूत निःश्वास आदि आद्य प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, उसही प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । भावार्थ—जिनके सद्ग्रावमें जीवमें जीवितपनेका और वियोग होनेपर मरणपनेका व्यवहार

हो उनको प्राण कहते हैं । ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियोंके कार्यरूप हैं—अर्थात् प्राण और पर्याप्तिमें कार्य और कारणका अन्तर है । क्योंकि गृहीत पुद्गलस्कन्ध विशेषोंको इन्द्रिय वचन आदिरूप परिणामवेनकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति, और वचन व्यापार आदिकी कारणभूत शक्तिको, तथा वचन आदिको प्राण कहते हैं ।

प्राणके भेदोंको गिनाते हैं ।

पंचवि इंदियप्राणा मणवचिकायेसु तिणिण बलप्राणा ।

आणायाणप्राणा आउगपाणेण हाँति दस प्राणा ॥ १२९ ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणाः मनोबचः कायेषु त्रयो बलप्राणाः ।

अनापानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥ १२९ ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियप्राण—सर्शन रसन ध्राण चक्षुः श्रोत्र । तीन बलप्राण—मनोबल वचनबल कायबल । श्वासोच्चुम्बुस तथा आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं ।

द्रव्य और भाव दोनोंही प्रकारके प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री बताते हैं ।

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था पोइंदियेंदियेसु बला ।

देहुदये कायाणा वचीबला आउ आउदये ॥ १३० ॥

वीर्यगुतमतिक्षेपशमोत्था नोइन्द्रियेन्द्रियेषु बलाः ।

देहुदये कायानौ वचोबल आयुः आयुरुदये ॥ १३० ॥

अर्थ—मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे उत्पन्न होते हैं । शरीरनामकर्मके उदयसे कायबलप्राण होता है । श्वासोच्चुम्बुस और शरीरकर्मके उदयसे प्राण—श्वासोच्चुम्बुस उत्पन्न होते हैं । स्वरनामकर्मके साथ शरीर नामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण होता है । आयु कर्मके उदयसे आयुःप्राण होता है । भावार्थ—वीर्यान्तराय और अपने २ मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले मनोबल और इन्द्रियप्राण, निज और पर पदार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ लब्धिनामक भावेन्द्रिय रूप होते हैं । इस ही प्रकार अपने २ पूर्वोक्त कारणसे उत्पन्न होनेवाले कायबलादिक प्राणोंमें शरीरकी चेष्टा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यरूप कायबलप्राण, श्वासोच्चुम्बुसकी प्रवृत्तिमें कारणभूत शक्तिरूप श्वासोच्चुम्बुस प्राण, वचनव्यापारको कारणभूत शक्तिरूप वचोबल प्राण, नरकादि भव धारण करनेकी शक्तिरूप आयुःप्राण होता है ।

प्राणोंके स्वामियोंको बताते हैं ।

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा ।

बीइंदियादिपुण्णे वचीमणो सणिणपुण्णेव ॥ २३१ ॥

इन्द्रियकायांयि च पूर्णपूर्णेषु पूर्णके आनः ।

द्वीन्द्रियादिर्णे वचः मनः संज्ञिर्णे एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इन्द्रिय काय आयु में तीन प्राण, पर्यास और अपर्यास दोनोंही के होते हैं । किन्तु श्वासेच्छास पर्यासके ही होता है । और वचनबल प्राण पर्यास द्वीन्द्रियादिके ही होता है । तथा मनोबल प्राण संज्ञिर्णपर्यासके ही होता है ।

एकेन्द्रियादि जीवोंमें किसके कितने प्राण होते हैं इसका नियम बताते हैं ।

दस सण्णिर्णं पाणा सेसेगूर्णतिमस्स वेऊणा ।

पञ्चतेसिदरेसु य सत्त दुर्ग सेसगौर्णणा ॥ १३२ ॥

दश संज्ञिनां प्राणाः शेषैकोनमनिमस्य व्युत्ताः ।

पर्यातेष्वितरेषु च सप्त द्विके शेषकैकोनाः ॥ १३३ ॥

अर्थ—पर्यास संज्ञिपचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं । शेषके पर्यासकोंके एक २ प्राण कम होता जाता है; किन्तु एकेन्द्रियोंके दो कम होते हैं । अपर्यासक संज्ञि और असंज्ञी पंचेन्द्रियके सात प्राण होते हैं और शेषके अपर्यास जीवोंके एक २ प्राण कम होता जाता है । भावार्थ—पर्यास संज्ञिपचेन्द्रियके सबही प्राण होते हैं । असंज्ञिके मनोबलप्राणको छोड़कर वाकी नव प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रियको छोड़कर आठ, और त्रीन्द्रियके चक्षुको छोड़कर वाकी सात, द्वीन्द्रियके व्यानको छोड़कर वाकी छह, और एकेन्द्रियके रसनेन्द्रिय तथा वचनबलको छोड़कर वाकी चार प्राण होते हैं । यह सम्झूल कथन पर्यासककी अपेक्षासे है । अपर्यासकोंमें कुछ विशेषता है । वह इस प्रकार है कि संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रियके श्वासेच्छास बचोबल मनोबलको छोड़कर वाकी पांच इन्द्रिय कायबल आयुःप्राण इसप्रकार सात प्राण होते हैं । आगे एक २ कम होता गया है—अर्थात् चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोड़कर वाकी ६ प्राण, त्रीन्द्रियके चक्षुः को छोड़कर ५, और द्वीन्द्रियके व्यानको छोड़कर ४, तथा एकेन्द्रियके रसनाको छोड़कर वाकी तीन प्राण होते हैं ।

इति प्राणप्ररूपणो नाम चतुर्थोऽधिकारः ।



इह जाहि बाहियावि य जीवा पावंति दारुणं दुःखं ।

सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥ १३४ ॥

इह यापिर्वापिता अपि च जीवाः प्राप्नुन्ति दारुणं दुःखम् ।

सेवमाना अपि च उभयस्मिन् ताश्वतसः संज्ञाः ॥ १३५ ॥

अर्थ—जिनसे संक्षेपित होकर जीव इस लोकमें और जिनके विषयका सेवन करनेसे दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखको प्राप्त होता है उनको संज्ञा कहते हैं । उसके चार भेद हैं ।

भावार्थ—संज्ञानाम वांछाका है, जिसके निमित्तसे दोनोही भवेंमें दारुण दुःखकी प्राप्ति होती है उस वांछाको संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं, आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा।

आहारसंज्ञाका स्वरूप बताते हैं।

आहारदंसणेण य तस्मुवजोगेण ओमकोठाए ।

सादिदरुदीरणाए हवादि हु आहारसण्णा हु ॥ १३४ ॥

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ट्या ।

सातेरोदीरण्या भवति हि आहारसंज्ञा हि ॥ १३४ ॥

अर्थ—आहारके देखनेसे अथवा उसके उपयोगसे और पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयके उदय और उदीर्ण होनेपर जीवके नियमसे आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है। **भावार्थ**—किसी उत्तम रसयुक्त आहारके देखनेसे अथवा पूर्वनुभूत भोजनका स्मरण करनेसे यद्वा पेटके खाली होनानेसे और असाता वेदनीयके उदय और उदीर्णसे इत्यादि और भी अनेक कारणोंसे आहारसंज्ञा अर्थात् आहारकी वांछा उत्पन्न होती है।

भयसंज्ञाके कारण और उसका स्वरूप बताते हैं।

अङ्गभीमदंसणेण य तस्मुवजोगेण ओमसत्तीए ।

भयकम्भुदीरणाए भयसण्णा जायदे चढुहिं ॥ १३५ ॥

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमस्त्वेन ।

भयकम्भोदीरण्या भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः ॥ १३५ ॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थके देखनेसे, अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थके स्मरणादिसे, यद्वा शक्तिके हीन होनेपर, और अंतरंगमें भयकर्मकी उदय उदीर्ण होनेपर इत्यादि कारणोंसे भयसंज्ञा होती है।

मैथुनसंज्ञाको बताते हैं।

पणिदरसभयोणेण य तस्मुवजोगे कुशीलसेवाए ।

वेदस्मुदीरणाए मेहुणसण्णा हवादि एवं ॥ १३६ ॥

प्रणितरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया ।

वेदस्मुदीरण्या मैथुनसंज्ञा भवति एवम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करनेसे, और पहले भुक्त विषयोंका स्मरण आदि करनेसे, तथा कुशीलका सेवन करनेसे और वेद कर्मका उदय उदीर्ण आदिसे मैथुनसंज्ञा होती है।

परिग्रह संज्ञाका वर्णन करते हैं।

उवयरणदंसणेण य तस्मुवजोगेण मुच्छिदाए य ।

लोहस्मुदीरणाए परिग्रहे जायदे सण्णा ॥ १३७ ॥

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्च्छिता, ये च ।

लोभस्योदीरणया परिग्रहं जायते संज्ञा ॥ १३७ ॥

अर्थ——इति भोजन उत्तम गत्वा ल्ली आदि भोगोपयोगके साधनभूत पदार्थोंके देखनेसे अथवा पहले भुक्त पदार्थोंका स्मरण करनेसे, और ममल परिणामोंके होनेसे, लोभकर्मका उदय उदीर्ण होनेसे, इत्यादि कारणोंमें परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है ।

किस जीवके कौना? संज्ञा होती है यह बताते हैं ।

णडपमाए पठमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा ।

सेसा कम्मतिथेणुबयारेणतिथ णहि कज्जे ॥ १३८ ॥

नष्टप्रमादे प्रथमा संज्ञा न हि तत्र कारणाभावात् ।

शेषाः कर्मस्तित्वेनोपचारेण सन्ति न हि कार्ये ॥ १३८ ॥

अर्थ——अप्रमत्त गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि वहांपर उसका कारण असातवेदनीय कर्मका उदय नहीं है । और शेषकी तीन संज्ञा उपचारसे वहांपर होती हैं । क्योंकि उनका कारण कर्म वहांपर, मैनूद है । किन्तु उनका कार्य वहांपर नहीं होता । भावार्थ—साता असाता वेदनीय और मनुष्य आयु इन तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा प्रमत्तविरतमें ही होती है—आगे नहीं । इसलिये सातवें गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं है । किन्तु शेष तीन संज्ञा उपचारसे होती हैं, वास्तविक नहीं । क्योंकि उनका कारणभूत कर्म वहांपर है । किन्तु भागना रतिक्रीडा परिग्रहस्तीकार आदिमें प्रवृत्तिरूप उनका कार्य नहीं है । क्योंकि वहांपर ध्यान अवस्था ही है । अन्यथा कभी भी ध्यान न हो सकेगा, और कर्मोंका क्षय तथा मुक्तिकी प्राप्ति भी नहीं होसकेगी ।

इति संज्ञाप्रस्तुपणो नाम पञ्चमोऽधिकारः ।

अथ मङ्गलपूर्वक क्रमप्राप्त मार्गणा महाधिकारको कहते हैं ।

धम्मगुणमगणाहयमोहारिचिलं जिणं णमंसित्ता ।

मग्गणमहाहियारं विविहियारं भणिस्सामो ॥ १३९ ॥

धम्मगुणमार्गणाहतमोहारिचिलं जिनं नमसित्वा ।

मग्गणमहाधिकारं विविधाधिकारं भणिष्यामः ॥ १३९ ॥

अर्थ——सम्यदर्शनादि अथवा उत्तमक्षमादि धर्मरूपी धनुष, और ज्ञानादि गुणरूपी प्रत्यंचा (ढोरी), तथा चौदह मार्गणरूपी वाणोंसे जिसने मोहरूपी शत्रुके बलको नष्ट करदिया है इसप्रकारके जिनेन्द्रेदेवकी नमस्कार करके, मार्गणा महाधिकारका जिसमें कि और भी अनेक अधिकारोंका अन्तर्भाव होता है, वर्णन करुंगा ।

इसप्रकार मार्गणानिरूपणकी प्रतिज्ञा करके प्रथम उसका (मार्गणाका) निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

जाहि व जासु व जीवा भरिगज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणां होंति ॥ १४० ॥

याभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः ।
ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवन्ति ॥ १४० ॥

अर्थ—जिसप्रकारसे प्रवचनमें देखेगने हों उसही प्रकारसे जीवादि पदार्थोंका जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें विचार किया जाय वे ही मार्गणा हैं, ऐसा समझना चाहिये । उनके चौदह भेद हैं ।

चौदह मार्गणार्थोंके नाम बताते हैं ।

गद्धांदियेसु काये जोगे वेदं कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्सामवियासम्मत्सषिणआहारे ॥ १४१ ॥
गतिन्द्रियेषु काये योगे वेदे कपायज्ञाने च ।
संयमदर्शनलेश्याभव्यतासम्यक्त्वसंश्याहारे ॥ १४१ ॥

अर्थ—गति इन्द्रिय काय योग वेद कपाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा आहार, ये चौदह मार्गणा हैं ।

अन्तरमार्गणार्थोंके भेद तथा उनके कालका नियम बताते हैं ।

उवसमसुहमाहारे वेगुविवियमिस्सणरअपज्ञते ।
सासणसम्मे मिस्से सांतरगा मग्गणा अटु ॥ १४२ ॥
उपशमसूक्ष्माहारे वैगूर्विकमिश्रनरापर्योगे ।
सासनसम्यक्त्वे मिश्रे सान्तरका मार्गणा अष्ट ॥ १४२ ॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व सूक्ष्मसांपराय आहारकयोग आहारकमिश्रयोग वैकियिकमिश्र अपर्याप्त मनुष्य सासादनसम्यक्त्व मिश्र ये अन्तरमार्गणा हैं ।

उक्त आठ अन्तरमार्गणार्थोंका उत्कृष्ट और जघन्य काल बताते हैं ।

सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्त च चारसमुहूर्ता ।
पल्लासंखं तिष्ठं वरमवरं एकसमयो दु ॥ १४३ ॥
सप्तदिनानि षष्मासा वर्षपृथक्त्वं च द्वादशमुहूर्ताः ।
पल्यासंख्यं त्रयाणां वरमवरमेकसमयस्तु ॥ १४३ ॥

अर्थ—उक्त आठ अन्तर मार्गणार्थोंका उत्कृष्ट काल क्रमसे सात दिन, उह महीना,

पृथक्त्व वर्ष, पृथक्त्व वर्ष, वारहमुहूर्त और अन्तकी तीन मार्गणियोंका काल पल्यके असंख्यात्में भाग है । और जघन्य काल सबका एक समय है । भावार्थ—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल सात दिन, सूक्ष्मसांप्रायका उह महीना, आहारक्योगका पृथक्त्ववर्ष, तथा आहारक्यमिश्रका पृथक्त्ववर्ष, वैकियिव मिश्रका चारह मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्यका पल्यके असंख्यात्में भाग, तथा सासादन सम्यक्त्व और मिश्र इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अंतरकाल पल्यके असंख्यात्में भाग है । और जघन्य काल सबका एक समय ही है ।

अंतरमार्गणामिश्रोंको दिखाते हैं ।

पद्मुवसमसहिदाए विरदाविगदीए चोहसा दिवसा ।
विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोधवो ॥ १४४ ॥

प्रथमोपशमसहिताया विरताविरतेश्वरुदर्श दिवसाः ।

विरतेः पञ्चदशा विरहितकालस्तु बोद्धव्यः ॥ १४४ ॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छठे सातमें गुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल पंद्रह दिन समझना चाहिये । भावार्थ—उपशम सम्यक्त्वके दो भेद हैं, एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । चार अनन्तानुबन्धी तथा एक दर्शनमोहनीय (मिश्रात्म) के, अथवा तीनों दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धी, इस प्रकार पांच या सातके उपशमसे जो हो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । और अनन्तानुबन्धी चतुष्काला विसंयोजन और दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम होनसे जो सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इनमेंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छठे सातमें गुणस्थानका पंद्रह दिन है । किन्तु जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय ही है ।

गतिमार्गणाका प्रारम्भ करते हुए प्रथम गतिशब्दकी निरुक्ति और उसके भेदोंको गिनाते हैं ।

गङ्गाउदयजपज्ञाया चउगङ्गमणस्सहेउ वा हु गर्व ।

णारयतिरिक्खमाणुसदेवगङ्गतिय हवे चदुधा ॥ १४५ ॥

गत्युदयनपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः ।

नारकतिर्यमानुपदेवगतिरिचि च भवेत् चतुर्धा ॥ १४५ ॥

अर्थ—गतिनाम कर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको अथवा चारों गतियोंमें गमन करनेके कारणको गति कहते हैं । उसके चार भेद हैं, नरकगति तिर्यगति मनुष्यगति देवगति ।

गतिमार्गामें कुछ विशेष (चारों गतियोंका पृथक् २) वर्णन पाच गाथाओं द्वारा करते हैं ।

ण रमांति जदो णिच्चं दव्वे खेते य कालभावे य ।

अण्णोण्णोहिं य जहा तहा ते णारया भणिया ॥ १४६ ॥

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च ।

अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्माते नारता भणिताः ॥ १४६ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावमें स्वयं तथा परस्परमें प्रीतिको प्राप्त नहीं होते अतएव उनको नारत (नारकी) कहते हैं । भावार्थ—शरीर और इन्द्रियके विषयोंमें; उत्पत्ति शयन विहार उठने बैठने आदिके स्थानमें, भोजन आदिके समयमें, अथवा और भी अनेक अवस्थाओंमें जो स्वयं अथवा परस्परमें प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं । इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्तिसिद्ध अर्थ समझना चाहिये । अर्थात् जो नरकगतिनाम कर्मके उदयसे हों उनको, अथवा (नरान्) मनुष्योंको (कायन्ति) क्लेश पहुंचावें उनको नारक कहते हैं । क्योंकि नीचे सातो ही भूमियोंमें रहनेवाले नारकी निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पांच प्रकारके दुःखोंसे दुर्खी रहते हैं ।

तिर्यग्नांति स्वरूप बताते हैं ।

तिरियंति कुटिलभावं सुविडलसणा णिगिडिमण्णाणा ।

अञ्जंतपापबहुलातहा तेरिच्छ्या भणिया ॥ १४७ ॥

तिरोञ्चन्ति कुटिलभावं सुविवृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः ।

अत्यन्तपापबहुलास्तस्मात्तरथका भणिताः ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो मन वचन कायकी कुटिलताको प्राप्त हों, अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्योंको अच्छीतरह प्रकट हो, और जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंति कहते हैं । भावार्थ—जिनमें कुटिलताकी प्रधानता हो, क्योंकि प्रायःकरके सबही तिर्यंति जो उनके मनमें होता है उसको वचनद्वारा नहीं कहते; क्योंकि उनके उसप्रकारकी वचनशक्ति ही नहीं है, और जो वचनसे कहते हैं उसको कायसे नहीं करते, तथा जिनकी आहारादिसंज्ञा प्रकट हो, और श्रुतका अभ्यास तथा शुभोपयोगादिके न करसकनेसे जिनमें अत्यन्त अज्ञानता पाई जाय । तथा मनुष्यकी तरह महात्रतादिको धारण न करसकने और दर्शनविशुद्धि आदिके न होसकनेसे जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंति कहते हैं ।

मनुष्यगतिका स्वरूप बताते हैं ।

मण्णांति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुकृडा जहा ।

मणणुब्भवा य सव्वे तहा ते माणुसा भणिदा ॥ १४८ ॥

मन्यन्ते यतो नित्य मनसा निषुणा मनसोल्कटा यस्मात् ।

मनूद्वाश्च सर्वे तस्माते मानुषा भणिताः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो नित्य ही हेय उपादेय तत्त्व अतत्त्व धर्म अधर्मका विचार करें, और जो मनके द्वारा गुणदेवादिका विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मनके विषयमें उत्कृष्ट हों, तथा युग-सी आदिमें जो मनुओंसे उत्पन्न हुए हों उनको मनुष्य कहते हैं । **भावार्थ—** मनका विषय तीव्र होनेसे गुणदेवादिका विचार स्मरण आदि जिनमें उत्कृष्ट रूपसे पाया जाय, तथा चतुर्थ कालकी आदिमें आदीश्वर भगवान् तथा कुलकर्तोंने उनको व्यवहारका उपदेश दिया इसलिये जो आदीश्वर भगवान् अथवा कुलकर्तोंकी संतान कहे जाते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं । इस गाथामें एक यतः शब्द है दूसरा यस्मात् शब्द है, अर्थ दोनोंका एक ही होता है, इसलिये एक शब्द व्यर्थ है; वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करता है कि लक्ष्यपर्याप्तक मनुष्योंमें यद्यपि यह लक्षण घटित नहीं होता तथापि उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयुकर्मके उदयमात्रकी अपेक्षासे ही मनुष्य कहते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

तिर्यच तथा मनुष्योंके भेदोंको गिनाते हैं ।

सामरणा पंचिंदी पञ्जता जोणिणी अपञ्जता ।

तिरिया परा तहावि य पंचिंदियमंगदो हीणा ॥ १४९ ॥

सामान्याः पंचेन्द्रियाः पर्यासाः योनिमत्यः अपर्यासाः ।

तिर्यच्छो नरास्तथापि च पंचेन्द्रियभंगतो हीनाः ॥ १४९ ॥

अर्थ—तिर्यचोंके पांच भेद हैं, सामान्यतिर्यच पंचेन्द्रियतिर्यच पर्यासतिर्यच योनिमत्ति-तिर्यच और अपर्यासतिर्यच । इसही प्रकार मनुष्यके भी पंचेन्द्रियके भंगको छोड़कर बाकी चार भेद होते हैं । **भावार्थ—**तिर्यचोंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षी एकेन्द्रियादि जीवोंकी सम्भावना है इससिये तिर्यचोंमें पंचेन्द्रियके भंगसहित पांच भेद हैं, किन्तु मनुष्योंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षकी सम्भावना नहीं है इसलिये उनके सामान्यमनुष्य पर्यासमनुष्य योनिमत्ति-मनुष्य अपर्यासमनुष्य इसप्रकार चार ही भेद होते हैं ।

देवोंका स्वरूप बताते हैं ।

दीव्यांति जदो णिच्चं गुणेहिं अद्वेहिं दिव्यभावेहिं ।

भासंतदीव्यकाया तह्वा ते वणिणया देवा ॥ १५० ॥

दीव्यन्ति यतो नित्य गुणैरण्यभिर्देव्यभावैः ।

भासमानदीव्यकायाः तस्माते वर्णिता देवाः ॥ १५० ॥

अर्थ—जो देवगतिमें होनेवाले परिणामोंसे सदा सुखी रहते हैं । और अणिमा महिमा

आदि आठ गुणों (क्रद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूपसे विहार करते हैं । और जिनका रूप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहे उनको परमागममें देव कहा है ।

इसप्रकार संसारसम्बन्धी चारों गतियोंका स्वरूप बताकर अब संसारसे विलक्षण पांचमी सिद्धगतिका स्वरूप बताते हैं ।

जाइजरामरणभया संजोगविजोगदुःखसण्णाऽतो ।

रोगादिगाय जिस्से ण सांति सा होदि सिद्धगई ॥ १५१ ॥

जातिजरामरणभयाः संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः ।

रोगादिकाश्च यस्यां न सन्ति सा भवति सिद्धगतिः ॥ १५१ ॥

अर्थ—पचेन्द्रियादि जाति तुद्धा मरण भय अनिष्टसंयोग इष्टवियोग इनसे होनेवाला दुःख आहारादिविषयक संज्ञा (वञ्छा) और रोगादिक जिस गतिमें नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं । भावार्थ—एकेन्द्रियादि जाति, आयुःकर्मके घटनेसे शरीरके शिथिल होनेरूप जरा, आयुःकर्मके अभावसे होनेवाला प्राणत्यागरूप मरण, अनर्थकी आशंका करके अपकारक वस्तुसे भागनेकी इच्छारूप भय, क्षेत्रके कारणभूत अनिष्ट पदार्थ की प्राप्तिरूप संयोग, सुखके कारणभूत इष्ट पदार्थके दूर होनेरूप वियोग इन्द्यादि दुःख, और आहारसंज्ञा आदि तीनसंज्ञा, (क्योंकि भयसंज्ञाका पृथक् ग्रहण हो चुका है), खांसी आदि अनेक रोग, तथा आदिशब्दसे मानसंग वध बन्धन आदि दुःख जिस गतिमें अपने २ कारणभूत कर्मके अभाव होनेसे नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं ।

गतिमार्गणामें जीवसंस्त्याका वर्णन करनेकी इच्छासे प्रथम नरकगतिमें जीवसंस्त्याका वर्णन करते हैं ।

सामण्णा पेरह्या घणअंगुलबिदियमूलगुणसेढी ।

बिदियादि बारदसअड्डचिदुणिजपदहिवा सेढी ॥ १५२ ॥

सामान्या नैरयिका वनाङ्गुलद्वितीयमूलगुणश्रेणी ।

द्वितीयादिः द्वादशदशाष्टपृत्रिद्विनिजपदहिता श्रेणी ॥ १५२ ॥

अर्थ—सामान्यसे सम्पूर्ण नारकियोंका प्रमाण धैनाङ्गुलके दूसरे वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है । द्वितीयादि पृथिवियोंमें होनेवाले नारकियोंका प्रमाण क्रमसे अपने बारहमे दशमे आठमे छेड़ तीसरे दूसरे कर्ममूलसे भक्त जगच्छ्रेणीप्रमाण समझना चाहिये । भावार्थ—वनाङ्गुलके दूसरे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उतने ही सातो पृथिवियोंके नारकी हैं । इसमेंसे द्वितीयादिक पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बतानेके लिये कहते हैं कि अपने अर्थात् जगच्छ्रेणीका जितना प्रमाण है

१ इस प्रन्थके अन्तमे गणितका प्रकरण लिखेंगे बहापर इन सबका प्रमाण स्वप्न रूपसे बताया जायगा ।

उसके बारहमें वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें ही भागदेनेसे जो लब्ध आवे उतने ही दूसरी पृथिवीके नारकी हैं । इस ही प्रकार दशमें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने तीसरी पृथिवीके, और आठमें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने चौथी पृथिवीके, तथा छठे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उनने पांचमी पृथिवीके, और तीसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने छठी पृथिवीके, तथा दूसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने सातमी पृथिवीके नारकी होते हैं । यह उल्कष संख्याका प्रमाण है—अर्थात् एक समयमें जादेसे जादेसे इतने नारकी हो सकते हैं ।

इसतरह नीचेकी छह पृथिवीयोंके नारकियोंका प्रमाण बताकर अब प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण बताते हैं ।

हेष्टुपुढुवीणं रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पदमावणिहि रासी पेरहयाणं तु गिदिङु ॥ १५३ ॥

अधस्तनष्टपृथिवीनां राशिविहीनस्तु र्सवराशिस्तु ।

प्रथमावनौ राशिः नैरयिकाणां तु निर्विष्टः ॥ १५३ ॥

अर्थ——नीचेकी छह पृथिवीयोंके नारकियोंका जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारक-राशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना ही प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण है ।

तिर्यग्नीयोंकी संख्या बताते हैं ।

संसारी पञ्चक्ष्वा तप्पुण्णा तिगदिहीण्या कमसो ।
सामण्णा पञ्चिदी पञ्चिदियपुण्णतेरिक्खा ॥ १५४ ॥

संसारिणः पञ्चाक्षास्तत्पूर्णाः त्रिगतिहीनकाः कमशः ।

सामान्याः पञ्चेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियपूर्णतैरश्चाः ॥ १५४ ॥

अर्थ——सम्पूर्ण जीवराशिमेंसे सिद्धराशिको घटानेपर जितना प्रमाण रहे उतना ही संसारराशिका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे नारक मनुष्य देव इन तीन राशियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना ही सामान्य तियोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण पञ्चेन्द्रियोंमेंसे उक्त तीन गतिके पञ्चेन्द्रियोंको घटानेपर जो शेष रहें उतने पञ्चेन्द्रिय तियच हैं । तथा पञ्चेन्द्रिय पर्यातिकोंके प्रमाणमेंसे उक्त तीन गतिके पञ्चेन्द्रिय पर्यात जीवोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहें उतने ही पर्यात तिर्यक पञ्चेन्द्रिय जीव हैं ।

छस्सयजोयणकदिहिदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं ।
पुण्णूणा पञ्चक्ष्वा तिरियअपज्ञतपरिसंखा ॥ १५५ ॥

षट्शतयोजनकृतिहितजगत्प्रतरं योनिमतीनां परिमाणम् :

पूर्णोनाः पञ्चाक्षाः तिर्थगपर्यापरिसंस्थ्या ॥ १९९ ॥

अर्थ— छहसौ योजनके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही योनिमती तिर्थचेंका प्रमाण है । और पंचेन्द्रिय तिर्थचेंकमेंसे पर्याप्त तिर्थचेंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्थचेंका प्रमाण है ।

मनुष्योंका प्रमाण बतानेके लिये तीन गाथाओंको कहते हैं ।

सेढीसुइअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा ।

सामण्णमणुसरासी पंचमकदिघणसमा पुण्णा ॥ १५६ ॥

श्रेणी सूच्यङ्गुलादिमतृतीयपदभाजितैकोना ।

सामान्यमनुपर्याशिः पञ्चमकृतिग्रन्थसमाः पूर्णः ॥ १५६ ॥

अर्थ— सूच्यङ्गुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलका जगच्छेष्टीमें भाग देनेसे जो शेष रहे उसमें एक और घटानेपर जो शेष रहे उतना सामान्य मनुष्य राशिका प्रमाण है । इसमें द्विरूपवर्गधारामें उत्पन्न पांचमे वर्ग (वादाल) के वनप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है ।

पर्याप्त मनुष्योंकी संख्याको स्पष्टरूपसे बताते हैं ।

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेषु ।

तटहरिखद्वासा होंति हु माणुसपञ्जत्तसंसंखंका ॥ १५७ ॥

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेषु ।

तटहरिखद्वासा भवन्ति हि मानुषपर्याप्तसंस्थ्याङ्काः ॥ १५७ ॥

अर्थ— तकारसे लेकर सकारपर्यन्त नितने अक्षर इसगाथामें बताये हैं, उतने ही अङ्कप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या है । भावार्थ—इस गाथामें तकारादि अक्षरोंसे अङ्कोंका ग्रहण करना चाहिये, परन्तु किस अक्षरसे किस अङ्कका ग्रहण करना चाहिये इसके लिये “ कठपयपुरस्थवर्णनवरपंचाष्टकलिपतैः क्रमेशः । स्वरञ्जनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ”, यह गाथा उपयोगी है । अर्थात् कसे लेकर आगेके झ तकके नव अक्षरोंसे क्रमसे एक दो आदि नव अङ्क समझने चाहिये । इस ही प्रकार टसे लेकर नव अक्षरोंसे नव अङ्क, और पसे लेकर पांच अक्षरोंसे पांच अङ्क, तथा यसे लेकर आठ अक्षरोंसे आठ अङ्क, एवं सोलह स्वर और वर इनसे शून्य (०) समझना चाहिये । किन्तु मात्रा और उपरका अक्षर, इसमें कोई भी अङ्क ग्रहण नहीं करना चाहिये । इस नियमके और “ अङ्कोंकी विपरीत गति होती है ” इस नियमके अनुसार इस गाथामें कहे हुए अक्षरोंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या ७९२२८१६३९१४२६४३३७५९३६४१२६०३३६ निकलती है

मानुषी तथा अपर्याप्त मनुष्योंकी संख्या बताते हैं ।

पञ्चत्तमणुसाराणं तिचउत्थो माणुसीण पारेमाणं ।

सामर्थ्याणा पुण्याणा मणुवअपञ्चत्तगा होंति ॥ १५८ ॥

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिन्तुर्मो मानुषीणां परिमाणम् ।

सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवन्ति ॥ १५९ ॥

अर्थ—पर्याप्त मनुष्योंका जितना प्रमाण है उसमें तीन चोथाई ($\frac{3}{4}$) मानुषियोंका प्रमाण है । सामान्य मनुज्ञाशिमेरो पर्याप्तकोंका प्रमाण आठनेपर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है ।

इसप्रकार चारों ही प्रकारके मनुष्योंकी संख्या बताकर अब देवगतिके जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

तिणिणसयज्ञोयणाणं वेसदछप्पण्ण अंगुलाणं च ।

कदिहिदपदरं वेंतरजोहसियाणं च परिमाणं ॥ १५९ ॥

त्रिशतयोजनानां द्विशतषटपञ्चाशदङ्गुलानां च ।

कृतिहितप्रतरं व्यन्तरज्योतिष्काणां च परिमाणम् ॥ १६० ॥

अर्थ—तीनसौ योजनेके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना व्यन्तरदेवोंका प्रमाण है । और २९६ प्रमाणाङ्गुलोंके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ज्योतिषियोंका प्रमाण है ।

घणअङ्गुलपदमपदं तदियपदं सेद्धिसंगुणं कमसो ।

भवणे सोहम्मङ्गुगे देवाणं होदि परिमाणं ॥ १६० ॥

घनाङ्गुलप्रथमपदं तृतीयपदं श्रेणिसंगुणं क्रमशः ।

भवने सौधर्मद्विके देवानां भवति परिमाणम् ॥ १६० ॥

अर्थ—जगच्छ्रौणीके साथ घनाङ्गुलके प्रथम वर्गमूलका गुणा करनेसे भवनवासी, और तृतीय वर्गमूलका गुणा करनेसे सौधर्मद्विकके देवोंका प्रमाण निकलता है ।

तत्त्वे एगारणवसगपणचउनियमूलमाजिदा सेढी ।

पल्लासंखेजादिमा पचेयं आणदादिसुरा ॥ १६१ ॥

तत एकादशनवसपञ्चतुर्मिजमूलभाजिता श्रेणी ।

पल्यासंख्यातकाः प्रत्येकमानितादिसुराः ॥ १६१ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर अपने (जगच्छ्रौणी) ग्यारहमें नवमे सातमे पाचमे चौथे वर्गमूलसे भाजित जगच्छ्रौणी प्रमाण देवोंका प्रमाण है । आनादिकमें प्रत्येक कल्पके देवोंका

^१ यह योजन प्रमाणाङ्गुलकी अपेक्षात्मक है ।

प्रमाण पल्यके असंस्थातमें भाग प्रमाण है। भावार्थ—ऐशान स्वर्गसे आगे सानन्दमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण जगच्छ्रेणीमें जगच्छ्रेणिके भ्यारहमें वर्गमूलका भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतना ही है। इसही प्रकार जगच्छ्रेणीके नवमे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेपर जो लब्ध आने उतना ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंका प्रमाण है, और सातमे वर्गमूल (जगच्छ्रेणीका) का जगच्छ्रेणीमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। पांचमें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। चौथे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सतार सहस्रार स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। आनत प्राणत आरण अच्युत नव ग्रैवेयक नव अनुदिश विजय वैजयंत जयंत अपराजित इन छब्बीस कल्पोंमें देवोंका प्रमाण पल्यके असंस्थातमें भाग है।

सर्वार्थसिद्धिके देवोंका तथा सामान्यदेवराशिका प्रमाण बताते हैं।

तिगुणा सत्त्वगुणा वा सद्वद्वा माणुसीपमाणादो ।

सामरणदेवरासी जोड़सियादो विसेसहिया ॥ १६२ ॥

तिगुणा सत्त्वगुणा वा सर्वार्था मानुषीप्रमाणतः।

सामान्यदेवराशि: ज्योतिषिक्तो विशेषाधिकः ॥ १६२ ॥

अर्थ—मनुष्यस्थिर्योंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सत्त्वगुना सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है। ज्योतिष्क देवोंका जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशिका प्रमाण है। भावार्थ—मानुषियोंसे तिगुना और सत्त्वगुना इसतरह दो प्रकारसे जो सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण बताया है वह दो आचार्योंके मतकी अपेक्षासे है। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंका प्रमाण बहुत अधिक है, शेष तीन जटिके देवोंका प्रमाण बहुत अल्प है इसलिये ऐसा कहा है कि सामान्यदेवराशि ज्योतिषियोंसे कुछ अधिक है।

॥ इति गतिमार्गणाधिकारः ॥

कमप्राप्त इन्द्रियमार्गामें इन्द्रियोंका विषय स्वरूप भेद आदिका वर्णन करनेसे प्रथम उसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ बताते हैं।

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंति मण्णंता ।

ईसंति एकमेकं इंदा इव इंदिये जाण ॥ १६३ ॥

अहमिन्दा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः।

ईशते एकमेन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि ॥ १६३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने २ को स्वामी मानते हैं, उसही प्रकार इन्द्रियां भी हैं। भावार्थ—इन्द्रके समान जो हो उसको इन्द्रिय कहते हैं। इसलिये जिस प्रकार नव ग्रैवेयकादिवासी देव अपने २ विषयोंमें

दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे अर्थात् स्वतन्त्र होनेसे अपने २ को इन्द्र मानते हैं । उस ही प्रकार स्पर्शनादिक इन्द्रियां भी अपने ३ स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरेकी (रसना आदिकी) अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र हैं । अतएव इनको इन्द्रके (अहमिन्द्रके) समान होनेसे इन्द्रिय कहते हैं ।

इन्द्रियके संक्षेपसे भेद और उनका स्वरूप बताते हैं ।

मदिआवरणखओबसमुत्थविसुद्धी हु तजबोहो वा ।
भाविंदियं तु द्रवं देहुदयजदेहचिणहं तु ॥ १६४ ॥

मत्यावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तजबोधो वा ।

भावेन्द्रियं तु द्रवं देहुदयजदेहचिणहं तु ॥ १६४ ॥

अर्थ—इन्द्रियके दो भेद हैं एक भावेन्द्रिय दूसरा द्रव्येन्द्रिय । मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोग-त्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं । और शरीरनामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरके विहृविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

इन्द्रियकी अपेक्षासे जीवोंके भेद कहते हैं ।

फासरसगंधरूपे सदे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।
हागिवितिचदुपंचिंदियजविविषयभिण्णाओ ॥ १६५ ॥

सर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिह्नकं येषाम् ।

एकाद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवा निजभेदभिन्नाः ॥ १६५ ॥

अर्थ—जिन जीवोंके बाह्य निह (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होनेवाला स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन विषयोंका ज्ञान हो उनको क्रमसे एकेन्द्रिय द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुर्न्द्रिय पञ्चेन्द्रिय जीव कहते हैं । और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । भावार्थ—जिन जीवोंके स्पर्शविषयक ज्ञान और उसका अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय मौजूद हो उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं । इस ही प्रकार अपने २ अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रियके साथ ३ जिन जीवोंके रसविषयक ज्ञान हो उनको द्विन्द्रिय, और गंधविषयक ज्ञानवालोंको त्रीन्द्रिय, तथा रूपविषयक ज्ञानवालोंको चतुर्न्द्रिय, और शब्दविषयक ज्ञानवालोंको पञ्चेन्द्रिय जीव कहते हैं । इन एकेन्द्रियादि जीवोंके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । तथा आगे २ की इन्द्रियवालोंके पूर्व ३ की इन्द्रिय अवश्य होती है । जैसे रसनेन्द्रियवालोंको स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य होगी और घ्राणेन्द्रियवालोंके स्पर्शन और रसना अवश्य होगी । इत्यादि पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त ऐसा ही समझना ।

इसप्रकार एकेन्द्रियादि जीवोंके इन्द्रियोंके विषयकी वृद्धिका क्रम बताकर अब इन्द्रिय-
वृद्धिका क्रम बताते हैं ।

एहंदियस्स फुसणं एकं चि य होदि सेसजीवाणं ।
होति कमउद्धियाइं जिभाघाणच्छिसोत्ताइं ॥ १६६ ॥

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानाम् ।

भवन्ति क्रमवृद्धितानि जिभाघाणासिश्रोत्राणि ॥ १६६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है । शेष जीवोंके क्रमसे जिक्षा
घाण चक्षु और श्रोत्र वड़ जाते हैं । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रि-
योंके स्पर्शन रसना (जिभा), त्रीन्द्रियोंके स्पर्शन रसना घाण (नासिका) चतुरिन्द्रियोंके
स्पर्शन रसना घाण चक्षु, और पंचेन्द्रियोंके स्पर्शन रसना घाण चक्षु श्रोत्र होते हैं ।

स्पर्शनादिक इन्द्रियां कितनी दूर तक रखते हुए अपने विषयका ज्ञान कर सकती हैं
यह बतानेके लिये तीन गाथाओंमें इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

धणुर्वीसड़दसयकदी जोयणछादालहीणतिसहस्रा ।

अटुसहस्र धणुणं विसया दुगुणा असणिणाति ॥ १६७ ॥

धनुर्वीशत्यष्टदशककृतिः योजनपृच्छत्वारिंशद्वृन्त्रिसहस्राणि ।

अष्टसहस्रं धनुणं विषया द्विगुणा असंजीति ॥ १६७ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घाण इनका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रमसे चारसौ धनुष चौसठ
धनुष सौ धनुष प्रमाण है । चक्षुका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नवसौ चौअन योजन है ।
और श्रोत्रेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है । और आगे असंजीपर्यन्त
दूना दूना विषय बढ़ता गया है । भावार्थ—एकेन्द्रियोंके स्पर्शनेन्द्रियोंका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र
चारसौ धनुष है । और द्वीन्द्रियादिके वह दूना २ होता गया है । अर्थात् द्वीन्द्रियोंके आठसौ
त्रीन्द्रियोंके सोलहसौ चतुरिन्द्रियोंके बत्तीससौ असंजीपंचेन्द्रियोंके चौंसठसौ धनुष स्पर्शनेन्द्रियोंका
उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है । द्वीन्द्रियोंके रसनेन्द्रियोंका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चौंसठ धनुष है और वह
भी त्रीन्द्रियादिके स्पर्शनेन्द्रियोंके विषयक्षेत्रकी तरह दूना २ होता गया है । इस ही प्रकार
घाण चक्षु और श्रोत्रोंका विषयक्षेत्र भी समझना ।

संज्ञी जीवकी इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

सणिणस्स वार सोदे तेष्हं णव जोयणाणि चक्षुस्स ।

सत्तेतालसहस्रा वेसदतेसद्विमदिरेया ॥ १६८ ॥

संज्ञिनो द्वादश श्रोत्रे त्रयाणां नव योजनानि चक्षुः ।

सप्तत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशत्त्रिष्ठत्तिरेकाणि ॥ १६८ ॥

अर्थ— संज्ञी जीविके स्पर्शन रसन ग्राण इन तीनमें प्रत्येकका विषय क्षेत्र नव २ योजन है । और श्रोत्रेन्द्रियका बाहर योजन, तथा चक्षुका सेंतालीस हजार दोसौ ट्रेसठसे कुछ अधिक उत्कृष्ट विषयक्षेत्र है ।

चक्षुके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रकी उपपत्तिको बताते हैं ।

तिणिणसयसाडिविरहिदलक्खं दसमूलताडिदे मूलम् ।

णवगुणिदे सद्विहिदे चबखुपकासस्स अन्द्राणं ॥ १६९ ॥

विशतषष्ठिविरहितलक्खं दशमूलताडिते मूलम् ।

नवगुणिते षांडहिते चक्षुःस्पर्शस्य अञ्चा ॥ १६९ ॥

अर्थ— तीनसौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीपके विष्कम्भका वर्ग करना और उसका दशगुणा करके वर्गमूल निकालना, इससे जो राशि उत्पन्न हो उसमें नवका गुणा और साठका भाग देनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र निकलता है । भावार्थ—सूर्यका चारक्षेत्र पांचसौ बाहर योजन चौड़ा है । उसमें तीनसौ बत्तीस योजन तो लवणसमुद्रमें हैं और शेष एकत्रौ अस्ती योजन जम्बूद्वीपमें हैं । इस लिये जम्बूद्वीपके दोनों भागके तीनसौ साठ योजन क्षेत्रको छोड़कर वाकी निन्यानवे हजार छहसौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विष्कम्भकी परिधि करणसूत्रके अनुसार तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन होती है । इस अन्यन्तर परिधिको एक सूर्य अपने भ्रमणके द्वारा साठ मुहूर्तमें समाप्त करता है । और निषधिगिरिके एक भागसे दूसरे भाग तककी अन्यन्तर वीथीको अठारह मुहूर्तमें अपने भ्रमण द्वारा समाप्त करता है । इसके विलकुल वीचमें अयोध्या नारी पड़ती है । इस अयोध्या नगरीके वीचमें बने हुए अपने महलके ऊपरले भागपरसे भरतादि चक्रवर्ती निषधिगिरिके ऊपर अन्यन्तर वीथीमें उदय होते हुए सूर्यके भीतरकी जिन प्रतिबिम्बका दर्शन करते हैं । और निषधिगिरिके उस उदयस्थानसे अयोध्या पर्यन्त उक्तरीतिके अनुसार सूर्यको भ्रमण करनेमें नव मुहूर्त लगते हैं । इसलिये साठ मुहूर्तमें इतने क्षेत्रपर भ्रमण करै तो नव मुहूर्तमें कितने क्षेत्रपर भ्रमण करै ? इसप्रकार बैराशिक करनेसे अर्थात् फलराशि (परिधिका प्रैमाण) और इच्छाराशिका (नव) गुणा कर उसमें प्रमाणराशि साठका भागदेनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र सेंतालीस हजार दोसौ ट्रेसठसे कुछ अधिकै निकलता है । अर्थात् ज्यादेसे ज्यादै इतनी दूर तकका पर्याप्त चक्षुकद्वारा जाना जा सकता है ।

१ “ विक्षम्भवगदहुणकरणी वदस्त परिहो होदि ” अर्थात् विष्कम्भका वितना प्रमाण है उसका वर्गकर दशगुणा करना पीछे उसका वर्गमूल निकालना ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतना ही वृत्तखेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है । २ तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन । ३ साठयोजनके वीच मोरोमेंके एक भाग ।

इन्द्रियोंका विषयकेत्र बताकर अब उनका आकार बताते हैं ।

चक्रवृ सोदं धाणं जिभमायारं मसूरजवणाली ।

अतिमुत्तुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥ १७० ॥

चक्षुःश्रोत्रधाणजिव्हाकारं मसूरयवनाल्य—।

तिमुक्तकुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेकसंस्थानम् ॥ १७० ॥

अर्थ—मसूरके समान चक्षुका जवकी नलीके समान श्रोत्रका तिलके फूलके समान ध्राणका तथा खुरपाके समान जिव्हाका आकार है । और स्पर्शनेन्द्रियके अनेक आकार हैं ।

इन्द्रियोंके (द्रव्येन्द्रियोंके) आकारमें जो आत्माके प्रदेश हैं उनका अवगाहन प्रमाण बताते हैं ।

अङ्गुलअसंख्यभागं संखेजगुणं तदो विसेसहिय ।

ततो असंख्यगुणिदं अंगुलसंखेजयं तच्च ॥ १७१ ॥

अङ्गुलासंख्यभागं संख्यातगुणं ततो विशेषाधिकम् ।

ततोऽसंख्यगुणितमङ्गुलसंख्यातं ततु ॥ १७१ ॥

अर्थ—आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रियकों अवगाहन वनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग-प्रमाण है । और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रियका अवगाहन हैं । श्रोत्रेन्द्रियका जितना प्रमाण है उससे पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक धाणेन्द्रियका अवगाहन है । धाणेन्द्रियके अवगाहनसे पल्यके असंख्यातमे भाग गुणा रसनेन्द्रियका अवगाहन है । परन्तु सामान्यकी अपेक्षा गुणाकार और भागाहरका अपवर्तन करनेसे उक्त चारों ही इन्द्रियोंका अवगाहन प्रमाण वनाङ्गुलके संख्यातमे भागमात्र है ।

स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेशोंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

सुहमणिगोदुअपज्जत्यस्स जादस्स तदिषसमयहि ।

अङ्गुलअसंख्यभागं जहण्णमुक्तस्यं मच्छे ॥ १७२ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्यासकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अङ्गुलासंख्यभागं जघन्यमुक्तकृष्टकं मस्ये ॥ १७२ ॥

अर्थ—स्पर्शनेन्द्रियकी जग्नन्य अवगाहना वनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग प्रमाण है । और यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्यासकके उत्पत्ति होनेसे तीसरे समयमें होती है । उक्तकृष्ट अवगाहना महामत्स्यके होती है, इसका प्रमाण संख्यातवनाङ्गुल है ।

१ द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं, निर्वृति और उपकरण । निर्वृतिके भी दो भेद हैं, बाल तथा आभ्यन्तर । यहांपर आभ्यन्तर निर्वृतिरूप द्रव्येन्द्रियका प्रमाण बताते हैं ।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञानवाले संसारी जीवोंका वर्णन करके अतीनिद्रियज्ञानवालोंका निरूपण करते हैं ।

एवं इंदियकरणजुदा अवग्रहादीहि गाहया अत्थे ।

ऐव य इंदियसोक्ष्मा अणिदियाणंतणाणसुहा ॥ १७३ ॥

नापि इन्द्रियकरणयुता अवग्रहादीभिः ग्राहका अर्थे ।

नैव च इन्द्रियसौख्या अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखाः ॥ १७३ ॥

अर्थ— वे मुक्त ज्ञान इन्द्रियोंकी क्रियासे युक्त नहीं हैं । तथा अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थका ग्रहण नहीं करते । और इन्द्रियजन्य सुखसे भी युक्त नहीं हैं; क्योंकि उन मुक्त जीवोंका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अनिन्द्रिय है । भावार्थ—मुक्त-जीवोंका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह निरावरण है जो सावरण होता है उसको दूसरेकी अपेक्षा होती है । और जो स्वयं अपने कार्यके करनेमें समर्थ है उसको दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । इस ही लिये वे मुक्त जीव इन्द्रियव्यापारसे रहित हैं । और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको अनन्तज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष जानते हैं, अवग्रह ईहा अवाय धारणा स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं जानते । और उनके इन्द्रियजन्य सुख भी नहीं है । क्योंकि उसके कारणभूत प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होतुका है ।

संक्षेपसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

थावरसंख्यपीलियभमरमणुस्सादिगा समेदा ये ।

नुगवारमसंख्येज्ञाणंताणंता पिण्डोदभवा ॥ १७४ ॥

स्थावरशङ्कुपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिकाः समेदा ये ।

युगवारमसंख्येया अनन्तानन्ता निणोदभवाः ॥ १७४ ॥

अर्थ— स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शब्द्व आदिक द्वीनिद्रिय, चीटी आदि श्रीनिद्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादिक पचेन्द्रिय जीव अपने २ अन्तर्भेदोंसे युक्त असंख्यातासंख्यात हैं । और निणोदिया जीव अनन्तानन्त हैं । भावार्थ—त्रस प्रत्येक वनस्पति गृथिकी जल अग्नि वायु इनको छोड़कर वाकी संसारी जीवोंका (सावरण जीवोंका) प्रमाण अनन्तानन्त है । और सावरणको छोड़कर वाकी एकेन्द्रिय स्थावर तथा द्वीनिद्रिय श्रीनिद्रिय चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय इनमें प्रत्येकका प्रमाण जगत्प्रतरके असंख्यातमे भागमात्र असंख्यातासंख्यात है ।

तसहीणो संसारी एयक्ष्मा ताण संखगा भागा ।

पुण्णाणं परिमाणं संखेज्ञदिमं अपुण्णाणं ॥ १७५ ॥

त्रसहीनाः संसारिण एकाक्षास्तेषां संख्यका भागः ।

पर्णानां परिमाणं संस्वेयकमपूर्णानश् ॥ १७५ ॥

अर्थ——संसाराशिमें से त्रसराशिको ब्रटानेपर जितना शेष रहे उतने ही एकेन्द्रिय जीव हैं । और एकेन्द्रियजीवोंकी राशिमें संख्यातका भाग देना उसमें एक भागप्रमाण अपर्याप्त और शेष बहुभागप्रमाण पर्याप्त कीव हैं ।

बावरसुहमा तेसिं पुण्णापुण्णोचि छव्विहाणांपि ।

तक्षायमगणाये भणिज्जमाणक्षमो णेयो ॥ १७६ ॥

बादरसूक्ष्मास्तेषां पूर्णापूर्ण इति षड्विभानामपि ।

तत्कायमार्गणायां भणिष्यमाणकमो ज्ञेयः ॥ १७६ ॥

अर्थ——एकेन्द्रियजीवोंके सामान्यसे दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म । इसमें भी प्रत्येकके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दो २ भेद हैं । इस प्रकार एकेन्द्रियोंकी छह राशियोंकी संख्याका कम कायमार्गणामें कहेंगे वहासे ही समझलेना । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंकी छह राशियोंका प्रमाण कायमार्गणामें विशेषरूपसे कहेंगे ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्याको सामान्यसे बताकर अब त्रसजीवोंकी संख्याको तीन गाथाओंमें बताते हैं ।

बित्तिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।

हीणकमं पण्डिमागो आवलियासंख्यमागो दु ॥ १७७ ॥

द्वित्रिचतुःपञ्चमानमसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेण हितप्रतरम् ।

हीनकमं प्रतिभाग आवलिकासंख्यभागस्तु ॥ १७७ ॥

अर्थ——प्रतराङ्गुलके असंख्यातमें भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सामान्यसे त्रसराशिका प्रमाण है । परन्तु पूर्व २ द्वीन्द्रियादिककी अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिकका प्रमाण कमसे हीन २ है । और इसका प्रतिभागहार आवलिका असंख्यातमा भाग है ।

इस उक्त त्रसराशिके प्रमाणको स्पष्टरूपसे विभक्त करते हैं ।

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेक्षमागाह्मि ।

उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १७८ ॥

बहुभागे समभागश्चतुर्णमेत्वमेकभागे ।

उत्ककमस्तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥ १७८ ॥

अर्थ——त्रसराशिमें आवलिके असंख्यातमें भागका भाग देकर लब्ध बहुभागके समान चार भाग करना । और एक २ भागको द्वीन्द्रियादि चारोहीमें विभक्त कर, शेष एक भागमें

फिरसे आवलिके असंख्यातमे भागका भाग देना चाहिये, और छन्ना बहुभागको बहुतसंख्यावालेको देना चाहिये । इस प्रकार अन्तपर्यन्त करना चाहिये । भावार्थ—कल्पना की जिये कि त्रसराशिका प्रमाण दोसौ छप्पन में चारका भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं । इस ६४ के एक भागको अलग रखदेने पर बहुभागका प्रमाण एकसौ बानवे वाकी रहता है; इस बहुभागके अडतालीस २ के समान चार भाग करके द्विनिद्रियादि चारोंको विभक्त करना चाहिये । और शेष चौनवर्टमें फिर चारका भाग देना चाहिये । इससे लब्ध सोलहके एक भागको अलग रखकर वाकी अडतालीसके बहुभागको बहुतसंख्यावाले द्विनिद्रियको देना चाहिये । और शेष सोलहके एकभागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध बारहके बहुभागको क्रमप्राप्त त्रीनिद्रियको देना चाहिये । और शेष एक पचेनिद्रियको देना चाहिये । इस प्रकार त्रसोंकी २९६ राशिमेंसे द्विनिद्रियोंका प्रमाण ९६, त्रीनिद्रियोंका प्रमाण ६०, चतुरनिद्रियोंका प्रमाण ११, और पचेनिद्रियोंका प्रमाण ४९ हुआ । जिसप्रकार अंकसंदर्भिमें यह प्रमाण बताया है उसही प्रकार अर्थसंदर्भिमें भी समझना; परन्तु अङ्कसंदर्भिको ही अर्थसंदर्भ नहीं समझना चाहिये ।

त्रसोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका प्रमाण बताते हैं ।

तिविपच्चुण्णप्रमाणं पदरंगुलसंख्यभागहिदपदरं ।
हीणकमं पुण्णूणा वितिचपजीवा अपञ्जता ॥ १७९ ॥

त्रिविपच्चत्रुःपूर्णप्रमाणं प्रतराङ्गुलसंख्यभागहितप्रतरस् ।

हीनकमं पूर्णोना द्वित्रिचतुःपंचजीवा अपर्याप्तः ॥ १७९ ॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके संख्यातमे भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही त्रीनिद्रिय द्विनिद्रिय पचेनिद्रियमें प्रत्येक पर्याप्तका प्रमाण है । परन्तु यह प्रमाण “बहुभागे समभागो” इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार उत्तरोत्तर हीन २ है । अपनी २ समस्तराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर अपर्याप्तक द्विनिद्रिय त्रीनिद्रिय और पचेनिद्रिय जीवोंका प्रमाण निकलता है ।

इति इन्द्रियमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥

कायमार्गणाका वर्णन क्रमसे प्राप्त है । अतः उसकी आदिमें कायका लक्षण और उसके भेदोंको बाताते हैं ।

जाईश्विण्यमावीतसथावरउदयजो हवे काओ ।

सो जिणमदह्यि भजिओ पुढवीकायादिछ्छमेषो ॥ १८० ॥

जात्यविनाभावित्रस्थावरोदयजे भवेत् कायः ।

स जिनमते भणितः पृथिवीकायादिष्टभेदः ॥ १८० ॥

अर्थ—जातिनामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी पर्यायको जिनमतमें काय कहते हैं । इसके छह भेद हैं, पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रस ।

पांच स्थावरोंमें से वनस्पतिको ओड़कर वाकी पृथिवी आदि चार स्थावरोंकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

पुढ़वीआज्ञेऊवा ऊकम्मोदयेण तत्थेव ।

णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ॥ १८१ ॥

पृथिव्यस्तेजोवायुक्मोदयेन तत्रैव ।

निजवर्णचतुष्प्रयुतस्तेषां देहो भवेत्रियमात् ॥ १८१ ॥

अर्थ—पृथिवी अप् (जल) तेज (अग्नि) वायु इनका शरीर, नियमसे अपने २ पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे, अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदिकमें ही बनता है । **भावार्थ—**पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिकादि जीवोंके अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदि पुद्लक्षकन्ध ही शरीररूप परिणत होजाते हैं ।

शरीरके भेद और उनके लक्षण बताते हैं ।

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तदेहा ।

घादसरीरं थूलं अधाददेहं हवे सुहुमं ॥ १८२ ॥

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवन्ति तदेहाः ।

वातशरीरं स्थलमतादेहं भवेत् सूक्ष्मश ॥ १८२ ॥

अर्थ—बादर नामकर्मके उदयसे बादर और सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म शरीर होता है । जो शरीर दूसरेको रोकनेवाला हो अयता जो दूसरेसे रुके उसको बादर (सूल) कहते हैं । और जो दूसरेको न तो रोके और न स्वयं दूसरेसे रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं ।

शरीरका प्रमाण बताते हैं ।

तदेहमंगुलस्स असंख्यभागस्स बिंदमाणं तु ।

आधारे थूला औ सव्वत्थ णिरन्तरा सुहुमा ॥ १८३ ॥

तदेहमङ्गुलस्यासंख्यभागस्य वृन्दमानं तु ।

आधारे स्थूलः ओ सर्वत्र निरन्तरा: सूक्ष्माः ॥ १८३ ॥

१ इस गायत्रीमें “ओ” शिष्यसम्बोधनके लिये आया है ।

अर्थ—बादर और सूक्ष्म दोनों ही तरहके शरीरेका प्रमाण उनाङुलके असंख्यामें भागप्रमाण है। इनमें से स्थूल शरीर आधारकी अपेक्षा खता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर विनावधानके सब जगह अनन्तानन्त भरे हुए हैं।

वनस्पतिकायका भूत्य और भेद बताते हैं ।

उदये दु वणप्पदिकम्स्स य जीवा वणप्पदी होति ।
पत्तेयं सामण्यं पदिद्विदिदरेति पत्तेयं ॥ १८४ ॥

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवन्ति ।

प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेरे इति प्रत्येकम् ॥ १८४ ॥

अर्थ—वनस्पति नामकर्मके उदयसे जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। उनके दो भेद हैं, एक प्रत्येक दूसरा साधारण। प्रत्येकके भी दो भेद हैं, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। भावार्थ—प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिसके एक शरीरका एक जीव मालिक हो। जहांपर अनेक जीव समानरूपसे रहें उसको साधारण शरीर कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं। एक प्रतिष्ठित दूसरी अप्रतिष्ठित। प्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस एक शरीरमें एक जीवके मुख्यरूपसे रहनेपर भी उस जीवके आश्रय से अनेक निगोदिया जीव रहें। और जहांपर एक मुख्य जीवके आश्रयसे अनेक निगोदिया जीव नहीं रहते उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

मूलगगपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा ।

सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ १८५ ॥

मूलग्रपर्वबीजः कन्दास्तथा स्कन्धबीजबीजरुहाः ।

सम्मुच्छिमाश्च भणिताः प्रत्येकानंतकायाश्च ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंका बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द, अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीजसे ही उत्पन्न होजाती हैं, यद्वा सम्भूर्जन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं। भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकारकी होती हैं। कोई तो मूलसे उत्पन्न होती है, जैसे अदरख हल्दी आदि। कोई अग्रसे उत्पन्न होती है, जैसे गुलाब। कोई पर्वसे (पंगोली) उत्पन्न होती है, जैसे इख वेत आदि। कोई कन्दसे उत्पन्न होती है, जैसे सूरण आदि। कोई स्कन्धसे उत्पन्न होती है, जैसे ढाक। कोई अपने २ बीजसे उत्पन्न होती है, जैसे घोंड चना आदि। कोई मट्टी जल आदिके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होजाती है, जैसे बास आदि। परन्तु ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकारकी होती हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकी पहचान (परक्षा—चिन्ह)
बताते हैं ।

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तविवरीयं च पत्तेयं ॥ १८६ ॥

गूढशिरासन्धिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहम् ।

साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिनकी शिरा संधि पर्व अप्रकट हों, और जिसका भङ्ग करनेपर समान भंग हों, और दोनों भङ्गोंमें परस्पर तनु न लगा रहे, तथा छेदन करनेपर भी जिसकी पुनः वृद्धि होजाय उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक, और इससे विपरीतको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलधीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदि हौंति पत्तेया ॥ १८७ ॥

मूले कन्दे त्वक्प्रवालशालादलकुसुमफलधीजे ।

समभङ्गे सति नान्ता असमे सति भवन्ति प्रत्येकाः ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंके मूल कन्द तथा प्रवाल (नवीन कोंपल) क्षुद्रशाखा (ठहनी) पत्र फूल तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भंग हो उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । और जिनका भंग समान न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वाचि बहुलतरा ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥

कन्दस्य वा मूलस्य वा शालास्कन्धस्य वापि बहुलतरा ।

त्वक् सा अनन्तजीवा प्रत्येकजीवा तु तनुकतरा ॥ १८८ ॥

अर्थ—जिस वनस्पतिके कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं । और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा ।
जे चि य मूलादीया ते पत्तेया पठमदाए ॥ १८९ ॥

बीजे योनीभूते जीवः चङ्गामति स वा अन्यो वा ।

येपि च मूलादिकास्ते प्रत्येकाः प्रथमतायाम् ॥ १८९ ॥

अर्थ—जिस योनीभूत बीजमें वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्थामें अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं । यावर्थ—वे बीज जिनकी कि

अड्कुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है, और जिनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जो पहले उसमें था, या कोई दूसरा जीव कहीं अन्यत्रसे मरण करके आकर उत्पन्न हो, और मूल कदम आदि जिनको कि पहले सप्रतिष्ठित कहा है वे भी अपनी उत्पत्तिके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहर्तपर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं ।

इस प्रकार प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारकी बनस्पतियोंमेंसे प्रत्येकका वर्णन करके अब साधारणका वर्णन करते हैं ।

साहारणोदयेण पिण्गोदसरीरा हवंति सामण्णा ।

ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहमाति विणेया ॥ १९० ॥

साधारणोदयेन निगोदसरीरा भवन्ति सामान्याः ।

ते पुनुद्विविधा जीवा बादरसूक्ष्मा इति विणेयाः ॥ १९० ॥

अर्थ—जिन जीवोंका शरीर साधारण नामकर्मके उदयसे निगोदरूप होजाता है उनहीं को सामान्य या साधारण कहते हैं । इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म । भावर्थ—साधारण नामकर्मके उदयसे इस प्रकारका जीवोंका शरीर होता है कि जो अनन्तानन्त जीवोंको आश्रय दे सके । इस सरीरमें एक मुख्य जीव नहीं रहता; किन्तु अनन्तानन्त जीव समानरूपसे रहते ह । अत एव इनका नाम सामान्य या साधारण जीव है । इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म ।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ १९१ ॥

साधारणमाहारः साधारणमानापानग्रहणं च ।

साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम् ॥ १९१ ॥

अर्थ—इनका (साधारण जीवोंका) साधारण (समान) ही तो आहार होता है, और साधारण ही श्वासोच्चृत्सका ग्रहण होता है । साधारण जीवोंका लक्षण साधारण ही परमागममें कहा है । भावर्थ—साथ ही उत्पन्न होनेवाले जिन अनन्तानन्त (साधारण) जीवोंकी आहारादिक पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश और समान कालमें होते हों उनको साधारण कहते हैं ।

जस्थेक्कमरह जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।

बक्कमइ जस्थ एको बक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १९२ ॥

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम् ।

प्रकामपति यत्र एकः प्रकामणं तत्रानन्तानाम् ॥ १९२ ॥

अर्थ—साधारण जीवोंमें जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहांपर अनन्त जीवोंका

मरण होता है। और जहांपर एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है। भावार्थ—साधारण जीवोंमें उत्पत्ति और मरणकी अपेक्षा भी साटश्य है। प्रथम समयमें उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंकी तरह द्वितीयादि समयोंमें भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंका जन्म मरण साथ ही होता है। यहां इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीरमें या सूक्ष्म निगोद शरीरमें साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्त ही होते हैं या अपर्याप्त ही होते हैं। किन्तु मिश्ररूप नहीं होते क्योंकि उनके समान कर्मोदयका नियम है।

बादर निगोदिया जीवोंकी संस्था बतानेको दो गाथा कहते हैं।

खंधा असंखलोगा अंडरआवासपुलविदेहा वि ।

हेड्विल्जोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ १९३ ॥

स्कन्धा असंख्यलोका अंडरआवासपुलविदेहा अपि ।

अधस्तनयोनिका असंख्यलोकेन गुणितकमाः ॥ १९४ ॥

अर्थ—स्कन्धोंका प्रमाण असंख्यातलोकप्रमाण है। और अंडर आवास पुलवि तथा देह ये क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोक २ गुणित हैं। भावार्थ—अपने योग्य असंख्यातका लोकके समस्त प्रदेशोंसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उतना समस्त स्कन्धोंका प्रमाण है। और एक एक स्कन्धमें असंख्यातलोक प्रमाण अंडर हैं, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक प्रमाण आवास हैं, एक २ आवासमें असंख्यातलोक प्रमाण पुलवि हैं। एक २ पुलविमें असंख्यातलोकप्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर हैं। इस लिये जब एक स्कन्धमें असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं तब समस्त स्कन्धोंमें कितने अंडर होगे? इस प्रकार इनका त्रैराशिक करनेसे अंडर आवास पुलवि तथा देह इनका उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यातलोक असंख्यातलोक गुणा प्रमाण निकलता है।

इसका दृष्टान्त बताते हैं।

जम्बूदीवं भरहो कोसलसागेदतग्धराङ् वा ।

स्वं धंडरआवासापुलविशरीराणि दिठंता ॥ १९५ ॥

जम्बूद्वीपो भरतः कोशलसकेततद्ग्धाणि वा ।

स्कन्धापुलविशरीराणि दृष्टान्ताः ॥ १९६ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कोशलदेश साकेतनगरी (अयोध्या) और साकेत नगरीके घर ये क्रमसे स्कन्ध अंडर आवास पुलवि और देहके दृष्टान्त हैं। भावार्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक २ द्वीपमें भरतादिक अनेक क्षेत्र, एक २ भरतादि क्षेत्रमें

१ स्कन्ध अंडर आवास आदि प्रत्येकजीवोंके शरीरविशेष हैं।

कोशल आदि अनेक देश, एक २ देशमें अयोध्या आदि अनेक नगरी, और एक २ नगरीमें अनेक घर होते हैं । उस ही प्रकार एक २ स्थानमें असंख्यातलोक २ प्रमाण अंडर, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक २ प्रमाण आवास, एक २ आवासमें असंख्यातलोक २ प्रमाण पुलवि, और एक २ पुलविमें असंख्यातलोक २ प्रमाण बादर निगोदियाजीवोंके शरीर होते हैं ।

एक निगोदशरीरमें द्रव्यकी अपेक्षा जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

एगणिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहिं अण्टतगुणा सब्वेण वितीदकालेण ॥ १९५ ॥

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः ।

सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ॥ १९६ ॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सम्पूर्ण अतीतकालके समयोंसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं ।

नित्यनिगोदका लक्षण कहते हैं ।

अतिथ अण्टता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भावकलङ्कसुपउरा णिगोदवासं ण मुचंति ॥ १९६ ॥

सन्ति अनन्ता जीवा यैनं प्रासः त्रसानां परिणामः ।

भावकलङ्कसुप्रचुरा निगोदवासं न मुच्छन्ति ॥ १९६ ॥

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसोंकी पर्याय अभीतक कभी नहीं पाई है, और जो निगोद अवस्थामें होनेवाले दुर्लेख्यात्मक परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहनेके कारण निगोदस्थानको कभी नहीं छोड़ते । भावार्थ—निगोदके दो भेद हैं, एक इतरनिगोद दूसरा नित्यनिगोद । जिसने कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करलिया हो उसको इतरनिगोद कहते हैं । और जिसने अभीतक कभी त्रसपर्यायको नहीं पाया, अथवा जो कभी त्रस पर्यायको नहीं पावेगा उसको नित्यनिगोद कहते हैं । क्योंकि नित्यशब्दके दो अर्थ होते हैं, एक तो अनादि दूसरा अनादि अनन्त । इन दोनों ही प्रकारके जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है ।

दो गायाओंमें त्रस जीवोंका स्वरूप भेद और उनका क्षेत्र आदि बताते हैं ।

बिहि तिहि चदुहिं पंचहिं सहिया जे इंदिरहिं लोयहि ।

ते तसकाया जीवा ज्ञेया वीरोदेसेण ॥ १९७ ॥

द्वाम्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिः सहिता ये इन्द्रियैलोके ।

ते त्रसकाया जीवा ज्ञेया वीरोदेशेन ॥ १९७ ॥

अर्थ—जो जीव दो तीन चार पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उनको वीर भगवान्‌के उपदेशसे त्रस काय समझना चाहिये । **भावार्थ**—पूर्वोक्त स्पर्शनादिक पांच इन्द्रियोंमें से आदिकी दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंसे जो युक्त है उसको त्रस कहते हैं । अत एव इन्द्रियोंकी अपेक्षा त्रसोंके चार भेद हुए—द्विनिद्रिय, त्रीनिद्रिय, चतुरनिद्रिय, पचेनिद्रिय ।

उबबादमारणंतियपरिणदत्समुज्ज्ञाऊण सेसतसा ।

तसणालिबाहिरहि य णथित्ति जिणोहिं णिद्विदुं ॥ १९८ ॥

उपपादपारणान्तिकपरिणतत्रसमुज्जित्वा शेषत्रसाः ।

त्रसनालीचाह्ये च न सन्तीति निनैर्निर्दिष्टम् ॥ १९९ ॥

अर्थ—उपपाद और मारणान्तिक समुद्रधातवाले त्रस जीवोंको छोड़कर बाकीके त्रस जीव त्रसनालीके बाहर नहीं होते यह जिनेन्द्रेद्वने कहा है । **भावार्थ**—किसी विवक्षित भवके प्रथम समयकी पर्यायको उपपाद कहते हैं । अपनी आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जो समुद्रधात होता है उसको मारणान्तिक समुद्रधात कहते हैं । लोकके बिलकुल मध्यमें एक २ राजू चौड़ी और मोटी तथा चौदह राजू ऊंची नाली है—उसको त्रसनाली कहते हैं; क्योंकि त्रस जीव इसके भीतर ही होते हैं—बाहर नहीं होते । किन्तु उपपाद और मारणान्तिक समुद्रधातवाले त्रस, तथा इस गाथामें च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये केवल समुद्रधातवाले भी त्रसनालीके बाहर कदमित् रहते हैं । वह इस प्रकारसे कि लोकके अन्तिम वातवलयमें स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगतिद्वारा त्रसनालीमें त्रसपर्यायसे उत्पन्न होनेवाला है, वह जीव जिस समयमें मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है उस समयमें त्रसपर्यायको धारण करने पर भी त्रसनालीके बाहर है । इस लिये उपपादकी अपेक्षा त्रस जीव त्रसनालीके बाहर रहता है । इसही प्रकार त्रसनालीमें स्थित किसी त्रसने मारणान्तिक समुद्रधातके द्वारा त्रसनालीके बाहिरके प्रदेशोंका स्पर्श किया; क्योंकि उसको मरण करके वहीं उत्पन्न होना है, तो उस समयमें भी त्रस जीविका अस्तित्व त्रसनालीके बाहिर पाया जाता है । इस ही तरह जब केवली केवल समुद्रातके द्वारा त्रसनालीके बाह्य प्रदेशोंका स्पर्श करते हैं उस समयमें भी त्रसनालीके बाहर त्रस जीविका सम्भव पाया जाता है । परन्तु इन तीनको छोड़कर बाकी त्रस जीव त्रसनालीके बाहर कभी नहीं रहते ।

जिस तरह वनस्पतियोंमें प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद हैं उस ही तरह दूसरे जीवोंमें भी ये भेद होते हैं यह बताते हैं ।

पुढीआदिचउण्ह केवलिआहारदेवणिरयंगा ।

अपदिघिदा णिगोदहिं पविद्विदुंगा हवे सेसा ॥ १९९ ॥

पृथिव्यादिचतुर्णा केवल्याहारदेवनिरयाङ्गानि ।

अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठिताङ्गा भवन्ति शेषाः ॥ १९९ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुकायके जीवोंका शरीर तथा केवलिशरीर आहार-कशरीर और देवनारकियोंका शरीर निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित है । और शेष वनस्पातेकायके जीवोंका शरीर तथा द्विनिद्रिय त्रिनिद्रिय चतुर्निद्रिय पञ्चनिद्रिय तिर्यच्च और मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित है ।

स्थावरकायिक और त्रसकायिक जीवोंका आकार बताते हैं ।

मसुरं बुविंदु सूर्वकलाबधयसणिणहो हवे देहो ।

पुढवीआदिः उप्हं तरुतसकाया अणेयविहा ॥ २०० ॥

मसूराम्बुविंदुसूर्वीकलापध्वजसन्निभो भवेदेहः ।

पृथिव्यादितुर्णा तस्त्रसकाया अनेकविधाः ॥ २०० ॥

अर्थ—मसूर (अनन्तिशेष), जलकी बिन्दु, सुधियोंका समूह, ध्वजा, इनके सदृश क्रमसे पृथिवी अप् तेज वायुकायिक जीवोंका शरीर होता है । और वृक्ष तथा त्रसोंका शरीर अनेक प्रकारका होता है । भावार्थ—जिस तरहका मसूरादिका आकार है उस ही तरहका पृथिवीकायिकादिका शरीर होता है; किन्तु वृक्ष और त्रसोंका शरीर एक प्रकारका नहीं; किन्तु अनेक आकारका होता है ।

इस प्रकार कायमार्गणका निरूपण करके, अब कायविशिष्ट यह संसारी जीव कायके द्वारा ही कर्मभारका बहन करता है यह दृष्टान्तद्वारा बताते हैं ।

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिउण कावलियं ।

एमेव वहइ जीवो कर्मभरं कायकावलियं ॥ २०१ ॥

यथा भारवहः पुरुषो वहति भारं गृहीत्वा कावटिकाम् ।

एवमेव वहति जीवः कर्मभरं कायकावटिकाम् ॥ २०१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावटिकाके द्वारा भारका बहन करता है, उस ही प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिकाके द्वारा कर्मभारका बहन करता है । भावार्थ—जिस प्रकार मन्त्र कावटिकाके द्वारा निरन्तर वोद्धा दोता है, और उससे रहित होनेपर सुखी होता है, उस ही प्रकार यह संसारी जीव कायके द्वारा कर्मरूपी वोद्धाको नाना गतियोंमें लिये फिरता है, किन्तु इस काय और कर्मके अभावमें परम सुखी होता है ।

कायमार्गणसे रहित सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं ।

जह कंचणमग्निगयं मुंचइ किङ्गेण कालियाए य ।

तह कायबंधमुक्ता अकाह्या ज्ञाणजोगेण ॥ २०२ ॥

१ अर्थात् इतने जीवोंके शरीरके आधय निगोदिया जीव नहीं रहते हैं । २ वहंगी—कावडी ।

यथा कंचनमग्निगतं मुच्यते किञ्चेन कालिक्या च ।

तथा कायवन्धमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन ॥ २०२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निके द्वारा सुसंस्कृत मुवर्ण बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके मलसे रहित होजाता है । उस ही प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव शरीर और कर्म-बन्धसे रहित होकर सिद्ध होजाता है । भावार्थ—जिस प्रकार सोलह तावके द्वारा तपाये हुए मुवर्णमें बाह्य और अभ्यतर दोनों ही प्रकारके मलका बिलकुल अभाव होजानेपर फिर किसी दूसरे मलका सम्बन्ध नहीं होता । उस ही प्रकार शुक्लध्यान आदिरूपी अग्निके द्वारा सुतप आत्मामें काय और कर्मके सम्बन्धके सर्वथा छूटने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता ।

ग्यारह गाथाओंमें पृथिवी कायिकादि जीवोंकी संस्थाएँ बताते हैं ।

आउद्धुरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ ।

भूजलवाऽ अहिया पडिभागोऽसंख्यलोगो दु ॥ २०३ ॥

सार्वत्रयराशिवारं लोके अन्योन्यसंगुणे तेजः ।

भूजलवायवः अधिकाः प्रतिभागोऽसंख्यलोकस्तु ॥ २०३ ॥

अर्थ—शलाकात्रयनिष्ठापनकी विधिसे लोकका साढ़े तीन बार परस्पर गुणा करनेसे तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है । पृथिवी जल वायुकायिक जीवोंका उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अधिक २ प्रमाण है । इस अधिकताके प्रतिभागहारका प्रमाण असंख्यात्मेक है । भावार्थ—लोकप्रमाण (जगच्छ्रेणीके घनका जितना प्रमाण है उसके बराबर) शलाका विरलन देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना । विरलन राशिका विरलन कर (एक २ वेर कर) प्रत्येक एकके ऊपर उस लोकप्रमाण देय राशिका स्थापन करना, और उन देय राशियोंका परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक कम करना । इस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना, तथा विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर पूर्वकी तरह परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक और कम करना । इस ही प्रकारसे एक २ कम करते २ जन्म समस्त शलाका राशि समाप्त होजाय तब उस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन देय शलाका ये तीन राशि स्थापन करना, और विरलन राशिका विरलन और देय राशिका उक्तरीतिसे गुणा करते २ तथा पूर्वोक्त रीतिसे ही शलाका राशिमेंसे एक २ कम करते २ जन्म दूसरी बार भी शलाका राशि समाप्त होजाय, तब उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर तीसरीं बार उक्त तीन राशि स्थापन करना । और उक्त विधानके अनुसार ही विरलन राशिका विरलन देय राशिका परस्पर गुणाकार तथा शलाका राशिमेंसे एक २

कम करना । इस प्रकार शालाकात्रयनिष्ठापन कर चौथी वारकी स्थापित महाशलाकाराशि-
मेसे पहली दूसरी तीसरी शलाका राशिका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतनी बार उक्त
कमसे विरलन राशिका विरलन और देयराशिका परस्पर गुणाकार तथा शेष महाशलाका-
राशिमेसे एक २ कम करना । ऐसा करनेसे अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतनाहीं तेज-
स्कायिक जीवोंका प्रमाण है । इस तेजस्कायिक जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे
जो लब्ध आवे उस एक भागको तेजस्कायिक जीवराशिमें मिलानेपर वृथिवीकायिक
जीवोंका प्रमाण निकलता है । और वृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका
भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें मिलानेपर
जलकायके जीवोंका प्रमाण निकलता है । जलकायके जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका
भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको जलकायकीं जीवराशिमें मिलानेपर वायुकायिक
जीवोंका प्रमाण निकलता है ।

अपदिष्टिदपत्तेया असंख्यलोगप्तमाणया होति
तत्तो पदिष्टिदा पुण असंख्यलोगेण संगुणिदा ॥ २०४ ॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येका असंख्यलोकप्रमाणका भवनिति ।

ततः प्रतिष्ठिताः पुनः असंख्यलोकेन संगुणिताः ॥ २०४ ॥

अर्थ——अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यातलोकप्रमाण हैं, और इससे
भी असंख्यातलोकगुणा प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण है ।

तसरासिपुढिविआदीचउक्कपत्तेयद्दीर्णसंसारी ।
साहारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिठं ॥ २०५ ॥

त्रसराशिपृथिव्यादिच्चतुष्कप्रत्येकहीनसंसारी ।

साधारणजीवानां परिमाणं भवति जिनादिष्टम् ॥ २०५ ॥

अर्थ——सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेसे, त्रस, पृथिव्यादि चतुष्क (पृथिवी अप् तेज
वायु) प्रत्येक वनस्पतिकायका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवोंका
प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

सगसगअसंख्यागो बाद्रकायाण होदि परिमाणं ।

सेसा सुहमपमाणं पडिभागो पुव्वणिहिडो ॥ २०६ ॥

स्वक्षकासंख्यागो बाद्रकायानां भवति परिमाणम् ।

शेषाः सूक्ष्मप्रमाणं प्रतिभागः पूर्वनिर्दिष्टः ॥ २०६ ॥

अर्थ——अपनी २ राशिका असंख्यातमा भाग बाद्रकाय जीवोंका प्रमाण है । और

शेष सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है। इसके प्रतिभागहारका प्रमाण पूर्वोक्त असंख्यातलेकप्रमाण है। भावार्थ—पृथिवीकायिकादि जीवोंकी अपनी २ राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह एक भाग प्रमाण बादर, शेष बहुभागप्रमाण सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है।

सुहगेसु संखभागं संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।
जस्सि अपुण्णद्वादो पुण्णद्वा संखगुणिदकमा ॥ २०७ ॥

सूक्ष्मेषु संख्यभागः संख्या भागा अपूर्णका इतरे ।

यस्मादपूर्णद्वादतः पूर्णद्वा संख्यगुणितकमाः ॥ २०७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म जीवोंमें संख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और बहुभाग-प्रमाण पर्याप्तक हैं। क्योंकि अपर्याप्तके कालसे पर्याप्तकका काल संख्यातगुणा है।

पल्लासंखेज्जवहिदपरंगुलभाजिदे जगप्पदरे ।
जलभूणिपचादरया पुण्णा आवलिअसंखभजिदकमा ॥ २०८ ॥

पल्यासंख्यावहितप्रतराङ्गुलभाजिते जगत्प्रतरे ।

जलभूनिपचादरकाः पूर्णो आवल्यसंख्यभनितकमाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमें भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें अवलिके असंख्यातमें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें भी आवलिके असंख्यातमें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है। पूर्वकी तरह इसमें भी आवलिके असंख्यातमें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है।

विंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेऽवाऽर्णं ।
पञ्चत्ताणं पमाणं तैहिं विहीणा अपञ्जत्ता ॥ २०९ ॥

वृन्दावलिलोकानामसंख्यं संख्यं च तेऽवायूनाश ।

पर्याप्तानां प्रमाणं तैविहीना अपर्याप्ताः ॥ २०९ ॥

अर्थ—वनावलिके असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण पर्याप्त तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण है। और लोकके संख्यात भागोंमेंसे एक भागप्रमाण पर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण है। अपनी २ सम्पूर्ण राशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकोंका प्रमाण है। भावार्थ—सूक्ष्म जीवोंका अलग वर्णन किया गया है। इसलिये “पल्लासंखेज्जवहिद” और “विंदावलिलोगाण” इन दो गायाओंमें बादर जीवोंका ही प्रमाण

समझना । और इन दो गाथाओंमें कहे हुए पर्यासक जीवोंके प्रमाणको अपनी २ सामान्य राशिमेंसे व्यानेपर जो शेष रहे उतना अपर्यासकोंका प्रमाण है ।

साहरणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा ।

पुण्णाणमपुण्णाणं परिमाणं होदि अणुकमसो ॥ २१० ॥

साधारणबादरेषु असंख्यं भागमसंख्यका भागः ।

पूर्णानामपूर्णानां परिमाणं भवत्यनुक्रमशः ॥ २१० ॥

अर्थ—साधारण बादर् जीवोंमें असंख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण पर्यास और बहु-भागप्रमाण अपर्यास हैं ।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरङ्गलेण हिदपदरं ।

कमसो तसतपुण्णा पुण्णोनतसा अपुण्णा हु ॥ २११ ॥

आवल्यसंख्यसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेन हितप्रतरम् ।

क्रमशास्त्रसत्पूर्णाः पूर्णोनित्रसा अपूर्णा हि ॥ २११ ॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही सामान्य त्रसराशिका प्रमाण है । और आवलीके संख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना पर्यास त्रस जीवोंका प्रमाण है । सामान्य त्रसराशिमेंसे पर्यासकोंका प्रमाण व्यानेपर शेष अपर्यास त्रसोंका प्रमाण निकलता है ।

बादर तेजस्कायिकादि जीवोंकी अर्द्धच्छेद संख्याको चताते हैं ।

आवलिअसंखभागेणवाहिदपल्लूणसायरञ्ज्ञछिदा ।

बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसायरं पुण्णं ॥ २१२ ॥

आवल्यसंख्यभागेनावहितपल्लयोनसागरार्धच्छेदाः ।

बादरतेपणिभूजलवातानां चरमः सागरः पूर्णः ॥ २१२ ॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त पल्यको सागरमेंसे व्यानेपर जो शेष रहे उतने बादर तेजस्कायिक जीवोंके अर्द्धच्छेद हैं । और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भागका दो वार, तीन वार, चार वार, पांच वार पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको सागरमें व्यानेसे निकलता है । और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदका प्रमाण पूर्ण सागरप्रमाण है । भावार्थ—किसी राशिको जितनी वार आधा २ करनेसे एक शेष रहे उसको अर्द्धच्छेद राशि कहते हैं । जैसे दोकी एक, चारकी दो, आठकी तीन, सोलहकी चार, और बत्तीसकी पांच अर्द्धच्छेद राशि है । इस ही प्रकार बादर तेजस्कायिक जीवोंकी

अर्द्धच्छेद राशिका प्रमाण एक बार आवर्लीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर जो शेष रहे उतना है। दो बार आवर्लीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है। तीन बार आवर्लीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे शेष प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है। चार बार आवर्लीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे बादर पृथ्वीकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है। पांच बार आवर्लीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमेंसे घटानेपर शेष बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है। और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण पूर्ण सागर प्रमाण है।

तेवि विसेसेणहिया पल्लासंखेजभागमेत्तेण ।
तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ २१३ ॥

तेषि विशेषेणाधिकाः पल्यासंस्व्यातभागमात्रेण ।

तस्मात् राशयोऽसंख्यलोकेन गुणितक्रमः ॥ २१३ ॥

अर्थ—ये प्रत्येक अर्द्धच्छेद राशि पल्यके असंख्यातमे २ भाग उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसलिये ये सभी राशि (तेजस्कायिकादि जीवों के प्रमाण) क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोकगुणी हैं। मावार्थ—बादर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित, और अप्रतिष्ठितोंकी अपेक्षा प्रतिष्ठित जीवोंके अर्द्धच्छेद पल्यके असंख्यातमे २ भाग अधिक हैं। इसी प्रकार पृथिवीकायिकादि के भी अर्द्धच्छेद पर्व की अपेक्षा पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक हैं। इसलिये पूर्व २ राशिकी अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि (मूल) असंख्यात लोकगुणी है।

उक्त असंख्यातलोकगणितक्रमको निकालनेके लिये करणसत्रको कहते हैं

दिणच्छेदेणवहिदहुच्छेदेहिं पयदविरलं भजिदे ।
लङ्घसिद्धारमीणपणोपावटीप्रदोषि पापधारं ॥ २१० ॥

ਦੇਖਲੇਦੇਨਾਵਹਿਤੇਸ਼ਚੋਹੈ: ਪ੍ਰਕਤਵਿਗਲੰਬਾਜਿਵੇ।

लवधमितेष्टरात्यन्योन्यहस्या भवति प्रकृतभवम् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—देयराशिके अर्धच्छेदोंसे भक्त इष्ट राशिके अर्धच्छेदोंका प्रकृत विरलन राशि में भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह इष्ट राशिको रखकर परस्पर गुण करनेसे प्रकृत- धन होता है। भावार्थ—इसकी अंकसंषटि इस प्रकार है कि जब सोलह जगह दूआ माड़ (सोलह जगह दोका अंक रखकर) परस्पर गुण करनेमें पण्ठटी (६९९३६) उत्पन्न होती है तब ६४ जगह दूआ माड़ परस्पर गुण करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? तो देयराशि दोके अर्धच्छेद एकका इष्टराशि पण्ठटीके अर्धच्छेद सोलहमें भागदेनेसे लक्ष्य

सोलहका भाग प्रकृतविरलन राशि ६ ३ में दिया, इससे चारकी संख्या लब्ध आई । इसलिये चार जगह पर पण्डिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृतधन होता है । इस ही प्रकार अर्थसंदृष्टिमें जब इतनी जगह (अर्धच्छेदोंकी राशिप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे इतनी राशि उत्पन्न होती है तब इतनी जगह (आगेकी राशिके अर्धच्छेदप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? इस प्रकार उक्त क्रमसे वैराशिक विभान करनेपर पूर्व ३ की अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि असंख्यातलोकगुणी सिद्ध होती है ।

इति कायमार्गणाधिकारः

अब योगमार्गणा क्रमप्राप्त है, इसलिये प्रथम ही योगका सामान्य लक्षण कहते हैं ।

पुग्गलविवाहदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१५ ॥

पुद्गलविषाकिदेहोदयेन मनोवचनकायुक्तस्य ।

जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः ॥ २१६ ॥

अर्थ—पुद्गलविषाकिशीरनामकर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उस ही को योग कहते हैं । भावर्थ—आत्माकी अनन्त शक्तियोंमेंसे एक योग शक्ति भी है । उसके दो भेद हैं, एक भावयोग दूसरा द्रव्ययोग । पुद्गलविषाकी आङ्गोपाङ्गनामकर्म और शीरनामकर्मके उदयसे, मनो वचन काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण होनुकी है और जो मनोवचनकायर्वणाका अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें करणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं । और इस ही प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते हैं । यहां पर कर्मशब्द उपलक्षण है इसलिये कर्म और नोकर्म दोनोंको ग्रहण करनेवाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये ।

योगविशेषका लक्षण कहते हैं ।

मणवयणाणपउत्ती सञ्चासञ्चुभयअणुभयत्थेसु ।

तण्णामं होद्वि तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा ॥ २१६ ॥

मनोवचनन्योः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयर्थेषु ।

तत्राम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः ॥ २१६ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस पदार्थको आनन्द या कहनेकोलिये जीवके मन वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वच-

नका वही नाम होता है। और उसके सम्बन्धसे उस प्रवृत्तिका भी वही नाम होता है।
भावार्थ—सत्य पदार्थको जाननेकेलिये किसी मनुष्यके मन या वचन की प्रवृत्ति हुई तो उसके मनको सत्यमन और वचनको सत्य वचन कहेंगे। तथा उनके द्वारा हेनेवाले योगको सत्यमनोयोग और सत्य वचनयोग कहेंगे। इस ही प्रकारसे मन और वचनके असत्य उभय अनुभय इन तीनों भेदोंको भी समझना चाहिये।

सम्यज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते हैं, जैसे यह जल है। मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको मिथ्या कहते हैं, जैसे मरीचिकामें यह जल है। दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं, जैसे कमण्डलमें यह पट है; क्योंकि कमण्डल घटका काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिये असत्य भी है। जो दोनोंही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं, जैसे सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि “यह कुछ है”। यहां पर सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं होसकता इसलिये अनुभय है।

योगविशेषोंका लक्षण कहते हैं।

सब्भावमणों सब्जों जो जोगो तेण सञ्चमणजोगो ।
 तद्विवरीओ मोसो जाणुभयं सञ्चमोसोत्ति ॥ २१७ ॥

सञ्चावमनः सत्यं यो योगस्तेन सत्यमनोयोगः ।

तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१७ ॥

अर्थ—समीचीन भावमनको (पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको) अर्थात् समीचीन पदार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्यसे जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं। तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकारके मनको उभय मन कहते हैं।

ण य सञ्चमोसञ्जुचो जो दु मणों सो असञ्चमोसमणो ।
 जो जोगो तेण हवे असञ्चमोसो दु मणजोगो ॥ २१८ ॥

न च सत्यमृषायुक्तं यत्तु मनः तदसत्यमृषामनः ।

यो योगस्तेन भवेत् असत्यमृषा तु मनोयोगः ॥ २१८ ॥

अर्थ—जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

दसविहसञ्चे वयणे जो जोगो सो दु सञ्चवचिजोगो ।
 तद्विवरीओ मोसो जाणुभयं सञ्चमोसोत्ति ॥ २१९ ॥

दशविधंसंत्ये वचने यो योगः स तु सत्यवचोयोगः ।

तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१९ ॥

अर्थ— दश प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्यवचन और उससे होनेवाले योगको सत्यवचनयोग कहते हैं । तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषाका वाचक है उसे उभयवचनयोग कहते हैं ।

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।

अमणाणं जा भासा सणीणामंतणी आदी ॥ २२० ॥

यो नैव सत्गमृषा स जानीहि असत्यमृषात्वचोयोगः ।

अमनसां या भाषा संज्ञिनामामन्त्रप्यादिः ॥ २२० ॥

अर्थ— जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभय वचनयोग कहते हैं । असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती हैं ।

दशप्रकारका सत्य बताते हैं ।

जणवदसम्मदिठवणाणामे रूबे पञ्चववहारे ।

संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सञ्चं ॥ २२१ ॥

जनपदसम्पत्स्थापनानान्त्रिं रूपे प्रतीत्यवहारयोः ।

संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम् ॥ २२१ ॥

अर्थ— जनपदसत्य, सम्पत्सत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्यके दश भेद हैं ।

दश प्रकारके सत्यका दो गाथाओंमें दृष्टान्त बताते हैं ।

भक्तं देवी चन्दप्पहपडिमा तह य होदि जिणदत्तो ।

सेदो दिग्घो रच्छादि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥ २२२ ॥

सको जंबूदीपं पलुवृदि पाववज्जवयणं च ।

पलुवमं च कमसो जणवदसच्चादिदिठंता ॥ २२३ ॥

भक्तं देवी चन्द्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः ।

श्वेतो दीर्घो रघ्यते कूरमिति च यद्देवद्वचनम् ॥ २२३ ॥

शको नम्बूदीपं परिवर्तयति पाप्वर्जवचनं च ।

पल्लोपमं च कमशो जनपदसत्यादिटष्टान्ताः ॥ २२३ ॥

अर्थ— उक्त दश प्रकारके सत्यवचनके ये दश दृष्टान्त हैं । **मावार्थ—** तत्तदेश-वासी मनुष्योंके व्यवहारमें जो शब्द रुढ होरहा है उसको जनपद सत्य कहते हैं । जैसे=भक्त गो. १२

भात=कुलु । बहुत मनुष्योंकी सम्मतिसे जो साधारणमें रुढ़ हो उसको सम्मतिसत्य या संवृति-सत्य कहते हैं । जैसे पट्टराणीके सिवाय किसी साधारण खींको भी देवी कहना । भिन्न वस्तुमें भिन्न वस्तुके समारोप करनेवाले वचनको स्थापनासत्य कहते हैं । जैसे प्रतिमाको चन्द्रप्रभ कहना । दूरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहारकेलिये जो किसीका संज्ञाकर्म करना इसको नामसत्य कहते हैं । जैसे जिनदत्त । यथापि उसको जिनेन्द्रने दिया नहीं है तथापि व्यवहार-केलिये उसको जिनदत्त कहते हैं । पुद्रुलके रूपादिक अनेकगुणोंमेंसे रूपकी प्रधानतासे जो वचन कहा जाय उसको रूपसत्य कहते हैं । जैसे किसी मनुष्यके केशोंका काला कहना, अथवा उसके शरीरमें रसादिकके रहने पर भी उसको श्वेत कहना । किसी विवक्षित पदार्थकी अपेक्षासे दूसरे पदार्थके स्वरूपका कथन करना इसको प्रतीत्यसत्य अथवा आपेक्षिकसत्य कहते हैं । जैसे किसीको बड़ा लाला या स्थूल कहना । नैगमादि नयोंकी प्रधानतासे जो वचन बोला जाय उसको व्यवहारसत्य कहते हैं । जैसे नैगम नयकी प्रधानतासे “ भात पकाता हूँ ” संप्रहनयकी अपेक्षा ‘ सम्पूर्ण सत् हैं ‘ अथवा ’ सम्पूर्ण असत् हैं ” आदि । असंभवताका परिहार करते हुए वस्तुके किसी धर्मको निरूपण करनेमें प्रवृत्त वचनको संभावना सत्य कहते हैं । जैसे इन्द्र जन्मूद्दीपको लौटादे अथवा लौटा सकता है । आगमोक्त विधि निषेधके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संकलित परिणामोंको भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हों उसको भावसत्य कहते हैं । जैसे शुष्क पक तस और निमक मिर्च खटाई आदिसे अच्छीतरह मिलाया हुआ द्रव्य प्राप्तुक होता है । यहां पर यथापि सूक्ष्म जीवोंको इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते तथापि अगमप्रामाण्यसे उसकी प्राप्तुकताका वर्णन किया जाता है । इसलिये इसही तरहके पापवर्ज वचनको भावसत्य कहते हैं । दूसरे प्रसिद्ध सदश पदार्थको उपमा कहते हैं । इसके आश्रयसे जो वचन बोला जाय उसको उपमासत्य कहते हैं । जैसे पल्य । यहां पर रोमखण्डोंका आधारभूत गड्ढा, पल्य अर्थात् खासके सदश होता है इसलिये उसको पल्य कहते हैं । इस संख्याको उपमासत्य कहते हैं । इस प्रकारके ये दशप्रकारके सत्यके दृष्टान्त हैं इसलिये और भी इस ही तरह जानना ।

दो गाथाओंमें अनुभय वचनके भेदोंको गिनाते हैं ।

आमंतणि आणवणि याचणिया पुच्छणी य पणवणी ।

पञ्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ॥ २२४ ॥

णवमी अणक्खरगदा असञ्चमोसा हवंति भासाओ ।

सोदाराणं जम्हा वत्तावच्चंसंजणया ॥ २२५ ॥

आमन्तणी आज्ञापनी याचनी आपृच्छनी च प्रज्ञापनी ।

प्रत्याख्यानी संशयवचनी इच्छानुलोम्नी च ॥ २२४ ॥

नवमी अनश्वरगता असत्यमृपा भवन्ति भाषाः ।

श्रोतृणां यस्मात् न्यक्ताव्यक्तांशसंज्ञापिकाः ॥ २२० ॥

अर्थ—आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोक्नी, अनक्षरगता ये नव प्रकारकी अनुभयात्मक भाषा है। क्योंकि इनके सुननेवालेको व्यक्त और अव्यक्त दोनोंही अंशोंका ज्ञान होता है। भावार्थ—हे देवदत्त ! यहाँ आओ, इस्तरहके बुलेनेवाले वचनोंको आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। यह काम करो, इस्तरहके आज्ञा वचनोंको आज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह मुझको दो, इस्तरहके प्रार्थनावचनोंको याचनी भाषा कहते हैं। यह क्या है ? इस्तरहके प्रश्नवचनोंको आपृच्छनी भाषा कहते हैं। मैं क्या करूँ, इस्तरहके सूचनावाक्योंको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह बलाका है अथवा पताका, ऐसे संदिग्ध वचनोंको संशयवचनी भाषा कहते हैं। मुझको भी ऐसा ही होना चाहिये, ऐसे इच्छाको प्रकटकरनेवाले वचनोंको इच्छानुलोक्नी भाषा कहते हैं। द्वीनिद्रादिक असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यात जीवोंकी भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषा अनुभयवचन रूप हैं। क्योंकि इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशोंका बोध होता है। इसलिये सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे असत्य भी नहीं कहसकते, और विशेष अंशके व्यक्त न होनेसे सत्य भी नहीं कहसकते।

चारों प्रकारके मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण बताते हैं।

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउद्ओ दु ।

भोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥२२६ ॥

मनोवचनयोर्मूलनिमित्तं खलु पूर्णदेहोदयस्तु ।

मृषोभययोर्मूलनिमित्तं खलु भवत्यावरणम् ॥ २२६ ॥

अर्थ—सत्य और अनुभय मनोयोगका तथा वचनयोगका मूलकारण पर्याप्ति और शरीर नामकर्मका उदय है। मृषा और उभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण अपना २ आवरण करते हैं।

सयोगकेवलीके मनोयोगकी संभवता बताते हैं।

मणसहियाणं वयणं दिदुं तप्पुव्वमिदि सजोगहि ।

उत्तो मणोवयरेणिंदियणाणेण हीणाहि ॥ २२७ ॥

मनःसहितानां वचनं दृष्टं तत्पूर्वमिति सयोगे ।

उत्को मन उपचारेणिंदियज्ञानेन हीने ॥ २२७ ॥

अर्थ—अस्पदादिक छद्मस्थ मनसहित जीवोंके वचनप्रयोग मनपूर्वक ही होता है।

इसलिये इन्द्रियज्ञानसे रहित सयोगकेवलीके भी उपचारसे मन कहा है । भावार्थ—यद्यपि उनके मन मुख्यतया नहीं है तथापि उनके वचनप्रयोग होता है । और वह वचनप्रयोग अस्मदादिकके बिना मनके होता नहीं, इसलिये उनके भी उपचारसे मनकी कल्पना की जाती है ।

अस्मदादिक निरतिशय पुरुषोंमें होनेवाले स्वभावको देखकर सातिशय भगवान्में भी उसकी कल्पना करना अयुक्त है किर भी उसकी कल्पना करनेका क्या हेतु है ? यह बताते हैं ।

अंगोर्वंगुदयादो द्रव्यमण्ठं जिणिंदचंदम्हि ।

मणवगणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥२२८॥

आङ्गोपाङ्गोदयात् द्रव्यमनोर्थं जिनेन्द्रकद्रे ।

मनोर्वगणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः ॥ २२८ ॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे हृदयस्थानमें विकसित अष्टदल पद्मके आकार द्रव्यमन होता है । इस द्रव्यमनकी कारणभूत मनोर्वगणाओंका सयोगकेकस्ती भगवानके आगमन होता है । इस लिये उपचारसे मनोयोग कहा है । भावार्थ—यद्यपि मनके कार्य नहीं हैं, तथापि उसके एक कारणका सज्जाव है अतः उसकी अपेक्षासे उपचारसे मनोयोगको भी कहा है ।

काययोगकी आदिर्में औदारिक काययोगको निरूक्तिपूर्वक कहते हैं ।

पुरुमहदुदारुरालं एयटो संविजाण वहि मर्वं ।

औरालियं तमुच्चइ औरालियकायजोगो सो ॥ २२९ ॥

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवम् ।

औरालिकं तदुच्चये औरालिककाययोगः सः ॥ २२९ ॥

अर्थ—पुरु महत् उदार उराल ये शब्द एकर्थवाचक हैं । उदारर्में जो हेय उसको औदारिक कहते हैं । यहांपर भव अर्थमें ठण् प्रत्यय होता है । उदारर्में होनेवाला जो काययोग उसको औदारिक काययोग कहते हैं । भावार्थ—मनुष्य और तिर्यकोंका शरीर वैकियिकादिक शरीरोंकी अपेक्षा स्थूल है, इसलिये इसको उदार अथवा उराल कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिक काययोग कहते हैं । यह योगरूढ संज्ञा है ।

औदारिकमिश्रयोगके कहते हैं ।

ओरालिय उत्तर्त्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुणं तं ।

जो तेण संपज्जोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥ २३० ॥

ओरालिकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोगः ओरालिकमिश्रयोगः सः ॥ २३० ॥

अर्थ—जिस औदारिक शरीरका स्तरप पहले बतात्रुके हैं, वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तबतक मिश्र कहाजाता है । और उसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिकमिश्रयोग कहते हैं । **भावार्थ—**शरीरपर्याप्तिसे पूर्व कार्मणशरीरकी सहायतासे होनेवाले औदारिक काययोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

वैक्रियिक काययोगको बताते हैं ।

विविहगुणद्विजुत्तं विक्रिरियं वा हु होदि वेगुवं ।

तिस्से भवं च येयं वेगुविवियकायजोगो सो ॥ २३१ ॥

विविधगुणर्दिद्युक्तं विक्रियं वा हि भवति विगूर्वम् ।

तस्मिन् भवं च ज्ञेयं वैगूर्विककाययोगः सः ॥ २३१ ॥

अर्थ—नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त देव तथा नारकियोंके शरीरको वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विक अथवा वैक्रियिककाययोग कहते हैं ।

वैक्रियिक काययोगकी सम्भावना कहां २ पर है यह बताते हैं ।

बादरतेऊवाऽपंचिदिंयपुण्णगा विगुवंति ।

ओरालियं सरीरं विगुव्वणाप्तं हवे जेसिं ॥ २३२ ॥

बादरेतेजोवायुपंचेन्द्रियपूर्णका विगूर्वन्ति ।

औरालिकं शरीरं विगूर्वात्मकं भवेत् येषाम् ॥ २३२ ॥

अर्थ—बादर (स्थूल) तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय, और भोगभूमिज तिर्यग् मनुष्य भी विक्रिया करते हैं । इसलिये इनका भी औदारिक शरीर वैक्रियिक होता है । **भावार्थ—**यद्यपि इन जीवोंका शरीर औदारिक वैक्रियिक होता है, परन्तु यह विक्रिया अपृथक् विक्रिया होती है । किन्तु भोगभूमिज और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं ।

वैक्रियिक मिश्र काययोगको बताते हैं ।

वेगुविवियउत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपज्जोगो वेगुविवियमिस्सजोगो सो ॥ २३३ ॥

वैगूर्विकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोगो वैगूर्विकमिश्रयोगः सः ॥ २३३ ॥

अर्थ—उत्त वैक्रियिक शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता तब तक उसको वैक्रियिकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहते हैं । **भावार्थ—**

उत्पत्तिके समयसे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वैकियिक शरीरसे जब कार्मण शरीरकी सहायतासे योग होता है तब उस योगको वैकियिकामित्र काययोग कहते हैं ।

आहारक काययोगका निरूपण करते हैं ।

आहारस्सुदृयेण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।

असंजमपरिहरणद्वं संदेहविणासणद्वं च ॥ २३४ ॥

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम् ।

असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशात्मार्थं च ॥ २३४ ॥

अर्थ—असंयमके परिहार तथा संदेहको दूर करनेकोलिये छड़े गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारकशरीरनामकर्मे उदयसे आहारक शरीर होता है ।

णियखेते केवलिदुग्विरहे णिक्कमणपहुदिकलाणे ।

परखेत्त संविते जिणजिणघरवंदणद्वं च ॥ २३५ ॥

निजसेत्रे केवलिद्विक्विरहे निःकमणप्रभृतिकल्याणे ।

परतेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहांदनार्थं च ॥ २३५ ॥

अर्थ—अपने क्षेत्रमें केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर किन्तु दूसरे क्षेत्रमें जहां पर कि औदारिक शरीरसे उस समय पहुंच नहीं सकता, तपकल्याणक आदिके होनेपर, और जिन जिनगृह (वैत्यालय) की बन्दनाकोलिये भी आहारक ऋद्धिको प्राप्त छड़े गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है ।

उत्तमअंगमिह हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं ।

सुहसंठाणं धवलं हस्तथपमाणं पसस्थुदयं ॥ २३६ ॥

उत्तमाङ्गे भवेत् धातुविहीनं शुभमसंहननम् ।

शुभसंस्थानं धवलं हस्तप्रमाणं प्रशस्तोदयम् ॥ २३६ ॥

अर्थ—यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहननसे रहित, समचतुरत्व संस्थानसे युक्त, चन्द्रकान्तके समान श्वेत, एक हस्तप्रमाणवाला आहारकशरीरादिक शुभ नामकर्मके उदयसे उत्तमाङ्ग-शिरसे उत्पन्न होता है ।

अव्याधादी अंतोमुहुत्तकालद्विदी जहाणिगदे ।

पञ्जतीसंपुण्णे मरणाण्पि कदाचित् संभवइ ॥ २३७ ॥

अव्याधाति अन्तर्मुहूर्तकालस्थिती जन्मन्येतरे ।

पर्यासिसंपूर्णायां मरणमपि कदाचित् संभवति ॥ २३७ ॥

अर्थ—न तो इस शरीरके द्वारा किसी दूसरे पदार्थका और न दूसरे पदार्थके द्वारा इस शरीरका ही व्याधात होता है । तथा इसकी जन्मन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त.

मात्र है । आहार शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होने पर कदाचित् आहारकद्विवाले मुनिका मरण भी हो सकता है ।

आहारक काययोगका निश्चिसिद्ध अर्थ बताते हैं ।

आहर्गदि अणेण मुर्णा सुहमे अत्थे सयसस संदेहे ।

गत्ता केवलि गासं तम्ह. आहारगो जोगो ॥ २३८ ॥

आहरत्यनेन मुनिः सूक्ष्मानर्थान् स्वस्य संदेहे ।

गत्वा केवलिपर्श्वं तस्मादाहारको योगः ॥ २३८ ॥

अर्थ—लड्डे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होनेपर इस शरीरके द्वारा केवलिके पासमें जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण (प्रहण) करता है इसलिये इस शरीरके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ।

आहारक मिश्रयोगका निरूपण करते हैं ।

आहारयमुत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपज्जोगो आहारयमिस्सज्जोगो सो ॥ २३९ ॥

आहारकमुक्तार्थं विजन्ननीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोग आहारकमिश्रयोगः सः ॥ २३९ ॥

अर्थ—उक्त आहारक शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता तब तक उसको आहारक-मिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारकमिश्रयोग कहते हैं ।

कार्मणकाययोगको बताते हैं ।

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइयं जो दु तेण संज्जोगो ।

कम्मइयकायज्जोगो इग्निविगतिगसमयकालेषु ॥ २४० ॥

कर्मेव न कर्मभवं कार्मणं यस्तु तेन संयोगः ।

कार्मणकाययोग एकद्विकत्रिकसमयकालेषु ॥ २४० ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंके समूहको अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली कायको कार्मणकाय कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक दो अथवा तीन समयतक होता है । भावार्थ—विग्रहगतिमें और केवलसमुद्घातमें भी तीन समय पर्यन्त ही कार्मणकाययोग होता है; किन्तु दूसरे योगोंका ऐसा नियम नहीं है । यहां पर जो समय और काल ये दो शब्द दिये हैं उससे यह सूचित होता है कि शेष योगोंका अव्याशातकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त और व्याशातकी

^१ दो प्रतर और एक लोकपूर्ण समुद्घातकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें भी कार्मणयोगको तीन ही समय कहते हैं ।

अपेक्षा एक समयसे लेकर अन्तमुहूर्तपर्यन्त काल है। यह काल एक जीवकी अपेक्षासे है। किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षा आठ अन्तर मार्गणाओंको छोड़कर वाकी निरन्तरमार्गणाओंका सर्व काल है।

योगप्रवृत्तिका प्रकार बताते हैं।

वेगुद्विव्यआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरदभ्यि ।

जोगोवि एककाले एकेव य होदि पियमेण ॥ २४१ ॥

वैगुर्विकाहारकिया न समं प्रमत्तविते ।

योगोऽपि एककाले एक एव च भवति नियमेन ॥ २४१ ॥

अर्थ—छड़े गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक शरीरकी क्रिया युगपत् नहीं होती।

और योग भी नियमसे एक कालमें एक ही होता है।

योगरहितका वर्णन करते हैं।

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया ।

ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंतबलकलिया ॥ २४२ ॥

येषां न सन्ति योगाः शुभाशुभाः पुण्णपापसंजनकाः ।

ते भवन्ति अयोगिजिना अनुपमानन्तबलकलिताः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जिनके पुण्य और पापके करणभूत शुभाशुभ योग नहीं हैं उनको अंयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनन्त बल करके युक्त होते हैं।

शरीरमें कर्म नोकर्मका विभाग करते हैं।

ओरालियवेगुद्विव्यआहारयतेजणामकम्मुदये ।

चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥ २४३ ॥

ओरालिकैगूर्विकाहारक्लेजोनामकमोदये ।

चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मेव च भवति कर्मणम् ॥ २४३ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक तैनस नामकर्मके उदयसे हेनेवाले चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं। और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे हेनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

औदारिकादिकोंकी समयप्रबद्धकी संख्याको बताते हैं।

परमाणूहिं अणंतहिं वगणसणा हु होदि एका हु ।

ताहि अणंतहिं पियमा समयप्रबद्धो हवे एको ॥ २४४ ॥

परमाणुभिरनन्तर्वर्गणासंज्ञा हि भवत्येका हि ।

ताभिरनन्तर्वर्गणामात् समयप्रबद्धो भवेदेकः ॥ २४४ ॥

अर्थ— अनन्त (अनन्तानन्त) परमाणुओंकी एक वर्गणा होती है । और अनन्त वर्गणाओंका नियमसे एक समयप्रबद्ध होता है ।

ताणं समयप्रबद्धा सेद्विअसंख्यभागगुणिदकमा :

पंतेण य तेजदुगा परं परं होदि सुहमं खु ॥ २४५ ॥

तेषां समयप्रबद्धाः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितकमाः ।

अनन्तेन च तेजोद्रिका परं परं भवति सूक्ष्मं खलु ॥ २४६ ॥

अर्थ— औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरोंके समयप्रबद्ध उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेणिके असंख्यातमे भागसे गुणित हैं और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे हैं । किन्तु ये पांचों ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । भावार्थ— औदारिकमे वैक्रियिकके और वैक्रियिकसे आहारकके समयप्रबद्ध श्रेणिके असंख्यातमे भाग गुणित हैं । किन्तु आहारकसे तैजसके अनन्तगुणे और तैजससे कर्मणशरीरके समयप्रबद्ध अनन्तगुणे हैं । इस तरह समयप्रबद्धोंकी संख्याके अधिक २ होनेपर भी ये पांचों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म २ हैं ।

औदारिकादिक शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

ॐ गाहणाणि ताणं समयप्रबद्धाण वगणाणं च ।

अंगुलअसंख्यभागा उवरुवरिमसंख्यगुणहीणा ॥ २४६ ॥

अवगाहनानि तेषां समयप्रबद्धानां वर्गणानां च ।

अङ्गुलासंख्यभागा उपर्युपरि असंख्यगुणहीनानि ॥ २४६ ॥

अर्थ— इन शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण सामान्यसे अंगुलके असंख्यातमे भाग है; किन्तु आगे आगे के शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण क्रमसे असंख्यातगुणा २ हीन है ।

इस ही प्रमाण को माधवचन्द्र त्रैविदेव भी कहते हैं ।

तत्समयवद्ववर्गणांगाहों सूहअंगुलासंख—

भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरि तेण भजितकमा ॥ २४७ ॥

तत्समयवद्ववर्गणावगाहः सूच्यङ्गुलासंख—।

भागहितवृन्दाङ्गुलमुपर्युपरि तेन भजितकमाः ॥ २४७ ॥

अर्थ— औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्ध तथा वर्गणाओंका अवगाहन सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागसे भक्त वनाङ्गुलप्रमाण है । और पूर्व २ की अपेक्षा आगे २ की अवगाहना क्रमसे असंख्यातगुणी २ हीन है ।

१ इस गाथाकी संस्कृतव्याख्या श्रीमद्भगवन्दसूरीने और हिन्दीभाषा टीका विद्वद्वर्ये श्रीतोडरमङ्गीने की है इसलिये हमने भी इसको यहांर लिख दिया है । किन्तु केशवर्णा टीकामें इसकी व्याख्या हमारे देखनेमें नहीं आई है ।

विश्वसोपचयका स्वरूप बताते हैं ।

जीवादो यंतगुणा पडिपरमाणुमिह विश्वसोवचया ।
जीवेण य समवेदा एकैकं पाडि समाणा हु ॥ २४८ ॥

जीवतोऽनन्तगुणाः प्रतिपरमाणौ विश्वसोपचयाः ।

जीवेन च समवेता एकैकं प्रति समाना हि ॥ २४८ ॥

अर्थ— पूर्वोक्त कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणुपर समान संख्याको लिये हुए जीवराशिसे अनन्तगुणे विश्वसोपचयरूप परमाणु जीवके साथ सम्बद्ध हैं । **भावार्थ—** जीवके प्रत्येक प्रदेशोंके साथ जो कर्म और नोकर्म वधे हैं, उन कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणु के साथ जीवराशिसे अनन्तगुणे विश्वसोपचयरूप परमाणु सम्बद्ध हैं । जो कर्मरूप तो नहीं हैं किन्तु कर्मरूप होनेकेलिये उम्मेद वार हैं उन परमाणुओंको विश्वसोपचय कहते हैं ।

कर्म और नोकर्मके उत्कृष्ट संचयका स्वरूप तथा स्थान बताते हैं ।

उक्तस्तुदिविचरिमे सगसगउक्तसंचओ होदि ।
पणदेहाणं वरजोगादिससामगिसहियाणं ॥ २४९ ॥

उत्कृष्टस्थितिचरमे स्वकृत्वकोत्कृष्टसंचयो भवति ।

पञ्चदेहाणं वरयोगादिस्वसामग्रीसहितानाम् ॥ २४९ ॥

अर्थ— उत्कृष्ट योगको आदि लेकर जो २ सामग्री तत् कर्म या नोकर्मके उत्कृष्ट संचयमें कारण है उस २ सामग्रीके मिलनेपर औदारिकादि पांचो ही शरीरवालोंके उत्कृष्ट-स्थितिके अन्तसमयमें अपने २ योग्य कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । **भावार्थ—** स्थितिके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय समयप्रबद्धका बंध होता है, और उसके एक २ निषेककी निर्जरा होती है । इस प्रकार शेष समयमें शेष निषेकोंका संचय होते २ स्थितिके अन्त समयमें आयुः कर्मको छोड़कर शेष कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । यह संचय उत्कृष्ट योगादिक अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर पांचो शरीरवालोंके होता है ।

उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेषको बताते हैं ।

आवासया हु भवअन्द्वाउस्सं जोगसंकिलेसो य ।
ओकदुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मसे ॥ २५० ॥

आवश्यकानि हि भवाद्वा आयुर्यं योगसंक्लेशौ च ।

अपर्कर्षणोत्कर्षणके षट् चैते गुणितकर्माशे ॥ २५० ॥

अर्थ—कर्मोंके उत्कृष्ट संचयसे युक्त जीवके उत्कृष्ट संचय न हेतु लिये ये छह आश-इयक कारण होते हैं ।—भवाद्वा, आयुष्य, योग, संक्षेप, अपकर्षण, उत्कर्षण ।

पांचशरीरोंकी उत्कृष्टमिथितिका प्रमाण बताते हैं ।

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसांतेमुहुत्त उवहीणं ।

छवद्वी कम्माद्विदि बंधुकससद्विदी ताणं ॥ २५१ ॥

पल्यत्रयमुदधीनं त्रयीक्षिशदन्तर्मुहूर्त उदधीनाम् ।

पृथग्दिः कर्मास्पर्तिवन्वेत्तुकृष्टस्थितिभेषाम् ॥ २५१ ॥

अर्थ—औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर, आहारक शरीरकी अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीरकी छ्यामठ सागर है । कर्मण शरीरकी सामान्यसे सत्तर कोडाकोडी सागर किन्तु विशेषरूपसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है । मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम गोत्रकी वीस कोडाकोडी सागर, और आयुः कर्मकी केवल तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है ।

पाच शरीरोंकी उत्कृष्ट स्थितिके गुणहानि आयामका प्रमाण बताते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं ।

पलासंखेजदिम् गुणहाणी तेजकम्माणं २५२ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रा गुणहानिर्भवति आदिमतिकाणम् ।

पल्यासंख्याता गुणहानिस्तेजःकर्मणोः ॥ २५२ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीरकी गुणहानिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है । और तैजस तथा कर्मण शरीरकी गुणहानिका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भाग-मात्र है ।

औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय और सत्त्व अवस्थामें द्रव्यप्रमाण कितना रहता है यह बताते हैं ।

एकं समयप्रबद्धं बंधदि एकं उदेदि चरिमम्मि ।

गुणहाणीण दिवद्वृं समयप्रबद्धं हवे सत्तं ॥ २५३ ॥

एकं समयप्रबद्धं बद्धाति एकमुदेति चरमे ।

गुणहानीनां व्यर्थं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ॥ २५३ ॥

अर्थ—प्रति समय एक समयप्रबद्धका बंध होता है, और एक ही समयप्रबद्धका उदय होता है, किन्तु अन्तर्में कुछ कम डेढ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है ।

आवार्य—पांचो शरीरोंमेंसे तैजस और कर्मणका तो प्रतिसमय बंध उदय सत्त्व होता है,

इस लिये इन दोनोंके समयप्रबद्धका प्रतिसमय बंध और उदय होता है, तथा किसी विवक्षित समयप्रबद्धके चरमनिषेक समयमें डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है। किन्तु औदारिक तथा वैकियिक शरीरके समयप्रबद्धोंमें कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि जिस समयमें शरीर ग्रहण किया उस समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धके प्रथम निषेकका उदय होता है और द्वितीयादि समयोंमें द्वितीयादि निषेकोंका उदय होता है। और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धका प्रथम निषेक तथा प्रथम समयमें बद्ध समयप्रबद्धका द्वितीय निषेक उदित होता है। इस ही तरह तृतीयादिक समयोंका हिसाब समझना चाहिये। इसलिये इस क्रमसे अन्तमें द्वर्चर्घगुणहानि—गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है। किन्तु आहारक शरीरका युगपद् प्रथम समयप्रबद्धमात्र द्रव्यका उदय सत्त्व संचय रहता है।

औदारिक और वैकियिक शरीरमें विशेषताको बताते हैं।

णवरि य दुसरीराणं गलिद्वसेसाउमेत्तिदिवंधो ।

गुणहानीण दिवहृं संचयमुदयं च चरिममिह ॥ २५४ ॥

नवरि च द्विशरीरयोर्गलितावशेषायुर्मात्रस्थितिबन्धः ।

गुणहानीनां द्वचर्घे संचयमुदयं च चरमे ॥ २५४ ॥

अर्थ——औदारिक और वैकियिक शरीरमें यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरोंके बन्धमान समयप्रबद्धोंकी स्थिति भुक्त आयुसे अवशिष्ट आयुकी स्थितिप्रमाण होती है। और इनका आयुके अन्त समयमें डेढ़ गुणहानिमात्र उदय तथा संचय रहता है। भावार्थ—शरीरग्रहणके प्रथम समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति पूर्ण आयुःप्रमाण होती है। और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति एक समय कम आयुःप्रमाण और तीसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति दो समय कम आयुःप्रमाण होती है। इस ही प्रकार आगेके समयप्रबद्धोंकी स्थिति समझना चाहिये। इस क्रमके अनुसार अन्त समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति एक समयमात्र होती है।

आयुके प्रथम समयसे लेकर अन्तसमय पर्यन्त बंधनेवाले समयप्रबद्धोंकी अवस्थिति, आयुके अन्तसमयसे आगे नहीं रह सकती इसलिये अन्त समयमें कुछ कम डेढ़ गुणहानिमात्र समयप्रबद्धोंका युगपत् उदय तथा संचय रहता है।

किस प्रकारकी आवश्यक सामग्रीसे युक्त जीवके किस स्थान पर औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है यह बताते हैं।

ओरालियवरसंचं देवुचरकुरुवजादजीविस्स ।

तिरियमणुस्सस्स हवे चरिमद्वचरिमे तिपङ्गठिदिगस्स ॥ २५५ ॥

औरालिकवरसंचयं देवोत्तरकुरुपजातजीवस्य ।

तिर्यग्मनुव्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य ॥ २९९ ॥

अर्थ—तीन पल्यकी स्थितेवाले देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यग्मनुव्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य ॥ २९९ ॥

और मनुष्योंके चरम तथा द्विचरम समयमें औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है ।

वैकियिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं ।

वेगुविवियवरसंचयं बावीससमुद्भारणदुगम्हि ।

जग्मा वरजोभस्स य वारा अण्णात्थ णाहि बहुगा ॥ २५६ ॥

वैगुविवियवरसंचयं द्विविशतिसमुद्भारणद्विके ।

यस्मात् वरयोगस्य न वारा अन्यत्र नहि बहुकाः ॥ २५६ ॥

अर्थ—वैकियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय, वाईस सागरकी आयुवाले आरण और अच्युत स्वर्गके ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही होता है । क्योंकि वैकियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा उसके योग्य दूसरी सामग्रियां अन्यत्र अनेकवार नहीं होती । भावार्थ—आरण अच्युत स्वर्गके उपरितन विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही जिनकी आयु वाईस सागरकी है वैकियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा दूसरी सामग्री अनेक वार होती हैं, इसलिये इन देवोंके ही वैकियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है ।

तैजस तथा कार्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं ।

तैजासरीरजेदुं सत्तमचरिमम्हि विदियवारस्स ।

कम्मस्स वि तत्थेव य णिरये बहुवारभमिदस्स ॥ २५७ ॥

तैजसशरीरजेष्ठं सत्तमचरमे द्वितीयवारस्य ।

कार्मणस्यापि तत्रैव च निये बहुवारभमितस्य ॥ २५७ ॥

अर्थ—तैजस शरीरका उत्कृष्ट संचय सप्तम पृथिवीमें दूसरीवार उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है । और कार्मण शरीरका उत्कृष्ट संचय अनेक वार नक्षेमें भ्रमण करके सप्तम पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है । आहारक शरीरका उत्कृष्ट संचय आहारक शरीरका उत्थापन करनेवाले प्रमत्तविरतके ही होता है ।

योगमार्गणमें जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

बाद्रपुण्णा तेऽ सगरासीए असंख्यभागमिदा ।

विकिरियसञ्जितुत्ता पलासंखेजया बाऊ ॥ २५८ ॥

बादरपूर्णा: तैजसाः स्वकराशेरसंख्यभागमिताः ।

विकिरियशक्तियुक्ताः पल्यासंख्याता वायवः ॥ २५८ ॥

अर्थ—बादर पर्याप्तक तैजसकायिक जीवोंका जितना प्रमाण है उसमें असंख्यात

भागप्रमाण विक्रिया शक्तिसे युक्त हैं। और वायुकायिक जितने जीव हैं उनमें पल्यके असंख्यातमे भाग विक्रियाशक्तिसे युक्त हैं।

पल्यासंखेजाहयविंदंगुलगुणिदसेद्विमेत्ता हु ।
वेगुविव्यपंचकस्वा भोगभुमा पुह विगुर्वति ॥ २५९ ॥

पल्यासंख्याताहतवृन्दाङुलगुणितश्रेणिमात्रा हि ।

वैगूर्विकपञ्चाक्षा भोगभूमा: पृथक् विगूर्वति ॥ २६० ॥

अर्थ— पल्यके असंख्यातमे भागसे अभ्यस्त (गुणित) घनाङुलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने ही पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यचोंमें विक्रियिक योगके धारक हैं। और भोगभूमिया तिर्यच तथा मनुष्य तथा कर्मभूमियाओंमें चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं। **भावार्थ—** विक्रिया दो प्रकारकी होती है, एक पृथक् विक्रिया दूसरी अपृथक् विक्रिया। जो अपने शरीरके सिवाय दूसरे शरीरादिक बनाना इसको पृथक् विक्रिया कहते हैं। और जो अपने शरीरके ही अनेक आकार बनाना इसको अपृथक् विक्रिया कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी विक्रियाके धारक तिर्यच तथा मनुष्योंकी संख्या ऊपर कही हुई है।

देवेहिं सादिरेया तिजोगिणो तेहिं हीण तस्पुण्णा ।
वियजोगिणो तद्वृणा संसारी एकजोगा हु ॥ २६० ॥

देवैः सतिरेकाः त्रियोगिनस्तैर्हीनाः त्रसपूर्णाः ।

द्वियोगिनस्तद्वृना संसारिणः एकयोगा हि ॥ २६० ॥

अर्थ— देवोंसे कुछ अधिक त्रियोगियोंका प्रमाण है। पर्याप्त त्रसराशिमेसे त्रियोगियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना द्वियोगियोंका प्रमाण है। संसारराशिमेसे द्वियोगी तथा त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेसे एकयोगवालोंका प्रमाण निकलता है। **भावार्थ—** नारकी देव संज्ञिपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यच पर्याप्त मनुष्य इनका जितना प्रमाण है उतना ही त्रियोगियोंका प्रमाण है। त्रसराशिमेसे त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेपर द्वियोगियोंका और त्रियोगि तथा द्वियोगियोंका प्रमाण घटानेपर एकयोगियोंका प्रमाण।

अंत्तोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा ।

तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा ॥ २६१ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्राः चर्तुमोयोगाः क्रमेण संख्यगुणाः ।

तद्योगः सामान्यं चर्तुर्वचोयोगाः ततस्तु संख्यगुणाः ॥ २६१ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार मनोयोगोंमें प्रत्येकका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्तमात्र है तथापि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका काल क्रमसे संख्यातगुणा है । और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है । इस ही प्रकार चारों मनोयोगोंके जोड़का जितना प्रमाण है उससे संख्यातगुणा काल चारों वचनयोगोंका है । और प्रत्येक वचनयोगका काल भी अन्तर्मुहूर्त है । तथा पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका प्रमाण संख्यातगुणा है । और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्त है ।

तज्जोगां सामान्यं काओ संखाहदो तिजोगमिदं ।

सर्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी ॥ २६२ ॥

तद्योगः सामान्यं कायः संख्यातः त्रियोगिगितम् ।

सर्वसमासविभक्तं स्वकस्वकगुणसंगुणे तु स्वकराशिः ॥ २६३ ॥

अर्थ—चारों वचनयोगोंके जोड़का जो प्रमाण हो वह सामान्यवचनयोगका काल है । इससे संख्यातगुणा काययोगका काल है । तीनों योगोंके कालको जोड़देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका पूर्वोक्त त्रियोगिनीवरशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागसे अपनी २ रशिका गुणा करने पर अपनी २ रशिका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ—**तीनों योगोंके जोड़का काल $89 \times 170 \times 1$ अन्तर्मुहूर्तमात्र है । इसके जितने समय हीं उनका त्रियोगिनीविंशें प्रमाणमें भाग दीजिये । लब्ध एक भागके साथ सत्यमनोयोगके कालके जितने समय हीं उनका गुणा कीजिये, जो लब्ध आवे वह सत्यमनोयोगवाले जीवोंका प्रमाण है । इस ही प्रकार असत्यमनोयोगसे लेकर काययोगी पर्यन्त जीवोंमें प्रत्येकका प्रमाण समझना ।

कर्मोरालियमिस्सयओरालद्वासु संचिदअण्ठा ।

कर्मोरालियमिस्सयओरालियजोगिणो जीवा ॥ २६३ ॥

कार्मणौदारिकमिश्रकौरालाद्वासु संचितानन्ताः ।

कार्मणौरालिकमिश्रकौरालिकयोगिणो जीवाः ॥ २६३ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रयोग तथा औदारिककाययोगके समयमें एकत्रित होनेवाले कार्मणयोगी औदारिकमिश्रयोगी तथा औदारिककाययोगी जीव अनन्तानन्त हैं ।

इस ही अर्थको सष्ठ करते हैं ।

समयतयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहितरासी ।

सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ॥ २६४ ॥

समयत्रयसंख्यावलिसंख्यगुणावलिसमासहितराशिष ।

स्वकगुणगुणिते स्तोकः असंख्यसंख्यातः क्रमशः ॥ २६४ ॥

अर्थ— कार्मणकाययोगका काल तीन समय, औदारिकमिश्रयोगका काल संख्यात आवली, औदारिक काययोगका काल संख्यात गुणित (औदारिकमिश्रके कालसे) आवली है । इन तीनोंको जोड़ देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका एकयोगीनीवराशिमें भाग देनेसे लछ्य एक भागके साथ कार्मणकालका गुणा करने पर कार्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण निकलता है । इस ही प्रकार उसी एक भागके साथ औदारिकमिश्रकाल तथा औदारिककालका गुणा करनेपर औदारिकमिश्रकाययोगी और औदारिककाययोगी जीवोंका प्रमाण होता है । इन तीनों तरहके जीवोंमें सबसे कम कार्मण काययोगी हैं उनसे असंख्यातगुणे औदारिकमिश्रयोगी हैं और उनसे संख्यातगुणे औदारिककाययोगी हैं ।

चार गाथाओंमें वैक्रियिकमिश्र तथा वैक्रियिककाययोगके धारक जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

सोवक्तमाणुवक्तमकालो संखेजजवासठिदिवाणे ।

आवालिअसंख्यभागो संखेजजावलिप्रमा कमसो ॥ २६५ ॥

सोपक्तमानुपक्तमकालः संख्यातवर्षस्थितिवाने ।

आवल्यसंख्यभागः संख्यातवलिप्रमः कमशः ॥ २६६ ॥

अर्थ— संख्यातवर्षकी स्थितिवाले उसमें भी प्रधानतया जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तर देवोंका सोपक्तम तथा अनुपक्तम काल क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भाग और संख्यात आवली प्रमाण है । भावार्थ—उत्पत्तिसहित कालको सोपक्तम काल कहते हैं । और उत्पत्तिरहित कालको अनुपक्तम काल कहते हैं । यदि व्यन्तर देव निरन्तर उत्पन्न हों तो आवलीके असंख्यातमे भागमात्रकाल पर्यन्त उत्पन्न होते ही रहें । यदि कोई भी व्यन्तर देव उत्पन्न न हो तो ज्योदेसे ज्योदे संख्यात आवलीमात्र काल पर्यन्त (बारह मुहूर्त) उत्पन्न न हो, पीछे कोई न कोई उत्पन्न हो ही ।

तहिं सब्वे सुद्धसला सोवक्तमकालदो दु संखगुणा ।

तत्तो संखगुणूणा अपुणकालमिह सुद्धसला ॥ २६७ ॥

तस्मिन् सर्वा: शुद्धशलाकाः सोपक्तमकालतस्तु संख्यगुणाः ।

ततः संख्यगुणोना अपूर्णकाले शुद्धशलाकाः ॥ २६८ ॥

अर्थ— जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिमें अनुपक्तमकालको छोड़कर पर्याप्त तथा अपर्याप्त कालसम्बन्धी सोपक्तम कालकी शलाकाका प्रमाण, सोपक्तमकालके प्रमाणसे संख्यात गुणा है । और इससे संख्यातगुणा कम अपर्याप्तकालसम्बन्धी सोपक्तमकालकी शलाकाका

प्रमाण है । भावार्थ—स्थितिके प्रमाणमें जितनीवार सोपकम कालका सम्बन्ध हो उसको शलाका कहते हैं । इसका प्रमाण उक्त क्रमानुसार समझना ।

तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललङ्घाहिं ।

सुद्धसलागाहिं गुणे वेतरवेगुव्वमिस्सा हु ॥ २६७ ॥

तं शुद्धशलाकाहितनिजराशिमपूर्णकाललङ्घामिः ।

शुद्धशलाकाभिर्गुणे व्यन्तरवैगूर्वमिश्रा हि ॥ २६७ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त व्यन्तर देवोंके प्रमाणमें शुद्ध उपकम शलाकाका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपर्याप्त—काल-सम्बन्धीय शुद्ध उपकम शलाकाके साथ गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने ही वैक्रियिकमिश्रयोगके धारक व्यन्तरदेव समझने चाहिये । भावार्थ—संख्यात वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तरदेव अधिक उत्तम होते हैं इसलिये उनकीही मुख्यतासे यहां प्रमाण बताया है ।

तहिं सेसदेवणारथमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं ।

सुरणिरयकायजोगा वेगुव्वव्यकायजोगा हु ॥ २६८ ॥

तमिन् शेषदेवनारकमिश्रयुते सर्वमिश्रवैगूर्वम् ।

सुरनिरयकाययोगा वैगूर्विककाययोगा हि ॥ २६८ ॥

अर्थ—उक्त व्यन्तरोंके प्रमाणमें शेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक और नार-कियोंके मिश्र काययोगका प्रमाण मिलानेसे सम्पूर्ण मिश्र वैक्रियिक काययोगका प्रमाण होता है । और देव तथा नारकियोंके काययोगका प्रमाण मिलानेसे समस्त वैक्रियिक काय-योगका प्रमाण होता है ।

आहारकाययोगी तथा आहारकमिश्रकाययोगियोंका प्रमाण बताते हैं ।

आहारकायजोगा चउच्चणं होति एकसमयमिह ।

आहारमिस्सजोगा सत्तावीसा हु उक्तसं ॥ २६९ ॥

आहारकाययोगाः चतुपञ्चाशत् भवन्ति एकसमये ।

आहारमिश्रयोगा सप्तविंशतिस्तूक्यष्टम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—एक समयमें आहारकाययोगवाले जीव अधिकसे अधिक चौअन होते हैं । और आहारमिश्रयोगवाले जीव अधिकसे अधिक सत्ताईस होते हैं । यहां पर जो उत्कृष्ट शब्द है वह मध्यदीपक है । भावार्थ—जिस प्रकार देहलीपर रक्खा हुआ दीपक बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसही प्रकार यह शब्द भी पूर्वोक्त तथा जिसका आगे वर्णन करेंगे ऐसी दोनोंही संख्याओंको उत्कृष्ट अपेक्षा समझना यह सूचित करता है ।

इति योगमार्गानाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त वेदमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

पुरिसिच्छिसंदवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंदओ भावे ।

णामोदयेण द्रव्ये पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥

पुरुषबीषण्डेदोदयेन पुरुषबीषण्डः भावे ।

णामोदयेण द्रव्ये प्रायेण समा: कचिद् विसमा: ॥ २७० ॥

अर्थ—पुरुष खी और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे भावपुरुष भावखी भाव नपुंसक होता है । और नामकर्मके उदयसे द्रव्य पुरुष द्रव्य खी द्रव्य नपुंसक होता है । सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायःकरके समान होता है, परन्तु कहीं २ विषम भी होता है । **भावार्थ—**वेदनामक नोकपायके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है, और आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होता है । सो ये दोनों ही वेद प्रायःकरके तो समान ही होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वही द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद । परन्तु कहीं २ विषमता भी होनाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा ।

वेदसुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।

संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोषं वा ॥ २७१ ॥

वेदस्योदीरणायां परिणामस्य च भवेत् संमोहः ।

संमोहेन न जानाति जीवो हि गुणं वा दोषं वा ॥ २७१ ॥

अर्थ—वेद नोकपायके उदय अथवा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोंमें बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है । और इस मोहके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोषका विचार नहीं कर सकता ।

पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कर्म ।

पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वर्णिणओ पुरिसो ॥ २७२ ॥

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म ।

पुरुरुत्तमश्च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः ॥ २७२ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगोंका जो स्वामी हो, अथवा जो लोकमें उत्कृष्ट-गुणयुक्त कर्मको करै, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं ।

छादयदि सयं दोसे पायदो छाददि परं वि दोसेण ।

छादणसीला जम्हा तम्हा सा वर्णिणया इत्थी ॥ २७३ ॥

१ यद्यपि शीङ् धातुका अर्थ स्वप्न है, तथापि “धातूनामेकार्थः” इस नियमके अनुसार स्वामी, करना तथा स्थिति अर्थ मानकर पृथोदरादि गणके द्वारा यह शब्द सिद्ध किया गया है । पुरुष शेते इति पुरुषः इत्यादि । अथवा षोडस्तर्कर्मणि इस धातुसे इस शब्दकी सिद्धि समझना चाहिये । पुरु शब्दका अर्थ उत्तम होता है ।

आद्यति स्वकं दोषे नयतः आद्यति परमपि दोषेण ।

आदनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता स्त्री ॥ २७३ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करै, और मृदु धाषण तिरङ्गे चितवन आदि व्यापारसे जो दूसरे पुरुषोंको भी हिंसा अब्रस्य आदि दोषोंसे आच्छ दित करै, उसको अच्छादन—स्वभावयुक्त होनेसे स्त्री कहते हैं ।

मार्वार्थ—यथोप बहुत सी खियां अपनेको तथा दूसरोंको दोषोंसे आच्छादित नहीं भी करती हैं तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरुक्तिसिद्धै लक्षण किया है ।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिङ्गविदिरितो ।

इट्टावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥ २७४ ॥

ैव स्त्री ैव पुमान् नंसक उभयलिङ्गल्यतिरितः ।

इष्टापाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिङ्गोंसे रहित जीवको नंसक कहते हैं । इसके अवा (भट्टा) में पकती हुई ईंटकी अग्निके समान तीव्र क्षय होती है । अत एव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है ।

वेदरहित जीवोंको बताते हैं ।

तिणकारिसिद्धपागग्निसरिसपरिणामवेदणमुक्ता ।

अवगयवेदा जीवा सगसंभवण्ठतवरसोक्ष्वा ॥ २७५ ॥

तृणकरिषेष्टपाकाग्निसद्वशपरिणामवेदनेन्मुक्तः ।

अपगतवेदा जीवाः स्वकसम्भवानन्तवरसोल्याः ॥ २७५ ॥

अर्थ—तृणकी अग्नि कारीप अग्नि इष्टपाक अग्नि (अवाकी अग्नि) के समान वेद के परिणामोंसे रहित जीवोंको अपगतवेद कहते हैं । ये जीव अपनी आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगते हैं ।

वेदमार्गाणमें पांच गाथाओं द्वारा जीवसंल्याका वर्णन करते हैं ।

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसाय सपिणिणो जीवा ।

तत्तेउपम्मलेस्सा संखगुणूणा कमेणदे ॥ २७६ ॥

ज्योतिष्कवानयोनिनीर्तिर्थक्पुरुषाश्च संज्ञिनो जीवाः ।

तत्तेजःपद्मलेश्याः संख्यगुणोनाः क्रमैते ॥ २७६ ॥

अर्थ—ज्योतिषी, व्यन्तर, योनिमती तिर्थीन, संज्ञी तिर्थीन, संज्ञी तिर्थीन तेजोलेश्यावाले, तथा संज्ञीतिर्थीन पद्मलेश्यावाले जीव क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे

१ स्त्रं परं वा दोषैःखीणाति आच्छादयति इति स्त्रीः । २ न स्त्री न उमानिति नंसकः ।

हीन हैं । भावार्थ—६९९३६ से गुणित प्रतराङ्कुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही ज्योतिषी जीवोंका प्रमाण है । इसमें क्रमसे असंख्यातगुणा २ कम करनेसे आगे २ की राशिका प्रमाण निकलता है ।

इगपुरिसे बत्तीसं देवीं तज्जोगभजिददेवोघे ।

सगुणगारेण गुणे पुरुषा महिला य देवेषु ॥ २७७ ॥

एकपुरुषे द्वात्रिंशदेव्यः तयोगभक्तदेवौघे ।

स्वकृणकारेण गुणे पुरुषा महिलाश्च देवेषु ॥ २७७ ॥

अर्थ—देवगतिमें एक देवकी क्रमसे कम बत्तीस देवियां होती हैं । इसलिये देव और देवियोंके जोड़रूप तेतीसका समस्त देवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारके साथ गुणा करनेसे देव और देवियोंका प्रमाण निकलता है । भावार्थ—समस्त देवराशिमें तेतीसका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका एकके साथ गुण करनेसे देवोंका और बत्तीसके साथ गुणा करनेसे देवियोंका प्रमाण निकलता है । यथापि इन्द्रादिकोंकी देवियोंका प्रमाण अधिक है; तथापि प्रकीर्णक देवोंकी ओपक्षा इन्द्रादिका प्रमाण अत्यल्प है, अतः उनकी यहां पर विवक्षा नहीं की है ।

देवेहिं सादिरेया पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी ।

तेहिं विहीण सवेदो रासी संढाण परिमाणं ॥ २७८ ॥

देवैः सातिरेकाः पुरुषा देवीभिः साधिकाः ख्रियः ।

तौविहीनः सवेदो राशिः पण्डानां परिमाणम् ॥ २७८ ॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक, मनुष्य और तिर्यगतिसम्बन्धी पुंजेदवालोंका प्रमाण है । और देवियोंसे कुछ अधिक मनुष्य तथा तिर्यगति सम्बन्धी ख्रीवेदवालोंका प्रमाण है । सवेदराशिमें पुंजेद तथा ख्रीवेदका प्रमाण वर्यानेसे जो शेष रहे वह नपुंसकोंका प्रमाण है ।

गव्यमण्पुइत्थिसण्णी सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा ।

कुरुजा असप्पिणगव्यमजणपुइत्थीवाणजोइसिया ॥ २७९ ॥

थोवा तिसु संखगुणा तत्त्वो आवलिअसंखभागगुणा ।

पल्लासंखेजजगुणा तत्त्वो सञ्चत्थ संखगुणा ॥ २८० ॥

गर्भनपुन्नीसंज्ञिनः सम्भूत्तनसंज्ञिर्णका इतरे ।

कुरुजा असप्पिर्गम्भेनपुन्नीवानप्योतिष्ठाः ॥ २७९ ॥

स्तोकाः त्रिषु संख्यगुणाः तत आवल्यसंख्यभागगुणाः ।

पल्लासंख्येयगुणाः ततः सर्वत्र संख्यगुणाः ॥ २८० ॥

अर्थ— गर्भज संज्ञी नपुंसक १ पुलिङ्ग २ तथा खीलिङ्ग ३ । सम्भूर्णन संज्ञी पर्याप्त ४ और अपर्याप्त ५ भोगभूमिया ६ असंज्ञी गर्भज नपुंसक ७ पुलिङ्ग ८ खीलिङ्ग ९ । व्यन्तर १० । और ज्येतिषी ११ । इन म्यारह भ्यानेको क्रमसे स्थापन करना चाहिये । जिसमें पहला स्थान सबसे स्तोक है । और उससे आगेके तीन स्थान संख्यातगुणे २ हैं । पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भाग गुणा है । छठा स्थान पल्यके असंख्यातमे भाग गुणा है । इसमें आगेके स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं । भावार्थ—चौथे और पांचमे स्थानवाले जीव नपुंसक ही होते हैं । छठे स्थानवाले पुलिङ्ग और खीलिङ्ग ही होते हैं । ६९९३६ से गुणित प्रतराङ्गुलका, आठवार असंख्यातका, एकवार आवलीके असंख्यातमे भागका, एकवार पल्यके असंख्यातमे भागका, जगत्पत्ररमें भाग देनेसे जो लब्ध अवे उतना ही पहले स्थानका प्रमाण है । इसमें आगेके तीन स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं । पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भाग गुणा, छठा स्थान पल्यके असंख्यातमे भाग गुणा, सातमा आठमा नौमा दशमा म्यारहमा स्थान क्रमसे संख्यातगुणा २ है ।

इति वेदमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कथाय— मार्गणिके वर्णनकी आदिर्में प्रथम कथायका निरुक्तिसिद्ध लक्षण वताते हैं ।

सुहंदुक्खसुबहुस्सं कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तण कसाओच्चि णं वेति ॥ २८१ ॥

सुखदुःखसुबहुस्सं कर्मक्षेत्रं कृष्टि जीवस्य ।

संसारदूरमर्यादं तेन कथाय इतीमं वृत्वन्ति ॥ २८१ ॥

अर्थ— जीवके सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत)का यह कर्षण करता है इसलिये इसको कथाय कहते हैं ।

कृप धातुकी अपेक्षासे कथाय शब्दका अर्थ बताकर अब हिंसार्थक कप धातुकी अपेक्षासे कथाय शब्दकी निरक्ति बताते हैं ।

सम्मत्तदेससयलचारित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
द्वादंति वा कथाया चउसोलअसंख्यलोगमिदा ॥ २८२ ॥

सम्यक्त्वदेशसकलचरित्रयथास्त्यातचरणपरिणामान् ।

यातयन्ति वा कथायाः चतुषोदशासंख्यलोकमिताः ॥ २८२ ॥

अर्थ— सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथास्त्यातचारित्ररूपी परिणामोंको जो क्षेत्राते=न होनेदे उसको कथाय कहते हैं । इसके अनन्तानुन्वन्वी अप्रत्यास्त्यानावरण प्रत्या-

स्थानावरण संज्वलन इसप्रकार चार भेद हैं । अनन्तानुबन्धी आदि चारोंके क्रोध मान माया लोभ इस तरह चार ३ भेद होनेसे कथायके उत्तरभेद सोलह होते हैं । किन्तु कथायके उदयस्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं । जो सम्यक्त्वको रोके उसको अनन्तानुबन्धी; जो देशचारित्रको रोके उसको अप्रत्यास्थानावरण; जो सकलचारित्रको रोके उसको प्रत्यास्थानावरण, जो यथास्थात्वारित्रको रोके उसको संज्वलन कथाय कहते हैं ।

शक्तिकी अपेक्षासे क्रोधादि चार कथायोंके चार गायाओंद्वारा भेद गिनाते हैं ।

सिलपुढविभेदधूलीजलराहसमाणओ हवे कोहो ।

णारयतिरियणरामरग्द्वासु उप्पायओ कमसो ॥ २८३ ॥

शिलापृथक्भेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः ।

नारकतिर्यग्रामरगतिपृष्ठादकः क्रमशः ॥ २८३ ॥

अर्थ—क्रोधी चार प्रकारका होता है । एक पत्थरकी रेखाके समान, दूसरा पृथ्वीकी रेखाके समान; तीसरा धूलिरेखाके समान, चौथा जलरेखाके समान । ये चारों प्रकारके क्रोध क्रमसे नरक तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं ।

सेलटुकटुवेत्ते णियमेणणुहरंतओ माणो ।

णारयतिरियणरामरग्द्वासु उप्पायओ कमसो ॥ २८४ ॥

शैलस्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदनानुहरन् मानः ।

नारकतिर्यग्रामरगतिपृष्ठादकः क्रमशः ॥ २८४ ॥

अर्थ—मान भी चार प्रकारका होता है । पत्थरके समान, काठके समान, हड्डीके समान, तथा बेतके समान । ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक तिर्यक्ष मनुष्य तथा देव गतिके उत्पादक हैं । **भावार्थ—**निस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता, इस ही प्रकार निसके उदयसे जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैलसमान (पत्थरके समान) मान कहते हैं । ऐसे मानके उदयसे नरकगति उत्पन्न होती है । इस ही तरह अस्तिसमान (हड्डीके समान) आदिक मानको भी समझना चाहिये ।

वेणुपमूलोरब्धभयसिंगे गोमुत्तए य स्वोरप्पे ।

सरिसी माया णारयतिरियणरामरग्द्वासु खिबदि जियं ॥ २८५ ॥

वेणुपमूलोरभ्रकशृङ्खेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण ।

सटशी माया नारकतिर्यग्रामरगतिष्ठ शिपति जीवम् ॥ २८५ ॥

अर्थ—माया भी चार प्रकारकी होती है । वांसकी जड़के समान, मेड़ेके सींगके समान, गोमूत्रके समान, खुरपाके समान । यह चार तरहकी माया भी क्रमसे जीवको

१ अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकारके क्रोधमें प्रत्येक क्रोधके ये चार २ भेद समझने चाहिये,

नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देवगतिमें लेनाती है । भावार्थ—मायाके ये नार भेद कुटिलताकी अपेक्षासे हैं । जितनी अधिक कुटिलता इसमें पाई जाय उतनी ही उत्कृष्ट माया कही जाती है, और वह उक्त क्रमानुसार गतियोंकी उत्पादक होती है ।

किमिरायचक्कतणुमलहरिदशाण सरसिओ लोहो ।

णारयतिरिक्खमाणुसद्वेसुप्पायओ कमसो ॥ २८६ ॥

किमिरायचक्कतणुमलहरिदशाण सदशो लोभः ॥

नारकतिर्यमाणुपदेशैत्यादकः क्रमशः ॥ २८६ ॥

अर्थ—लोभ कथाय भी चार प्रकारका है । किमिरायके समान, चक्रमल (रथ आदि-कके पहियोंके भीतरकी ओंगन) के समान, शरीरके मलके समान, हल्दीके रंगके समान । यह भी क्रमसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य देवगतिका उत्पादक है । भावार्थ—निस प्रकार किरिमिजीका रंग अत्यंत गाढ़ होता है—बड़ी ही मुश्किलसे छूटा है । उसी प्रकार जो लोभ सबसे जादे गाढ़ हो उसको किरिमिजी के समान कहते हैं । इससे जो जल्दी २ छूटेवाले हैं उनको क्रमसे जोंगन, शरीरमल, हल्दी के रंगके समान कहते हैं,

नरकादि गतिमें उत्पत्तिके प्रथम समयमें बहुलताकी अपेक्षासे कोषादिके उदयका नियम बताते हैं ।

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उपपणपठमकालाम्हि ।

कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥ २८७ ॥

नारकतिर्यग्नरसुरगतिपत्पन्नप्रथमकाले ।

कोषो माया मानो लोभोदयः अनियमो वापि ॥ २८७ ॥

अर्थ—नरक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रमसे कोष माया मान और लोभका उदय होता है । अथवा अनियम भी है । भावार्थ—नरकगतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समयमें कोषका उदय होता है । परन्तु किसी २ आचार्यका मत है कि ऐसा नियम नहीं है । इस ही प्रकार तिर्यगतिमें उत्पन्न होनेवालेके प्रथम समयमें किसी २ आचार्यके मतसे नियमसे माया कथायका उदय होता है । और मनुष्यगतिके प्रथम समयमें मानका तथा देवगतिके प्रथम समयमें लोभ कथायका उदय होता है ।

कथायरहित जीवोंको बताते हैं ।

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमितकोहाडी ।

जेसिं णस्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥ २८८ ॥

आत्मपरोभयबाधणबन्धासंयमनिमितकोषादयः ।

येषां न सन्ति कथाया अमला अकथायणो जीवाः ॥ २८८ ॥

अर्थ—जिनके, खुदको दूसरेको तथा दोनोंको ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहत हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ।

क्रोधादि कपायोंके शक्तिकी अपेक्षासे स्थान बताते हैं ।

कोहादिकसायाणं चउ चउदसवीस हौंति पदसंखा ।

सत्तीलेस्साआउगवंधावंधगदभेदहिं ॥ २८९ ॥

क्रोधादिकपायाणां चत्वारश्चतुर्दशिंशितः भवन्ति पदसंख्याः ।

शक्तिलेश्याऽयुक्तवंधावंधगतभेदैः ॥ २९० ॥

अर्थ—शक्ति, लेश्या, तथा आयुके वंधाबन्ध गत भेदोंकी अपेक्षासे क्रोधादिक कषायोंके क्रमसे चार चौदह और वीस स्थान होते हैं । भावार्थ—शक्तिकी अपेक्षा चार, लेश्याकी अपेक्षा चौदह और आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंके वीस स्थान होते हैं ।

शक्तिकी अपेक्षासे होनेवाले चार स्थानोंको गिनाते हैं ।

सिलसेलवेणुमूलकिकमिरायादी कमेण चत्तारि ।

कोहादिकसायाणं सत्तिं पड्डि हौंति णियमेण ॥ २९० ॥

शिलाशैलवेणुमूलकिमिरागार्दीनि क्रमेण चत्तारि ।

क्रोधादिकपायाणां शक्ति प्रति भवन्ति नियमेन ॥ २९० ॥

अर्थ—शिलाभेद आदिक चार प्रकारका क्रोध, शैलसमान आदिक चार प्रकारका मान, वेणु (वांस) मूलके समान आदिक चार तरहकी माया, क्रिमिरागके समान आदिक चार प्रकारका लोभ, इस तरह क्रोधादिक कषायोंके उक्त नियमके अनुसार क्रमसे शक्तिकी अपेक्षा चार २ स्थान हैं ।

लेश्याकी अपेक्षा होनेवाले चौदह स्थानोंको गिनाते हैं ।

किण्हं सिलासमाणे किण्हादी छक्कमेण भूमिष्ठि ।

छक्कादी सुककोति य धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का ॥ २९१ ॥

कृष्णा शिलासमाने कृष्णादयः षट् क्रमेण भूमौ ।

पट्कादि: शुक्लेति च धूर्यै जले शुक्लैका ॥ २९१ ॥

अर्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्ण लेश्याकी अपेक्षासे एक ही स्थान होता है । पृथ्वीसमान क्रोधमें कृष्ण आदिक लेश्याकी अपेक्षा छह स्थान हैं । धूलिसमान क्रोधमें छह लेश्यासे लेकर शुक्ललेश्यापर्यंत छह स्थान होते हैं । और जलसमान क्रोधमें केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है । भावार्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्णलेश्याका एक

ही स्थान होता है । पृथ्वीभेदसमान क्रोधमें छह स्थान होते हैं, एहल कृष्णलेश्याका, दूसरा कृष्ण नील लेश्याका, तीसरा कृष्ण नील कपोत लेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याका, पांचमा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याका, छठा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म शुक्लेश्याका । इस ही प्रकार भूलिंगवा समान क्रोधमें भी अह स्थान होते हैं । पहला कृष्णादिक छह लेश्याका, दूसरा कृष्णरहित पांचलेश्याका, तीसरा कृष्ण नीलरहित चारलेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोतरहित अतकी तीन शुभ लेश्याओंका, पांचमा पद्म और शुक्ल लेश्याका, छठा केवल शुक्ल लेश्यका । जलरेता समान क्रोधमें एक शुक्ल लेश्याका ही स्थान होता है । जिस प्रकार क्रोधके लेश्याओंकी अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये हैं उस ही तरह मानादिक कथागमें भी चौदह २ भेद समझना चाहिये ।

आयुके बांधवंशकी अपेक्षासे तीन गाथाओंद्वारा वीस स्थानोंको गिनाते हैं ।

सेक्षणकिणहे सुण्णं पिरयं च य भूगप्तगविद्वाणे ।

पिरयं इगिवितिआऊ तिटाणे चारि सेसपदे ॥ २९२ ॥

शैलगकृष्णे शून्यं निरयं च च भूगेकद्विस्थाने ।

निरयमेकद्विच्यायुखिस्थाने चत्वारि शेषपदे ॥ २९२ ॥

अर्थ—शैलगत कृष्णलेश्यामें कुछ स्थान तो ऐसे हैं कि जहांपर आयुबन्ध नहीं होता, इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयुका बन्ध होता है । इसके बाद पृथ्वीभेदगत पहले और दूसरे स्थानमें नरक आयुका ही बन्ध होता है । इसके भी बाद कृष्ण नील कपोत लेश्याके तीसरे भेदमें (स्थानमें) कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक आयुका ही बन्ध होता है, और कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक तिर्यक्ष दो आयुका बन्ध होसकता है, तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहांपर नरक तिर्यक्ष तथा मनुष्य तीनों ही आयुका बन्ध हो सकता है । शेषके तीन स्थानोंमें चारों आयुका बन्ध हो सकता है ।

धूलिगछकटाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिलं ।

पणचदुठाणे देवं देवं सुण्णं च तिटाणे ॥ २९३ ॥

धूलिगप्तकस्थाने चतुरायूषि विकद्विकं नोपरितनष् ।

पञ्चतुर्यस्थाने देवं देवं शून्यं च तृतीयस्थाने ॥ २९३ ॥

अर्थ—धूलिभेदगत छहलेश्यावाले प्रथम भेदके कुछ स्थानोंमें चारों आयुका बन्ध होता है, इसके अनन्तर कुछ स्थानोंमें नरक आयुको छोड़कर शेष तीन आयुका और कुछ स्थानोंमें नरक तिर्यक्षको छोड़कर शेष दो आयुका बन्ध होता है । कृष्णलेश्याको छोड़कर पांचलेश्यावाले दूसरे स्थानमें तथा कृष्ण नीललेश्याको छोड़कर शेष चार लेश्या

बाले तृतीयस्थानमें केवल देव आयुका बन्ध होता है । अन्तकी तीन लेश्यावाले चौथे भेदके कुछ स्थानोंमें देवायुका बन्ध होता है और कुछ स्थानोंमें आयुका अवन्ध है ।

सुणणं दुग्घगिठाणे जलम्हि सुणणं असंख्यजिदकमा ।

चउचोदसवीसपदा असंख्यलोगा हु पत्तेयं ॥ २९४ ॥

शून्यं द्विकैकस्थाने जले शून्यमसंख्यभनितकमा : ।

चतुश्चतुर्दशविशतिपदा असंख्यलोका हि प्रत्येकम् ॥ २९४ ॥

अर्थ—इस हीके (खुलभेदगतहीके) पश्च और शुक्ललेश्यावाले पांचमे स्थानमें और केवल शुक्ललेश्यावाले छाँड़े स्थानमें आयुका अवन्ध है, तथा जलभेदगत केवल शुक्ललेश्यावाले एक स्थानमें भी आयुका अवन्ध है । इस प्रकार कगायोंके शक्तिकी अपेक्षा चार भेद, लेश्याओंकी अपेक्षा चाँदह भेद, आयुके बन्धावन्धकी अपेक्षा बीस भेद हैं । इनमें प्रत्येकके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं । तथा अपने २ उत्कृष्टसे अपने २ जघन्यपर्यन्त कमसे असंख्यातगुणे २ हीन हैं ।

कथायमर्गिणामें तीन गाथाओंद्वारा जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

पुह पुह कसायकालो णिरये अंतोमुहुतपरिमाणो ।

लोहादी संखगुणो देवेसु य कोहपहुदीदो ॥ २९५ ॥

पृथक् पृथक् कथायकालः निरये अन्तर्मुहूर्परिमाणः ।

लोभादिः संखगुणो देवेषु च कोधप्रभृतिः ॥ २९५ ॥

अर्थ—नरकमें नारकियोंके लोभादि कथायका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त मात्र होने-पर भी पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथायका काल पृथक् २ संख्यातगुणा २ है । और देवोंमें कोधादिक लोभपर्यन्त कथायोंका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त; किन्तु विशेषरूपसे पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका संख्यातगुणा २ काल है । **भावार्थ—**यद्यपि सामान्यसे प्रत्येक कथायका काल अन्तर्मुहूर्त है, तथापि नारकियोंके जितना लोभका काल है उससे संख्यातगुणा मायाका काल है, और जितना मायाका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानके कालसे भी संख्यातगुणा कोधका काल है । किन्तु देवोंमें इससे विपरीत है । अर्थात् जितना कोधका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानसे संख्यातगुणा मायाका और मायासे संख्यातगुणा लोभका काल है ।

सद्वसमासेणवाहिदसगसगरासी उणोवि संगुणिदे ।

सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीणपरिमाणं ॥ २९६ ॥

सर्वसमासेनावहितस्वकस्वकराशौ पुनरपि संगुणिते ।

स्वकस्वकगुणकारैश्च स्वकस्वकराशीनां परिमाणम् ॥ २९६ ॥

अर्थ— अपनी २ गतिमें सम्भव जीवराशिमें समस्त कायोंके उदयकालके जोड़का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारसे गुणन करनेपर अपनी २ राशिका परिमाण निकलता है । **भावार्थ—** कल्पना कीजिये कि देवगतिमें देव राशिका प्रमाण १७०० है और क्रोधादिके उदयका ३ ल क्रमसे ४, १६, ६४, २९६ है । इस लिये समस्त कषायोदयके कालका जोड़ ३४० हुआ । इसका उक्त देवराशिमें भाग देनेसे लब्ध ९ आते हैं । इस लब्ध राशिका अपने कषायोदयकालसे गुणा करने पर अपनी २ राशिका प्रमाण निकलता है । यदि क्रोधकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो ४ से गुणा करने पर वीस निकलता है, यदि मानकषायवालोंका प्रमाण निकालना दो तो १६ से गुणा करनेपर ८० प्रमाण निकलता है । इस ही प्रकार आगे भी समझना । निस तरह यह देवोंकी अङ्कसंदृष्टि कही उस ही तरह नारकियोंकी भी समझना, किन्तु अङ्कसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना । क्रोधादि कषायवाले जीवोंकी संख्या निकालनेका यह क्रम केवल देव तथा नरक-गतिमें ही समझना ।

मनुष्य तथा तिर्यङ्गेमें कषायवाले जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

णरतिरिय लोहमायाकोहो माणो विहंदियादिव्व ।

आवलिअसंख्यभज्ञा सगकालं वा समासेज्ज ॥ २९७ ॥

नरतिरश्चोः लोभमायाकोहो माणो द्वीन्द्रियादिवत् ।

आवल्यसंख्यभाज्या स्वकालं वा समासाद्य ॥ २९७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुर्निंद्रिय तथा पंचनिंद्रिय जीवोंकी संख्या पहले निकाली है उसही क्रमसे मनुष्य तथा तिर्यङ्गोंके लोभ माया क्रोध और मानवाले जीवोंका प्रमाण आवलीके असंख्यतमे भाग क्रमसे निकालना चाहिये । अथवा अपने २ कालकी अपेक्षासे उक्त कषायवाले जीवोंका प्रमाण निकालना चाहिये । **भावार्थ—** चारों कषायोंका जितना प्रमाण है उसमें आवलीके असंख्यतमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभागको चारों जगह समान रूपसे विभक्त करना और शेष एक भागका “बहुभागे समभागे” इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार विभाग करनेसे चारों कषायवालोंका प्रमाण निकलता है । अथवा यदि इतने कालमें इतने जीव रहते हैं तो इतने कालमें कितने रहेंगे इस त्रैराशिक विधानसे भी कषायवालोंका प्रमाण निकलता है ।

इति कषायमार्गणाधिकारः ॥

—८५—

क्रमप्राप्त ज्ञानमार्गणाके प्रारम्भमें ज्ञानका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण कहते हैं ।

जाणहृतिकालविसए दृढ़वगुणे पञ्जए य बहुभेदे ।

पञ्चकसं च परोकरं अणेण णाणेति ण बेति ॥ २९८ ॥

ज्ञानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च वहुभेदान् ।

प्रत्यक्षं च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ २९८ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक (भूत भविष्यत वर्तमान) समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जाने उसको ज्ञान कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष ।

ज्ञानके भेदोंको दिखाते हुए उनका क्षायोपशमिक और क्षायिकरूपसे विभाग करते हैं ।

पञ्चेव ह्रौंति णाणा मदिसुदांहोहीमणं च केवलयं ।

खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ॥ २९९ ॥

पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।

क्षायोपशमिकानि चत्वारि केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—ज्ञानके पांच भेद हैं । मति श्रुत अवधि मनःपर्यय तथा केवल । इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है ।

मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी बताते हैं ।

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये ।

णवरि विभंगं णाणं पञ्चेन्द्रियसणिणपुणेव ॥ ३०० ॥

अज्ञानत्रिकं भवति हि सदूज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वानोदये ।

नवरि विभङ्गं ज्ञानं पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपूर्णं एव ॥ ३०० ॥

अर्थ—आदिके तीन (मति श्रुत अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं । ज्ञानके मिथ्या होनेका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कथायका उदय है । मिथ्या अवधिको विभंग भी कहते हैं । इसमें यह विशेषता है कि यह विभंग ज्ञान संज्ञी पर्यासक पञ्चेन्द्रियके ही होता है ।

मिश्रज्ञानका कारण और मनःपर्ययज्ञानका स्वामी बताते हैं ।

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।

संजमविसेससहिए मणपञ्जवणाणमुद्दिठं ॥ ३०१ ॥

मिश्रोदये संमिश्रमज्ञानत्रयेण ज्ञानत्रयमेव ।

संयमविशेषसहिते मनःपर्ययज्ञानमुद्दिष्ट ॥ ३०१ ॥

अर्थ—मिश्र प्रकृतिके उदयसे आदिके तीन ज्ञानोंमें समीचीनता तथा मिथ्यापना दोनों ही पाये जाते हैं, इसलिये इनको मिथ्र ज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान जिनके विशेष संयम होता है उनहींके होता है । **भावार्थ—**मनःपर्यय ज्ञान प्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय

गुणस्थानपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें होता है; परन्तु इनमें भी जिनका चारित्र उत्तरोत्तर वर्धमान होता है उनहींके होता है ।

तीन गाथाओंमें दृष्टान्तद्वारा मिथ्यज्ञानोंको स्पष्ट करते हैं ।

विषजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएमकरणेण ।

जा खलु पवड्डइ मई महअण्णाण्णन्तिणं बेति ॥ ३०२ ॥

विषयन्त्रकूटपञ्चवंशादिपु विनोपदेशकरणेन ।

या खलु प्रवर्तने मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०३ ॥

अर्थ—दूसरेके उपदेशके विना जो विषय यन्त्र कूट पंजर तथा वंथ आदिकके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ; भावार्थ—जिसके खानेसे जीव मर सके उस द्रव्यको विष कहते हैं । भीतर पैर रखते ही जिसके किंवाढ़ बन्द होजाय, और जिसके भीतर बकरी आदिको बांधकर सिंह आदिकको पकड़ा जाता है उसको यन्त्र कहते हैं । जिससे मूसे वैरह पकड़ जाते हैं उसको कूट कहते हैं । रसीमें गांठ ल्याकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं । हाथी आदिको पकड़नेके लिये जो गड्ढे आदिक बनाये जाते हैं उनको वंथ कहते हैं । इत्यादिक पदार्थोंमें दूसरेके उपदेशके विना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं; क्योंकि उपदेशपूर्वक होनेसे वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायगा ।

आभीयमासुरक्षं भारहरामायणादिउवएसा ।

तुच्छा असाधनीया सुयअण्णाण्णन्ति णं बेति ॥ ३०३ ॥

आभीतमासुरक्षं भारतरामायणाद्युपदेशाः ।

तुच्छा असाधनीया श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०३ ॥

अर्थ—चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र, भारत, रामायण आदिके परमार्थशन्य अत एव अनादरणीय उपदेशोंको मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं ।

विवरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कर्मवीजं च ।

वेभंगोत्ति पउच्छइ समत्तणाणीण समयम्हि ॥ ३०४ ॥

विपरीतमवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्मवीजं च ।

विभङ्ग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ॥ ३०४ ॥

अर्थ—सर्वज्ञोंके उपदेष्ट आगममें विपरीत अवधि ज्ञानको विभङ्ग कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय । भावार्थ—देव नारकियोंके विपरीत अवधि-ज्ञानको भवप्रत्यय विभङ्ग कहते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यक्योंके विपरीत अवधिज्ञानको क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं । इस विभङ्गका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्म आदिक कर्म है ।

इसके निमित्तमें विशिष्ट (समीचीन) अवधिज्ञानके भङ्ग होनेको (विपरीत होनेको) विभङ्ग कहते हैं । यह इसका (विभङ्गका) निश्चिसिद्ध अर्थ है ।

मतिज्ञानका स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद, विषय नौ गाथाओंमें दिखाते हैं ।

अहिमुहिण्यमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइदियजम् ।

अवगह्वावायाधारणगा होति पत्तेयं ॥ ३०५ ॥

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम् ।

अवग्रहेहावायाधारणका भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदा र्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिवाधिक कहते हैं । इसमें प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद हैं । **भावार्थ—**स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको अभिमुख कहते हैं । और जैसे चक्षुका रूप विषय है इस ही तरह जिस इन्द्रियका जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं । इस तरहके पदार्थोंका मन अथवा स्वर्णन आदिक पांच इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं । इस प्रकार मन और इन्द्रियकी अपेक्षासे मतिज्ञानके छह भेद हुए । इसमें भी प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद होते हैं । प्रत्येकके चार २ भेद होते हैं इसलिये छहको चारसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं ।

अवग्रहके भी भेद आदिक दिखाते हैं ।

वेंजणअत्थअवग्रहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।

कमसो ते वावरिदा पठर्मण ण हि चक्षुमणसाणं ॥ ३०६ ॥

व्यञ्जनार्थावग्रहभेदौ हि भवतः प्राप्तप्राप्तार्थे ।

क्रमशस्तौ व्यापूतै प्रथमो नहि चक्षुर्नमोः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—अवग्रहके दो भेद हैं, एक व्यञ्जनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह । जो प्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं, और जो अप्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं । और ये पहले व्यञ्जनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रमसे होते हैं । तथा व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता । **भावार्थ—**इन्द्रियोंसे प्राप्त—सम्बद्ध अर्थको व्यञ्जन कहते हैं, और अप्राप्त=असम्बद्ध पदार्थको अर्थ कहते हैं । और इनके ज्ञानको क्रमसे व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह कहते हैं । (शङ्ख) राजवार्तिकादिकमें व्यञ्जन शब्दका अर्थ अन्यक्त किया है, और यहां पर प्राप्त अर्थ किया है, इस लिये परस्पर विरोध आता है । (उत्तर) व्यञ्जन शब्दके अनभिव्यक्ति तथा प्राप्ति दोनों अर्थ होते हैं । इसलिये इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होने पर भी जब तक प्रकट न

हो तब तक उसको व्यञ्जन कहते हैं, प्रकट होनेपर अर्थ कहते हैं। अत एव चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता; क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। जिस तरह नवीन मट्टीके सकोरा आदिपर एक दो पानीकी बूँद पड़नेसे वह व्यक्त नहीं होती; फिल्हा अधिक बूँद पड़नेसे वही व्यक्त हो उठती है। इस ही तरह श्रोत्रादिके द्वारा प्रथम अव्यक्त शब्दादि कके ग्रहणको व्यञ्जनावग्रह, और पीछे उसहीको प्रकटरूपसे ग्रहण करनेपर अर्थावग्रह वहते हैं। व्यञ्जन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इसलिये चार इन्द्रियोंका अपेक्षा व्यञ्जनावग्रहके चार हाँ भेद हैं। पूर्वोक्त चौतीस भेदोंमें इन चार भेदोंको मिलानेसे मनिज्ञानके अद्वाईम भेद होते हैं।

विसयाणं विसइर्णं संजोगाणंतरं हवे णियमा ।

अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ॥ ३०७ ॥

विषयाणां विषयिणां संयोगानन्तरं भवेत् नियमात् ।

अवगहणानं गृहीते विशेषाकंक्षा भवेदीहा ॥ ३०७ ॥

अर्थ—पदार्थ और इन्द्रियोंका योग्य क्षेत्रमें अवस्थानरूप सम्बन्ध होनेपर सामान्यका अवलोकन करनेवाला दर्शन होता है। और इसके अनन्तर विशेष आकार आदिको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया है उसहीके किसी विशेष अंशको ग्रहण करनेवाला ईहा ज्ञान होता है। भावार्थ—जिस तरह किसी दाक्षिणात्य पुरुषको देखकर यह कुछ है इस तरहके महासामान्यावलोकनको दर्शन कहते हैं। इसके अनन्तर ‘यह पुरुष है’ इस तरहके ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। और इसके अनन्तर “यह दाक्षिणात्य ही होना चाहिये” इस तरहके विशेष ज्ञानको ईहा कहते हैं।

ईहणकरणेण जदा सुर्णिणाओ होदि सो अवाओ दु ।

कालांतरेवि णिर्णिणदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं ॥ ३०८ ॥

ईहनकरणेन यदा सुर्णिणयो भवति स अवायस्तु ।

कालान्तरेऽपि निर्णितवस्तुस्मरणस्य कारणं तुर्यम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष निहोंको देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेष विन्यास आदिको देखकर “यह दाक्षिणात्य ही है” इस तरहके निश्चयको अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमें भी विस्मरण न हो उसको भारणा ज्ञान कहते हैं।

उक्त चार तरहके ज्ञानोंका बारह तरहका विषय दिखाते हैं।

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्तिदणुतं ध्रुवं च इदरं च ।

तत्थेककेके जावे छत्तीसं तिसयभेदं तु ॥ ३०९ ॥

वहु बहुविधं च क्षिप्रानिःसृदतुकं ध्रुवं च इतरच्च ।
तत्रैकैकस्मिन् जाते पट्टिंशत् विशतभेदं तु ॥ ३०९ ॥

अर्थ—उक्त मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थके बारह भेद हैं । वहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत्, निसृत्, अनुक्त, उक्त । इनमेंसे प्रत्येक विषयमें मतिज्ञानके उक्त अद्वाईस भेदोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये बारहको अद्वाईससे गुणा करनेपर मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं ।

बहुवत्तिजादिगहणे बहुवहुविहसियरामियरगहणम्हि ।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा ॥ ३१० ॥

बहुन्यक्तिजातिग्रहणे वहु बहुविधमितरदितरग्रहणे ।

स्तकनामतः सिद्धाः क्षिप्रादयः सेतराश्च तथा ॥ ३१० ॥

अर्थ—एक जातिकी बहुतसी व्यक्तियोंको वहु कहते हैं । अनेक जातिके बहुत पदार्थोंको बहुविध कहते हैं । एक जातिकी एक दो व्यक्तिको अल्प (एक) कहते हैं । एक जातिकी अनेक व्यक्तियोंको एकविध कहते हैं । क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियोंका उनके नामसे ही अर्थ सिद्ध है । भावार्थ—शीघ्र पदार्थको क्षिप्र कहते हैं, जैसे तेजीसे वहता हुआ जलप्रवाह । मन्द पदार्थको अक्षिप्र कहते हैं, जैसे कलुआ, धीरे ३ चलनेवाला घोड़ा मनुष्य आदि । छिपे हुएको (अप्रकट) अनिसृत कहते हैं, जैसे जलमें डूबा हुआ हस्ती आदि । प्रकट पदार्थको निसृत कहते हैं, जैसे सामने खड़ा हुआ हस्ती । जो पदार्थ अभिप्रायसे समझा जाय उसको अनुक्त कहते हैं । जैसे किसीके हाथ या शिरसे इसारा करनेपर किसी कामके विषयमें हां या ना समझना । जो शब्दके द्वारा कहा जाय उसको उक्त कहते हैं, जैसे यह घट है । स्थिर पदार्थको ध्रुव कहते हैं, जैसे पर्वत आदि, क्षणस्थायी (अस्थिर) पदार्थको अध्रुव कहते हैं, जैसे निजली आदि ।

अनिसृत ज्ञानविशेषको दिखाते हैं ।

वस्तुस्स पदेसादो वस्तुगगहणं तु वस्तुदेसं वा ।
सकलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवस्तुगर्ह ॥ ३११ ॥

वस्तुनः प्रदेशात् वस्तुग्रहणं तु वस्तुदेशं वा ।

सकलं वा अवलम्ब्य अनिसृतमन्यवस्तुगतिः ॥ ३११ ॥

अर्थ—वस्तुके एकदेशको देखकर समस्त वस्तुका ज्ञान होना, अथवा वस्तुके एकदेश या पूर्ण वस्तुका ग्रहण करके उसके निमित्तसे किसी दूसरी वस्तुके होनेवाले ज्ञानको भी अनिसृत कहते हैं ।

इसका दृष्टान्त दिखाते हैं ।

पुक्खरगहणे काले हस्तिस्स य वद्णगवयगहणे वा ।
वत्थंतरचंद्रसं यं धेणुस्स य बोहणं च हवे ॥ ३१२ ॥

पुक्खरगहणे काले हस्तिनश्च वदनगवयगहणे वा ।

वस्त्वन्तरचंद्रस्य च धेनोश्च बोधनं च भवेत् ॥ ३१२ ॥

अर्थ— जलमें डूबे हुए हस्तीकी सूंडको देखकर उस ही समयमें जलमग्न हस्तीका ज्ञान होना, अथवा मुखको देखकर उस ही समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमाका ज्ञान होना, अथवा गवयको देखकर उसके सदृश गौका ज्ञान होना । इनको अनिस्त ज्ञान कहते हैं ।

सामान्य विषय अर्थ विषय और पूर्ण विषयकी अपेक्षासे मतिज्ञानके स्थानोंको शिनाते हैं ।

एकचउकं चउवीसटुवीसं च तिष्पद्धि किचा ।

इगिछव्वारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥ ३१३ ॥

एकन्तुकं चतुर्विशत्यष्टविशतिश्च त्रिप्रतिं कृत्वा ।

एकपड्डादशगुणिते मतिज्ञाने भवन्ति स्थानानि ॥ ३१३ ॥

अर्थ— मतिज्ञान सामान्यकी अपेक्षा एक भेद, अवग्रह ईहा अवाय धारणाकी अपेक्षा चार भेद, पांच इन्द्रिय और छठे मनसे अवग्रहादि चारके गुणा करनेकी अपेक्षा चौबीस भेद, अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रहकी अपेक्षासे अट्टाईस भेद, मतिज्ञानके होते हैं । इनको क्रमसे तीन पंक्तियोंमें स्थापन करके एक छह और चारहसे यथाक्रमसे गुणा करनेपर मतिज्ञानके सामान्य अर्थ और पूर्ण स्थान होते हैं । **भावार्थ—** विषयसामान्यसे यदि इन चारका गुणा किया जाय तो क्रमसे एक चार चौबीस और अट्टाईस स्थान होते हैं । और यदि इन चार ही का बहु आदिक छहसे गुणा किया जाय तो मतिज्ञानके अर्थ स्थान होते हैं । जौर बहु आदिक चारहसे यदि गुणा किया जाय तो पूर्ण स्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त श्रुत ज्ञानका विशेष वर्णन करनेसे पहले उसका सामान्य लक्षण कहते हैं ।

अत्यादो अत्थंतरमुवलंभतं भणन्ति सुदणाणं ।

आभिणिबोहियपुञ्च णियमेणिह सद्वजं पमुहं ॥ ३१४ ॥

अर्यादर्यान्तरमुपलभमानं भणन्ति श्रुतज्ञानम् ।

आभिनिवेधिकर्त्तु नियमेनह शब्दनं प्रमुखम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ— मतिज्ञानके विषयमूल पदार्थसे भिन्न पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है । इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह,

अथवा शब्दजन्य और लिङ्गजन्य इस तरहसे दो भेद हैं, इनमें मुख्य शब्दजन्य श्रुतज्ञान है ।
श्रुतज्ञानके भेद गिनाते हैं ।

लोगाणमसंख्यमिदा अणक्खरप्ये हवंति छट्टाणा ।

वेरुवछट्टुवग्गपमाणं रुद्गणमक्खरगं ॥ ३१५ ॥

लोकानामसंख्यमितानि अनक्षरात्मके भवन्ति पट् स्थानानि ।

द्विरूपषष्ठ्वग्गपमाणं रूपोनमक्खरगम् ॥ ३१६ ॥

अर्थ——अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि इन परम्परानपातिते वृद्धिकी अपेक्षासे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके सबसे जग्नन्य स्थानसे लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं । द्विरूप-वर्गधारामें छट्टे वर्गका नितना प्रमाण है (एकड़ी) उसमें एक कम करनेसे नितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है । **भावार्थ—**—अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं । अपुनरुक्त अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके संख्यात भेद हैं, और पुनरुक्त अक्षरात्मकका प्रमाण इससे कुछ अधिक है ।

दूसरी तरहसे श्रुतज्ञानके भेद दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

पज्जायक्खरएदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च ।

दुग्वारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुवं च ॥ ३१६ ॥

तोसिं च समासेहि य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं ।

आवरणस्स वि भेदा तत्त्वियमेत्ता हवंतित्ति ॥ ३१७ ॥

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।

द्विक्वारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥ ३१६ ॥

तेषां च समासैश्च विशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम् ।

आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवन्ति इति ॥ ३१७ ॥

अर्थ——पर्याय पर्यायसमाप्त अक्षर अक्षरसमाप्त पद पदसमाप्त संघात संघातसमाप्त प्रतिपत्तिक प्रतिपत्तिकसमाप्त अनुयोग अनुयोगसमाप्त प्राभृतप्राभृत प्राभृतप्राभृतसमाप्त प्राभृत प्राभृत-समाप्त वस्तु वस्तुसमाप्त पूर्वं पूर्वसमाप्त, इस तरह श्रुतज्ञानके वीस भेद हैं । इस ही लिये श्रुतज्ञानावरण कर्मके भी वीस भेद होते हैं । किन्तु पर्यायावरण कर्मके विषयमें कुछ भेद है उसको आगेके गाथाओंमें बतायेंगे ।

चार गाथाओंमें पर्याय ज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं ।

णवरि विसेसं जाणे सुहमजहणं तु पज्जयं णाणं ।

पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाण मेदम्हि ॥ ३१८ ॥

नवरि विशेषं जानीहि सूक्ष्मजग्न्यं तु पर्यायं ज्ञानम् ।

पर्यायाभ्यां पुनः तदनन्तरज्ञानभेदे ॥ ३१८ ॥

अर्थ——सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तके जो सबसे जग्न्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करनेवाले कर्मके उद्यका फल इसमें (पर्याय ज्ञानमें) नहीं होता; किन्तु इसके अनन्तरज्ञानके (पर्यायसमाप्त) प्रथम भेदमें होता है । भावार्थ—यदि पर्यायावरण कर्मके उद्यका फल पर्यायज्ञानमें होजाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका भी अभाव होजाय, इसलिये पर्यायावरण कर्मका फल उसके आगेके प्रथम ज्ञानके भेद में ही होता है । इसीलिये पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है ।

सुहमणिगोदअपञ्जत्यस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।

हवदि हु सव्वजहणां पिच्छुग्धाडं पिरावरणम् ॥ ३१९ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।

भवति हि सर्वजग्न्यं नित्योद्धारं निरावरणम् ॥ ३१९ ॥

अर्थ——सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जग्न्य ज्ञान होता है । इसीको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इतना ज्ञान हमेशह निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है ।

पर्याय ज्ञानके स्वामीकी विशेषता दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदअपञ्जत्यगेषु सगसंभवेषु भमिऊण ।

चरिमापुण्णतिवक्त्राणादिमवक्त्रिष्टियेव हवे ॥ ३२० ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तगेषु स्वकसम्भवेषु भ्रमित्वा ।

चरमापूर्णतिवक्त्राणामादिमवक्त्रिष्टियेव एव भवेत् ॥ ३२० ॥

अर्थ——सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने २ जितने भव (छह हजार बाहर) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोड़ाओंके द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोड़ाके समयमें सर्वजग्न्य ज्ञान होता है ।

सुहमणिगोदअपञ्जत्यस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।

फासिंदियमदिषुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥ ३२१ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।

सार्शन्दियमतिपूर्वं श्रुतज्ञानं लब्ध्यक्षरकम् ॥ ३२१ ॥

अर्थ——सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है । भावार्थ—लब्धि नाम श्रुत-ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपरामका है, और अक्षर नाम अविनधरका है; इसलिये इस ज्ञानको

लव्यक्षर कहते हैं; ज्योकि इस क्षयोपक्षमका कभी विनाश नहीं होता, कमसे कम इतना क्षयोपशम तो जीवके रहता ही है।

पर्यायसमाप्त ज्ञानका निरूपण करते हैं।

अवरुवरिमि अण्टमसंख संखं च भागवृद्धीए ।
संखमसंखमण्टं गुणवृद्धि होंति हु कमेण ॥ ३२२ ॥

अवरोपरि अनन्तमसंख्यं संख्यं च भागवृद्धयः ।

संख्यमसंख्यमनन्तं गुणवृद्धयो भवन्ति हि कमेण ॥ ३२२ ॥

अर्थ——सर्वजनन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर कमसे अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं।

जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेजं ।

भागगुणभिः य कमसो अवट्ठिदा होंति छटाणा ॥ ३२३ ॥

जीवानां च राशिः असंख्यलोका वरं खलु संख्यातम् ।

भागगुणयोश्च कमशः अवस्थिता भवन्ति पट्स्याने ॥ ३२३ ॥

अर्थ——समस्त जीवराशि, असंख्यातलोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि, पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोंमें भागहार अथवा गुणाकारकी कमसे अवस्थित राशि हैं। **भावार्थ—**—अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशिप्रमाण अवस्थित है, असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण अवस्थित है। संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है।

लापके लिये छह वृद्धियोंकी छह संज्ञा रखते हैं।

उव्वकं चउरकं पणछरसत्कं अदुअंकं च ।

छव्वडीणं सण्णा कमसो संदिक्षिकरणदुं ॥ ३२४ ॥

उव्वङ्गश्चतुरङ्गः पञ्चपट्साङ्गः अष्टाङ्गश्च ।

पड्वृद्धीनां संज्ञा कमशः संदिक्षिकरणर्थम् ॥ ३२४ ॥

अर्थ——लघुरूप संदिक्षिकेलिये कमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञा हैं। अनन्तभागवृद्धिकी उव्वङ्ग, असंख्यातभागवृद्धिकी चतुरङ्ग, संख्यातभागवृद्धिकी पञ्चाङ्ग, संख्यातगुणवृद्धिकी पठाङ्ग, असंख्यातगुणवृद्धिकी सप्ताङ्ग, अनन्तगुणवृद्धिकी अष्टाङ्ग।

अद्वृल असंखभागे बुद्धबगवृद्धिगदे दु परबड़ी ।

एके बारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्डिती ॥ ३२५ ॥

अहुलासंस्थातभागे पूर्वगवृद्धिगते तु परतृद्धिः ।

एकं वारं भवति हि पुनः पुनः चमरतृद्धिरिति ॥ ३२५ ॥

अर्थ— सूच्यडुल्के असंख्यातमे भागप्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक वार उत्तर वृद्धि होती है । यह नियम अंतकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये । भावार्थ— सूच्यंगुल्के असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर फिर एकदार असंख्यात-भागवृद्धि होती है । इसी क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि भी जब सूच्यंगुल्के असंख्यातमे भागप्रमाण होजांय तब सूच्यंगुल्के असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार संख्यात-भागवृद्धि होती है । इस ही तरह अंतकी वृद्धिपर्यन्त जानना ।

आदिमछट्टाणम्हि य पंच य वड्डी हवंति सेसेसु ।

छच्वड्डीओ होंति हु सरिसा सववत्थ पदसंखा ॥ ३२६ ॥

आदिमषट्ठाने च पञ्च च वृद्धयो भवन्ति शेषेषु ।

पद्वृद्धयो भवन्ति हि सदशा सर्वत्र पदसंखा ॥ ३२६ ॥

अर्थ— असंख्यातलोकप्रमाण पट्टस्थानोंमें प्रथम पट्टस्थानमें पांच ही वृद्धि होती हैं; अष्टाङ्क वृद्धि नहीं होती । शेष सम्पूर्ण पट्टस्थानोंमें अष्टाङ्कसहित छह वृद्धि होती हैं । सूच्यडुल्का असंख्यातमा भाग अवभित है इसलिये पदोंकी संख्या सब जगह सदशा ही समझनी चाहिये ।

प्रथम पट्टस्थानमें अष्टाङ्कवृद्धि क्यों नहीं होती ? इसका हेतु लिखते हैं ।

छट्टाणाण आदी अट्टकं होदि चरिममुवर्वकं ।

जम्हा जहणणाणं अट्टकं होदि जिणदिँ ॥ ३२७ ॥

पट्टस्थानानामादिरष्टाङ्कं भवति चरमपुर्वङ्कम् ।

यस्माजग्नन्यानमष्टाङ्कं भवति जिनदृष्टम् ॥ ३२७ ॥

अर्थ— सम्पूर्ण पट्टस्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टाङ्क और अन्तके स्थानको उर्वर्क कहते हैं, क्योंकि जगन्य पर्यय ज्ञान भी अगुरुल्यु गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टाङ्क हो सकता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने प्रत्यक्ष देखा है ।

एकं खलु अट्टकं सत्तंकं कंडयं तदो हेट्टा ।

रुवहियकंडएण य गुणिदकमा जावमुवर्वकं ॥ ३२८ ॥

एकं खलु अष्टाङ्कं सप्ताङ्कं काण्डकं ततोऽवः ।

रूपाविककाण्डकेन च गुणितकमा यावरुवर्डकः ॥ ३२८ ॥

अर्थ— एक पट्टस्थानमें एक ही अष्टाङ्क होता है । और सप्ताङ्क सूच्यंगुल्के

असंख्यातमे भागमात्र होते हैं । इसके नीचे पठंक पञ्चांक चतुरंक उर्वंक ये एक २ अधिकवार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित कम हैं । भावार्थ—पठंक दो वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है, और पञ्चांक तीन वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है । इस ही तरह चतुरंकमें चार वार और उर्वंकमें पांच वार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागका गुणाकार होता है ।

सम्पूर्ण पट्टद्वियोंका जोड़ बताते हैं ।

संब्वसमासो णियमा रूबाहियकंडयस्स वग्गस्स ।

विंदस्स य संबग्गो होदिति जिणेहिं णिद्विं ॥ ३२९ ॥

सर्वसमासो नियमात् रूपाधिककाण्डकस्य वर्गस्य ।

वृन्दस्य च संबर्गो भवतीतिजिनैर्मिर्दृष्टिष्ठ ॥ ३२९ ॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक पट्ट्यानपतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड़ है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

भावार्थ—एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागको पांच जगह रख कर परस्पर गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतनी वार एक पट्ट्यानमें अनन्तभागवृद्धि आदि होते हैं ।

उक्स्ससंखमेत्तं तत्त्विचउत्थेकदालछप्पण्ण ।

सत्तदसमं च भागं गंतूणय लङ्घिअक्खरं दुगुणं ॥ ३३० ॥

उत्कृष्टसंख्यातमात्रं तत्त्विचतुर्थेकचत्वारिंशत्पञ्चाशाम् ।

सप्तदशमं च भागं गत्वा लङ्घयक्षरं द्विगुणम् ॥ ३३० ॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभाग-वृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण असंख्यातभागवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जग्न्य ज्ञानके उपर होजानेपर एक वार संख्यातभागवृद्धिका स्थान होता है । इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभागवृद्धियोंके होजानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लङ्घयक्षरका प्रमाण दूना होजाता है । परन्तु प्रक्षेपककी वृद्धि कहां २ पर कितनी २ होती है यह बत ते हैं । उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धिके स्थानोंमेंसे तीन—चौथाई भागप्रमाण स्थानोंके होजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियोंको जग्न्य ज्ञानके उपर होजानेसे लङ्घयक्षरका प्रमाण दूना होजाता है । पूर्वोक्त संख्यात-भागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंके छप्पन भागोंमेंसे इकतालीस भागोंके वीतजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपककी वृद्धि होनेसे साधिक (कुछ अधिक) जग्न्यका दूना प्रमाण होजाता है । अथवा संख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंमेंसे सत्रह स्थानोंके अनन्तर

प्रक्षेपक प्रक्षेपकप्रक्षपके तथा पिशुओं इन तीन वृद्धियोंको साधिक जवन्यके ऊपर करनेसे साधिक जवन्यका प्रमाण दूना होता है ।

एवं असंखलोगा अणक्खरप्ये हवंति छाडणा ।
ते पञ्चायसमासा अक्खरं उवरि बोच्छामि ॥ ३३१ ॥

एवमसंखलोका अनश्चरात्मके पट्टस्थानानि ।
ते पर्यायसमासा अक्षरगमुपरि वद्यामि ॥ ३३१ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे अनश्चरात्मक श्रुत ज्ञानके अमंस्यात लोकप्रमाण पट्टस्थान होते हैं । ये सब ही पर्यायसमास ज्ञानके भेद हैं । अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुत ज्ञानका वर्णन करेंगे ।

अर्थाक्षर श्रुत ज्ञानको बताते हैं ।
चरिमुवंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिद्वरिममुवंकं ।
अत्थक्खरं तु णाणं होदिति जिणेहिं णिदिदं ॥ ३३२ ॥
चरमोवंकेणवहितार्थक्षरगुणितचरमोर्वङ्गम् ।
अर्थाक्षरं तु ज्ञानं भवतीति जिनैनीर्दिष्टम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ—अन्तके उर्वका अर्थाक्षरसमूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है । भावार्थ—अमंस्यात—लोकप्रमाण पट्टस्थानमें अन्तके पट्टस्थानकी अन्तिम उर्वक—वृद्धिसे युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञानसे अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है । यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुत-केवल ज्ञानरूप है । इसमें एक कम एकटुकीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ।

श्रुतनिवद्ध विषयका प्रमाण बताते हैं ।
पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्याणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्वो ॥ ३३३ ॥
प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिवद्धः ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनभिलप्य पदार्थोंके अनन्तमें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं । और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनन्तमें भाग प्रमाण श्रुतमें निवद्ध हैं । भावार्थ—जो केवल केवल-ज्ञानके द्वारा जाने जासकते हैं; किन्तु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जासकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं । इस तरहके पदार्थोंसे अनन्तमें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि

जिनका वचनके द्वारा निरूपण होसकता है, उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तमा भाग श्रुतमें निरूपित है।

अक्षरसमास ज्ञान तथा पदज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खररेण वडुंतो ।

संखेजजे खलु उड्हे पदणामं होदि सुदणां ॥ ३३४ ॥

एकाक्षरात्परि एककेनाक्षरेण वर्धमानः ।

संख्येये खलु वृद्धे पदनाम भवति श्रुतज्ञानम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ—अक्षर ज्ञानके ऊपर क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होजाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षर ज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पूर्व तक जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अक्षरसमास ज्ञानके भेद हैं।

एक पदके अक्षरोंका प्रमाण बताते हैं।

सोलससयचउतीसा कोटी तियसीदिलक्खयं चेव ।

सत्सहस्राटसया अटासीदीय पदवण्णा ॥ ३३५ ॥

षोडशशतन्तुर्क्षशत्कोट्यः व्यशीतिलक्षकं चैव ।

सप्तसहस्राण्यष्टशतानि अष्टाशीतिश्च पदवण्णः ॥ ३३६ ॥

अर्थ—सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठसौ अटासी (१६३४ ८३०७८८८) एक पदमें अक्षर होते हैं। भावार्थ—पद तीन तरहके होते हैं, अर्थपद प्रमाण पद मध्यम पद। इनमेंसे “ सफेद गौको रसीसे बांधो ” “ अश्रिको लाओ ” इत्यादि अनियत अक्षरोंके समूहरूप किसी अर्थविशेषपके बोधक वाक्यको अर्थपद कहते हैं। आठ आदिक अक्षरोंके समूहको प्रमाणपद कहते हैं, जैसे श्लोकके एक पदमें आठ अक्षर होते हैं। इस ही तरह दूसरे छन्दोंके पदमें भी अक्षरोंका न्यूनाधिक प्रमाण होता है। परन्तु गायामें कहे हुए पदके अक्षरोंका प्रमाण सर्वदाकेलिये निश्चित है, इस ही को मध्यमपद कहते हैं।

संघ्रात श्रुतज्ञानको बताते हैं।

एयपदादो उवरिं एगेगेणक्खररेण वडुंतो ।

संखेजजसहस्रपदे उड्हे संघादणाम सुदं ॥ ३३६ ॥

एकपदात्परि एककेनाक्षरेण वधमानः ।

संख्यातसहस्रपदे वृद्धे संघातनाम श्रुतम् ॥ ३३६ ॥

अर्थ—एक पदके आगे भी क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदकी वृद्धि होजाय उसको संघातनामक श्रुत ज्ञान कहते हैं। एक पदके ऊपर और संघा-

त ज्ञानके पूर्व जितने ज्ञानके भेद हैं वे सब पदसमाप्तके भेद हैं । यह संघात नाभक श्रुतज्ञान चार गतिमेंसे एक गतिके स्वरूपका निरूपण करनेवाले अपुनरुत्त मध्यम पदोंका समूहरूप है ।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

एकदरगदिणिरूपयसंवादसुश्रादु उवरि पुवं वा ।

वर्णे संखेजे संघादे उड्डम्हि पडिवती ॥ ३३७ ॥

एकतरगतिनिरूपकसंघातश्रुतादुपरि पूर्व वा ।

वर्णे संख्येये संघाते वृद्धे प्रतिपत्तिः ॥ ३३७ ॥

अर्थ—चार गतिमेंसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार संघातकी वृद्धि होजाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है । संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके मध्यमें जितने ज्ञानके विकल्प हैं उतने ही संघातसमाप्तके भेद हैं । यह ज्ञान नरकादिक चार गतियोंका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है ।

अनुयोग श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

चउगइसरूपरूपयपडिवतीदो दु उवरि पुवं वा ।

वर्णे संखेजे पडिवतीउड्डम्हि अणियोगं ॥ ३३८ ॥

चतुर्गतिस्वरूपरूपकप्रतिपत्तिस्तु उपरि पूर्व वा ।

वर्णे संख्याते प्रतिपत्तिवृद्धे अनुयोगम् ॥ ३३८ ॥

अर्थ—चारों गतियोंके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर क्रमसे पूर्वकी तरह एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि होनाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इसके पहले और प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर समूर्ण प्रतिपत्तिसमाप्त ज्ञानके भेद हैं । अन्तिम प्रतिपत्तिसमाप्त ज्ञानके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओंका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है ।

प्राभृतप्राभृतकका स्वरूप दो गाथाओं द्वारा बताते हैं ।

चोइसमगणसंजुद्अणियोगादुवरि वड्डिदे वर्णे ।

चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ॥ ३३९ ॥

चतुर्दशमर्गणासंयुतानुयोगादुपरि वर्धिते वर्णे ।

चतुराद्यनुयोगे द्विकवारं प्राभृतं भवति ॥ ३३९ ॥

अर्थ—चौदह मार्गणाओंका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चतुरादि अनुयोगोंकी वृद्धि होनाय तब प्राभृतप्राभृतक श्रुतज्ञान होता है । इसके पहले और अनुयोग ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अनुयोगसमासके भेद जानना ।

अहियारो पाहुडयं एयद्वो पाहुडस्स अहियारो ।
पाहुडपाहुडामं होदिति जिणेहिं णिद्विटुं ॥ ३४० ॥

अधिकारः प्राभृतमेकार्थः प्राभृतस्याधिकारः ।

प्राभृतप्राभृतनामा भवतीति जिनैनिर्दिष्टम् ॥ ३४० ॥

अर्थ—प्राभृत और अधिकार ये दोनों एक अर्थके बाचक हैं । अत एव प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । भावार्थ—वस्तुनाम श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और अधिकारके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं ।

प्राभृतका स्वरूप बताते हैं ।

दुग्वारपाहुडादो उवरिं वरणे कमेण चउवीसे ।
दुग्वारपाहुडे संउडे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४१ ॥

द्विक्वारप्राभृते संवृद्धे खलु भवति प्राभृतकम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चौवीस प्राभृतप्राभृतकी वृद्धि होनाय तब एक प्राभृतक श्रुत ज्ञान होता है । प्राभृतके पहले और प्राभृतप्राभृतके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमासके भेद जानना । उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृत ज्ञान होता है ।

वस्तु श्रुतज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं ।

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एकवत्थुअहियारो ।
एकेकक्वरणउड्डी कमेण सव्वत्थ णायवा ॥ ३४२ ॥

विशतौ विशतौ प्राभृताधिकार एको वस्त्वधिकारः ।

एकैकवर्णवृद्धिः कमेण सर्वत्र ज्ञातव्या ॥ ३४२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञानके ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे बीस प्राभृतकी वृद्धि होनाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है । वस्तु ज्ञानके पहले और प्राभृत ज्ञानके ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञानके भेद हैं । उत्कृष्ट प्राभृतसमासमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे वस्तुनामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है ।

भावार्थ—एक २ वस्तु अधिकारमें वीस २ प्राभृत होते हैं और एक ३ प्राभृतमें चौपीस २ प्राभृतप्राभृत होते हैं ।

पूर्व ज्ञानके भेदोंकी संख्या बताते हैं ।

दस चौदसहु अट्टारसयं बारं च बार सोलं च ।

वीसं तीसं पण्णारसं च दस चतुर्सु वत्थूणं ॥ ३४३ ॥

दश चतुर्दशाष्ट अष्टादशकं द्वादश च द्वादश पोडश च ।

विशतिः विशत् पञ्चदश च दश चतुर्षु वस्तुनाम् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—पूर्व ज्ञानके चौदह भेद हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, वीस, तीस, पंद्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं ।

चौदह पूर्वके नाम गिनाते हैं ।

उत्पायपुव्वगाणियविरियपवादतिथिणत्थियपवादे ।

णाणासञ्चपवादे आदाकम्पपवादे य ॥ ३४४ ॥

पञ्चक्खाणे विज्ञाणुवांदकल्लाणपाणवादे य ।

किरियाविसालपुर्वे क्रमसोथ तिलोयविन्दुसारे य ॥ ३४५ ॥

उत्पादपूर्वाग्रायणीयर्थप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि ।

ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च ॥ ३४४ ॥

प्रत्यारुद्यानं वीर्यनुवादकर्त्याणप्राणवादानि च ।

क्रियाविशालपूर्वे क्रमशः अथ त्रिलोकविन्दुसारं च ॥ ३४९ ॥

अर्थ—उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्यारुद्यान, वीर्यनुवाद, कर्त्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल, त्रिलोकविन्दुसार, इस तरहसे ये क्रमसे पूर्वज्ञानके चौदह भेद हैं । **भावार्थ**—वस्तुज्ञानके ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे पदसंघातादिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे दश वस्तुकी वृद्धि होजाय तब पहला उत्पादपूर्व होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षर पद संघात आदिकी वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब दूसरा आग्रायणीय पूर्व होता है । इसके आगे भी क्रमसे अक्षर पद संघात आदिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे आठ वस्तुकी वृद्धि होजाय तब तीसरा वीर्यप्रवाद होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षरादिकी वृद्धि होते २ जब अठारह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद होता है । इस ही तरह आगे के पांचमे आदिक पूर्व भी क्रमसे बारह, बारह, सोलह, वीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तुकी वृद्धि होनेसे होते हैं । अर्थात् अस्तिनास्तिप्रवादके ऊपर क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि

होनेसे पांचमा ज्ञानप्रवाद, और ज्ञानप्रवादके ऊपर भी क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे सत्यप्रवाद होता है । इस ही तरह आगेके आत्मप्रवाद आदिका प्रमाण भी समझना चाहिये ।

चौदह पूर्वके समस्त वस्तुकी और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतोंके जोड़का प्रमाण बताते हैं ।

**पणणउदिसया वस्थू पाहुडया तियसहस्रसणवयसया ।
एदेसु चोहसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ॥ ३४६ ॥**

पञ्चनवतिशतानि वस्तुनि प्राभृतकानि त्रिसहस्रनवशतानि ।

एतेषु चतुर्दशस्तपि पूर्वम् भवन्ति मिलितानि ॥ ३४६ ॥

अर्थ—इन चौदह पूर्वोंके सम्पूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पचानवे (१९९) होता है । और एक २ वस्तुमें वीस २ प्राभृत होते हैं इस लिये सम्पूर्ण प्राभृतोंका प्रमाण तीन हजार नौ सौ (३००) होता है ।

पहले वीसप्रकारका जो श्रुतज्ञान बताया था उसहीका दो गाथाओंमें उपसंहार करते हैं ।

अथक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च ।

दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वस्थु पुव्वं च ॥ ३४७ ॥

कमवण्णुत्तरवाङ्गिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।

णाणवियप्ये वीसं गंथे बारस य चोहसयं ॥ ३४८ ॥

अर्थाक्खरं च पदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।

द्विक्चारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥ ३४७ ॥

कमवण्णोत्तरवर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगताः ।

ज्ञानविकल्पे विशतिः ग्रन्थे द्वादशा च चतुर्दशकम् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—अर्थाक्खर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व, ये नव तथा क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले अक्षरसमास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्य श्रुतके होते हैं । पर्याय और पर्यायसमासके मिलानेसे वीस भेद ज्ञानरूप श्रुतके होते हैं । यदि ग्रन्थरूप श्रुतकी विविध की जाय तो आचाराङ्ग आदि बारह और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं ।

द्वादशाङ्कके समस्त पदोंकी संख्या बताते हैं ।

बारहत्तरसयकोडी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं ।

अट्टावण्णसहस्रा पंचेत्र पदाणि अंगाणं ॥ ३४९ ॥

द्वादशोत्तरशतकोट्यः व्यर्थातिस्तथा भवन्ति लक्षणाम् ।

अष्टापञ्चाशत्तसहस्राणि पञ्चैव पदानि अङ्गनाम् ॥ ३४९ ॥

अर्थ—द्वादशाङ्कके समस्त पद एक सौ बारह करोड़ व्यासी लाख अड्डावन हजार पांच (११२८३९८००९) होते हैं ।

अङ्गवाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण बताते हैं ।

अड्कोडिप्यलक्ष्मा अटुसहस्रा य एयसदिग्ं च ।

पण्णतरि वण्णाओ पद्मण्णयाणं प्रमाणं तु ॥ ३५० ॥

अष्टकोड्येकल्पाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च ।

पञ्चसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५० ॥

अर्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर (८०१०८१७९) प्रकीर्णक (अङ्गवाह्य) अक्षरोंका प्रमाण है ।

चार गाथाओंद्वारा उक्त अर्थको समझनेकी प्रक्रिया बताते हैं ।

तेतीस वेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।

चत्तारि य जोगवहा चउसट्टी मूलवण्णाओ ॥ ३५१ ॥

त्रयस्त्रिशत् व्यंजनानि सप्तविंशतिः स्त्रास्तथा भणिताः ।

चत्वारश्च योगवहा: न्तुःषष्ठिः मूलवण्णः ॥ ३५१ ॥

अर्थ—तेतीस व्यंजन सत्ताईस स्त्र चार योगवाह इस तरह कुछ चौंसठ मूलवण्ण होते हैं । भावार्थ—स्त्रके बिना निनका उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धाक्षरोंको व्यंजन कहते हैं । उनके क् ख से लेकर हृ पर्यन्त तेतीस भेद हैं । अ इ उ क्ष ल ए ऐ ओ औ ये नव स्त्र हैं, इनके हस्त दीर्घ प्लुतकी अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं । अनुस्त्राव विसर्ग जिहामूलीय उपध्रुवानीय ये चार योगवाह हैं । सब मिलकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवण्ण हैं ।

यद्यपि दीर्घ लृ वर्ण संस्कृतमें नहीं है तब भी अनुकरणमें अथवा देशान्तरोंकी भाषामें आता है इसलिये चौंसठ वर्णोंमें इसका भी पाठ है ।

चउसट्टिपदं विरलिय दुर्गं च दाउण संगुणं किञ्च ।

रुहणं च कए पुण सुदणाणस्सक्षरा होति ॥ ३५२ ॥

चतुःषष्ठिपदं विरलयित्वा द्विकं च दस्त्वा संगुणं कृत्वा ।

रूपोने च कृते पुनः श्रुतज्ञानस्याक्षराणि भवन्ति ॥ ३५२ ॥

अर्थ—उक्त चौंसठ अक्षरोंका विरलन करके प्रत्येकके ऊपर दोका अङ्क देकर परस्पर सम्पूर्ण दोके अङ्कोंका गुणा करनेसे लब्ध राशिमें एक घटा देनेसे जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुत ज्ञानके अक्षर होते हैं ।

वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण बताते हैं ।

एकठ च च य छस्सतयं च च य सुण्णसत्तियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एकं छकेककगो य पणगं च ॥ ३५५ ॥

एकाए च च च पट्टसप्तकं च च च शून्यसत्तिकसप्त ।

शून्यं नव पञ्च पञ्च च एकं पट्टकैककश्च पञ्चकं च ॥ ३५६ ॥

अर्थ—परस्पर गुणा करनेसे उत्पन्न होनेवाले अक्षरोंका प्रमाण यह है । एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पंच पंच एक छह एक पाँच । **भावार्थ—**१८४६७४८०७३७०९५९१६१९ इतने अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं । पुनरुक्त अक्षरोंकी संख्याका नियम नहीं है ।

इन अक्षरोंमेंसे अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके अक्षरोंका विभाग करते हैं ।

मज्जिमपदक्षरवहिदवणा ते अंगपुच्चगपदाणि ।

सेसक्षरसंख्या ओ पद्धण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥

मध्यमपदाक्षरवहितवर्णस्ते अङ्गपूर्वगपदाणि ।

शेषाक्षरसंख्या अहो प्रकीर्णिकानां प्रमाणं तु ॥ ३५४ ॥

अर्थ—मध्यमपदके अक्षरोंका जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरोंके प्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने अंग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं । शेष जितने अक्षर रहें उतना अङ्गबाह्य अक्षरोंका प्रमाण है । **भावार्थ—**पहले मध्यम पदके अक्षरोंका प्रमाण बताया है कि एक मध्यम पदमें सोलहसौ चौतीसि करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर होते हैं । जब इतने अक्षरोंका एक पद होता है तब समस्त अक्षरोंके कितने पद होंगे इस तरह त्रैराशिक करनेसे—**अर्थात् फलराशि** (एक मध्यम पद) और **इच्छाराशिका** (समस्त अक्षरोंका) परस्पर गुणा कर उसमें प्रमाण राशिका (एक मध्यम पदके समस्त अक्षरोंके प्रमाणका) भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह समस्त मध्यम पदोंका प्रमाण है । इन समस्त मध्यम पदोंके जितने अक्षर हुए वे अङ्गप्रविष्ट अक्षर हैं और जो शेष अक्षर रहे वे अङ्गबाह्य अक्षर हैं ।

तेरह गायाओंमें अङ्गोंके और पूर्वोंके पदोंकी संख्या बताते हैं ।

आयारे सुद्धयडे ठाणे समवायणामगे अंगे ।

तत्तो बिक्खापण्णतीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥

तोवासयअज्ञायणे अंतयडे णुत्तरोवाददसे ।

पण्णाणं वायरणे विवायसुत्ते य पदसंख्या ॥ ३५६ ॥

आचारे सूत्रकृते स्याने समवायनामके अङ्गे ।

ततो व्यास्याप्रज्ञसौ नाथस्य धर्मकथायां ॥ ३५७ ॥

तत उपासकाध्ययने अन्तकृते अनुत्तरौपाददशे ।

प्रश्नानां व्याकरणे विषाक्तसूत्रे च पदमस्त्वा ॥ ३५६ ॥

अर्थ—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञामि, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृदशाङ्ग, अनुत्तरौपादादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, और विषाक्तसूत्र इन ग्यारह अङ्गोंके पदोंकी संस्था क्रमसे निम्नलिखित है ।

अद्वारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडबि छप्पणं ।

सत्तरि अद्वावांसं चउदालं सोलससहस्रा ॥ ३५७ ॥

इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी ।

चुलसीदिलश्वमेया कोडी य विवागसूत्तम्हि ॥ ३५८ ॥

अष्टादश पृथिवीशत् द्वाच्त्वारिंशत् अष्टकृतिः अष्टद्वि पृथिव्याशत् ।

सप्ततिः अष्टार्विंशतिः चतुर्थत्वारिंशत् पोडशसहस्राणि ॥ ३५९ ॥

एकद्विपञ्चकादशत्रयोर्विंशतिद्वित्रिवतिलक्षं चतुर्थादिपु ।

चतुरशीतिलक्षमेका कोटिश्च विषाक्तसूत्रे ॥ ३६० ॥

अर्थ—आचाराङ्गमें अद्वारह हजार पद हैं, सूत्रकृताङ्गमें छत्तीस हजार, स्थानाङ्गमें वियालीस हजार, समवायाङ्गमें एक लाख चौंसठ हजार, व्याख्याप्रतापिमें दो लाख अष्टाईस हजार, धर्मकथाङ्गमें पाँच लाख छप्पन हजार, उपासकाध्ययनाङ्गमें ग्यारह लाख सत्तर हजार, अंतःकृदशाङ्गमें तेरेस लाख अष्टाई हजार, अनुत्तरौपादादिक दशाङ्गमें बानवे लाख चबालीस हजार, प्रश्नव्याकरण अङ्गमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं । तथा ग्यारहमें विषाक्तसूत्र अङ्गमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं ।

सम्पूर्ण पदोंका जोड़ बताते हैं ।

वापणनरनोनानं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।

कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा ॥ ३५९ ॥

वापणनरनोनानं एकादशाङ्गे युतिर्हि वादे ।

कनजतजमताननमं जनकनजयसीम वाद्य वर्णाः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ग्यारह अङ्गोंके पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (४१९०२०००) होता है । ग्यारहमें दृष्टिवाद अङ्गमें सम्पूर्ण पद १०८६८९६००९ होते हैं । और अङ्गव्याद अक्षरोंका प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८९७९) है ।

ग्यारहमें अङ्गके भेद और उनके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

चंद्रविजं नुदी वयदी वस मुद्यविया ह पण्णत्ती ।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥
पुवं जलथलमाया आगासयरुवगयमिमा पंच ।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥

चन्द्रविजन्मूद्रीपकद्रीपतमुद्रकव्यास्याप्रज्ञस्यः ।
परिकर्म पञ्चविहं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः ॥ ३६० ॥
पूर्वं जलस्थलमायाकाशकरूपगता इमे पञ्च ।
भेदा हि चूलिकायाः तेषु प्रमाणमिदं क्रमशः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—तारहमें दृष्टिवाद् अङ्गके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका । इसमें परिकर्मके पांच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञसि सूर्यप्रज्ञसि जम्बूद्रीपप्रज्ञसि द्रीपसागरप्रज्ञसि व्यास्याप्रज्ञसि । पूर्वगतके चौदह भेद हैं जिनका वर्णन आगे करेंगे । चूलिकाके पांच भेद हैं जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता । अब इनके पदोंका प्रमाण क्रमसे बताते हैं ।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा ।
मननन धममननोनननामं रनधजधराननजलादी ॥ ३६२ ॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि हाँति परिकर्मे ।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६३ ॥

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातोननं जनलक्षणि ।
मननन धममननोनननामं रनधजधरानन जलादिषु ॥ ३६२ ॥
याजकनामेनाननमेतानि पदाणि भवन्ति परिकर्मणि ।
कानवधिवाचनाननमेषः पुनः चूलिकायोगः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—क्रमसे चन्द्रप्रज्ञसिमें छत्तीस लाख पांच हजार; सूर्यप्रज्ञसिमें पांच लाख तीन हजार, जम्बूद्रीपप्रज्ञसिमें तीन लाख पचास हजार, द्रीपसागरप्रज्ञसिमें बावन लाख छत्तीस हजार, व्यास्याप्रज्ञसिमें चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं । प्रथमानुयोगमें पांच हजार पद हैं । चौदह पूर्वोंमें पचानवे करोड़ पचास लाख पांच पद हैं । पांचों चूलिकाओंमेंसे प्रत्येकमें दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं । चन्द्रप्रज्ञसि आदि पांचप्रकारके परिकर्मके पदोंका जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार है । पांच प्रकारकी चूलिकाके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख छत्तीस हजार (१०४९४६०००) है । भावार्थ—यहां पर जो अक्षर तथा पदोंका प्रमाण बताया है वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदोंका प्रमाण समझना ।

चौदह पूर्वोमेसे प्रत्येक पूर्वके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

पणणादाल पणतीस तीस पणास पण तेरसदं ।

णउदी दुदाल पुव्वे पणवणा तेरससयाइं ॥ ३६४ ॥

छससय पणणासाइं चउसयपणास छसयपणुवीसा ।

बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रुअण छज्जुदा छडे ॥ ३६५ ॥

पञ्चाशदप्नन्त्वारिंशत् पञ्चत्रिंशत् त्रिंशत् पञ्चाशत् त्रयोदशशतत्र ।

नवतिः द्वान्त्वारिंशत् पूर्वं पञ्चपञ्चाशत् त्रयोदशशतानि ॥ ३६६ ॥

पट्ठतपञ्चाशानि चतुःशतपञ्चाशत् पट्ठतपञ्चत्रिंशतिः ।

द्वाष्टां लक्षभ्यां तु गुणितानि पञ्चमं रूपेन षट्युतानि पष्टे ॥ ३६७ ॥

अर्थ—चौदह पूर्वोमेसे क्रमसे प्रथम उत्पाद पूर्वमें एक करोड़ पद हैं । दूसरे आग्रायणीय पूर्वमें छचानवे लाख पद हैं । तीसरे वीर्यप्रवादमें मत्तर लाख पद हैं । चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं । पांचमे ज्ञानप्रवादमें एक कम एक करोड़ (९९९९९९९९९९) पद हैं । छठे सत्यप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ छह (१०००००००६) पद हैं । सातमे आत्मप्रवादमें छव्वीस करोड़ पद हैं । आठमे कर्मप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ असी लाख पद हैं । नौमे प्रत्यास्थ्यान पूर्वमें चउरासी लाख पद हैं । दशमे विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड़ दश लाख पद हैं । भ्यारहमे कल्याणवाद पूर्वमें छव्वीस करोड़ पद हैं । बारहमे प्राणवाद पूर्वमें तेरह करोड़ पद हैं । तेरहमे कियाविशाल पूर्वमें नौ करोड़ पद हैं । नौदहमे त्रिलोकविन्दुसरामें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं । **भावार्थ—**चौदह पूर्वोमेसे किस २ पूर्वमें कितने २ पद हैं यह इन दो गाथाओंमें बता दिया है । अब प्रकरण पाकर यहांपर द्वादशाङ्ग तथा चौदह पूर्वोमें किस २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे विशेष बताया जाता है । प्रथम आचाराङ्गमें ‘किस तरह आचरण करै? किस तरह खड़ा हो? किस तरह बैठे? किस तरह शयन करै? किस तरह भाषण करै? किस तरह भोजन करै? पापका बन्ध किस तरह से नहीं होता?’ इत्यादि प्रश्नोंके अनुसार ‘यत्पूर्वक आचरण करै, यत्पूर्वक खड़ा हो, यत्पूर्वक बैठे, यत्पूर्वक शयन करै, यत्पूर्वक भाषण करै, यत्नपूर्वक भोजन करै, इस तरहसे पापका बन्ध नहीं होता’ इत्यादि उत्तररूप वात्यायोंके द्वारा मुनियोंके समस्त आचरणका वर्णन है । दूसरे सूत्रकृताङ्गमें ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनक्रियाका अथवा प्रज्ञापना कल्पाकल्प छेदोपस्थापना आदि व्यवहारवर्गक्रियाका, तथा स्वसमय और परसमयका स्वरूप सूत्रोंके द्वारा बताया है । तीसरे स्थानाङ्गमें सम्पूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर कितने

१ कथं चेरे कथं चिह्ने कथमासे कथं सए, कथं भुजीज भासेज जदो पावं ण बंधई” इसके उत्तरमें “जदे चेरे जदे चिह्ने जदमासे जदं सये जदं भुजीज भासेज एवं पावं ण बंधई” इत्यादि ॥

विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन किया है । जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीवद्रव्यका एक ही स्थान (विकल्प=भेद) है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षासे दो भेद हैं, उत्पाद व्यय औरव्यक्तिकी अपेक्षासे तीन भेद हैं, चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं । इत्यादि । इस ही तरह पुढ़ल आदिक द्रव्योंके भी विकल्प समझना । चैथे समवायाङ्गमें सम्पूर्ण द्रव्योंमें परस्पर किस २ धर्मकी अपेक्षासे साहद्य है यह बताया है । पाचमे व्याख्याप्रज्ञसि अङ्गमें जीव है या नहीं ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है ? एक है या अनेक है ? इत्यादि साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान है । अङ्गे नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातुधर्मकथा अङ्गमें जीवादि वस्तुओंका स्वभाव, तीर्थकरों का माहात्म्य, तीर्थकरोंकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यदर्शनादि रुक्तव्यधर्मका स्वरूप बताया है । तथा गणधर इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी कथा उपकथाओंका वर्णन है । सातमे उपासकाध्ययन अङ्गमें उपासकोंकी (श्रावकोंकी) सम्यग्दर्शनादिक भ्यारह प्रतिमासम्बन्धी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे किया काण्ड और उनके मन्त्रादिकोंका सविस्तर वर्णन किया है । आठमें अन्तःकृदशाङ्गमें प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमें^१ जो दश २ मुनि चार प्रकारका तीव्र उपसर्ग सहन करके संसारके अन्तको प्राप्त हुए उनका वर्णन है । नौमे अनुत्तरौपदादिकदशाङ्गमें प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश २ दक्ष मुनियोंका वर्णन है जो कि घोर उपसर्गको सहन करके अन्तमें समाधिके द्वारा अपने प्राणोंका त्याग करके विजय आदि पांच प्रकारके अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए । दशमे प्रश्नव्याकरण अङ्गमें दूतवाक्य नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसम्बन्धी धन बान्यादिका लाभालाभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है । और प्रश्नके अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी स्वेजनी निर्वेजनी इन चार प्रकारकी कथाओंका वर्णन है । भ्यारहमे विपाकमूत्रमें द्रव्यसेत्र काल भावके अनुसार शुभाशुभ कर्मोंकी तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग—शक्तिके फल देनेरूप विषयका वर्णन है । बाहरमे दृष्टिवाद अङ्गमें तीन सौ त्रेसठ मिथ्या मतों का वर्णन और उनका निराकरण है । दृष्टिवाद अङ्गके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका । परिकर्ममें गणित के करणमूत्रोंका वर्णन है । इसके (परिकर्मके) पांच भेद हैं, चन्द्रप्रज्ञसि मूर्यप्रज्ञसि जन्मद्वीपप्रज्ञसि द्वीपसागरप्रज्ञसि व्याख्याप्रज्ञसि । चन्द्रप्रज्ञसिमें चन्द्रमासम्बन्धी विमान आयु परिवार ऋद्धि गमन हानि वृद्धि पूर्ण ग्रहण अर्ध ग्रहण चतुर्थीश ग्रहण आदिका वर्णन है । इस ही प्रकार सूर्यप्रज्ञसिमें सूर्यसम्बन्धी आयु परिवार गमन ग्रहण आदिका वर्णन है । जन्मद्वीपप्रज्ञसिमें जन्मद्वीपसम्बन्धी मेरु

एक तीर्थकरके अनन्तर जब तक दूसरा तीर्थकर उत्पन्न न हो तब तकके समयको प्रथम तीर्थकरका तीर्थ कहते हैं ।

कुलाचल महाहृद (तत्त्व) क्षेत्र कुड वेदिका वन व्यन्तरोंके आवाम महानदी आदिका वर्णन है । द्वीपसागरप्रज्ञसिमें असंस्थात द्वीप और समुद्रोंका स्वरूप तथा वहापर हेनेवाले अकृत्रिम नैत्यालयोंका वर्णन है । व्यास्त्याप्रज्ञसिमें भव्य अभव्य—भेद प्रमाण लक्षण स्पी अरुपी जीव अजीव द्रव्योंका और अनन्तरमिद्दू परंपराभिद्वोंका तथा दूसरी वस्तुओंका भी वर्णन है । दृष्टिवादके दूसरे भेद—सूत्रमें नीनसौ त्रेसठ मिश्याद्विष्योंका पूर्वप्रभव्यक निराकरण है । तीसरे भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाका पूर्खोंका वर्णन है । चौथे पूर्वके चौदह भेद हैं । उनमें किस २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपमें क्रमसं चताते हैं । उत्पादपूर्वमें प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय ग्रौव्य और उनके संयोगी धर्मोंका वर्णन है । आग्रायणीय पूर्वमें द्वादशाङ्कमें प्रधानभूत सातसौ सुनय तथा दुर्णिय पद्मिनिकाय पद्मद्रव्य सप्त तत्त्व नव पद्मार्थ आदिका वर्णन है । वीर्यानुवादमें आत्मवीर्य पर्वतीर्य उभयवीर्य कालवीर्य तपोवीर्य द्रव्यवीर्य गुणवीर्य पर्यायवीर्य आदि अनेकप्रकारके वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है । अस्तिनास्तिप्रवादमें स्थानस्ति स्थानास्ति आदि सप्तभंगीका वर्णन है । ज्ञानप्रवादमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल रूप प्रमाण—ज्ञान, तथा कुमति कुश्रुत विभङ्ग रूप अप्रमाण ज्ञानके स्वरूप संस्था विषय फलका वर्णन है । सत्यप्रवादमें आठ प्रकारके शब्दोच्चारणके स्थान, पांच प्रयत्न, वाक्यसंस्कारके कारण, शिष्ट दुष्ट शब्दों के प्रयोग, लक्षण, वचनके भेद, बाहर प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके असत्यवचन, दशप्रकारका सत्यवचन, वामासि, मौन आदिका वर्णन है । आत्मप्रवादमें आत्माके कर्तृत्व आदि अनेक धर्मोंका वर्णन है । कर्मप्रवादमें मूलतर प्रकृति तथा बंध उदय उद्दीरणा आदि कर्मकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है । प्रत्याख्यानपूर्वमें नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव, पुरुषके संहनन आदिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है । विद्यानुवादमें अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्पविद्या, तथा रोहिणी आदि पांचसौ महा विद्याओंका स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र तन्त्र पूजा-विधान आदिका, तथा सिद्ध विद्याओंका फल और अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर स्वम लक्षण व्यञ्जन छिन्न इन आठ महा-निमित्तोंका वर्णन है । कल्याणवादमें तीर्थकरादिके गर्भावतरणादि कल्याण, उनके कारण पुण्य-कर्म पोडश भावना आदिका, तथा चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्रोंके चारका, महण शकुन आदिके फलका वर्णन है । प्राणावादमें कायचित्कित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका, इडा विंगला आदिका, दश प्राणोंके उपकारक अपकारक द्रव्योंका गतियोंके अनुमारसे वर्णन किया है । क्रियाविशालमें संगीत छंद अलङ्कार पुरुषोंकी बहत्तर कला खीके चौमठ गुण, शिल्पादिविज्ञान, गर्भावानादि क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है । त्रिलोकविन्दुसारमें लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्षका स्वरूप, उसके गमनका कारण, क्रिया, मोक्षसुखके स्वरूपका वर्णन है । दृष्टिवादनामक बारहमें अंगका पाचमा भेद चूलिका है । उसके

पांच भेद हैं, जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता । इनमेंसे जलगतामें जलगमन अश्रितस्तम्भन अश्रितभृत्यु अश्रितिका आसन अश्रितप्रवेश आदिके मन्त्र तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है । स्थलगतामें मेरु कुलाचल भूमि अदिमें प्रवेश शीघ्रगमन आदिके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है । मायागतामें इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्रादिका वर्णन है । आकाशगतामें आकाशगमनके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है । रूपगतामें सिंहादिक अनेक प्रकारके रूप बनानेके कारण-भूत मन्त्रादिका वर्णन है ।

अङ्गचाह्य श्रुतके भेद गिनाते हैं ।

सामाइयचउवीसत्थयं तदो बंदणा पडिक्कमणं ।

वेणिइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्ञश्ययं ॥ ३६६ ॥

कल्पववहारकल्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं ।

महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोहसमंगबाहिरयं ॥ ३६७ ॥

सामायिकन्तुर्विशस्तवं ततो वंदना प्रतिकमणम् ।

वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनम् ॥ ३६९ ॥

कल्पववहार—कल्पाकल्प्यक—महाकल्प्यं च पुंडरीकम् ।

महापुंडरीकनिषिद्धिके इति चतुर्दशाङ्गचाह्यम् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—सामायिक, चतुर्विशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पववहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अङ्गचाह्यश्रुतके चौदह भेद हैं ।

श्रुतज्ञानका माहात्म्य बताते हैं ।

सुदकेवलं च णाणं दोषिणवि सरिसाणि होति बोहादो ।

सुदणाणं तु परोक्तं पञ्चकर्त्तं केवलं णाणं ॥ ३६८ ॥

श्रुतं केवलं च ज्ञानं द्वेषपि सदृशो भवते बोधात् ।

श्रुतज्ञानं तु परोक्तं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानम् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—ज्ञानकी अपेक्षा श्रुत ज्ञान तथा केवल ज्ञान दोनों ही सदृश हैं । परन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है । भावार्थ—जिस तरह श्रुत ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जानता है उस ही तरह केवल ज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जानता है । विशेषता इतनी ही है कि श्रुत ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है इसलिये इसकी अमूर्त पदार्थोंमें और उनकी अर्थपर्याय तथा दूसरे सूक्ष्म अंशोंमें स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति नहीं होती । किन्तु केवल ज्ञान निरावरण हेनेके कारण समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे विषय करता है ।

कमप्राप्त अवधि ज्ञानका निरूपण करते हैं ।

अवहीयदिति ओही सीमाणाणेति वण्णियं समये ।

भवगुणपञ्चयविहियं जमोहिणाणेति ण वैति ॥ ३६९ ॥

अवधीयते इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये ।

भवगुणप्रत्ययविधिकं यदविज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३७० ॥

अर्थ——द्रव्य क्षेत्र क. १ भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो उसको अवधि ज्ञान कहते हैं । इस ही लिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है । तथा इसके जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं, एक भवप्रत्यय और सार गुणप्रत्यय । **भावार्थ—**—नारकादि भवकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान हो उसको भवप्रत्यय अवधि कहते हैं । जो सम्यग्दर्शनादि कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान होता है उसको गुणप्रत्यय अवधि कहते हैं । इसके विषयको परिमित होनेसे इस ज्ञानको अवधिज्ञान अवश्य सीमाज्ञान कहते हैं । यथापि दूसरे मतिज्ञानादिके विषयकी भी सामान्यसे सीमा है, इसलिये दूसरे ज्ञानोंको भी अवधिज्ञान कहना चाहिये; तथापि समभिरूद्धनयकी अपेक्षासे ज्ञानविशेषको ही अवधि ज्ञान कहते हैं ।

दोनोंप्रकारके अवधि ज्ञानका सामी तथा स्वरूप बताते हैं ।

भवपञ्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सञ्चांगुस्थो ।

गुणपञ्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्नभवो ॥ ३७० ॥

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेऽपि सर्वज्ञोऽत्यय् ।

गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां संखादिचिह्नभवम् ॥ ३७० ॥

अर्थ——भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थकर्तोंके होता है । और यह ज्ञान सम्पूर्ण अङ्गसे उत्पन्न होता है । गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञा पञ्चनिद्र्य तिर्थकर्तोंके भी होता है । और यह ज्ञान शंखादि चिह्नोंसे होता है । **भावार्थ—**—उपर शंख पद्म बन्न स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं; उस जगह के आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । किन्तु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है ।

उत्तरार्थमें प्रकारान्तरसे सामान्य अवधिके तथा पूर्वार्थमें गुणप्रत्यय अवधिके भेदोंको गिनाते हैं ।

गुणपञ्चइगो छन्दा अणुगावट्टिदपवृद्धमाणिदरा ।

देसोही परमोही सञ्चोहिति य तिधा ओही ॥ ३७१ ॥

गुणप्रत्ययकः षोडा अनुगावस्थितप्रवर्धमानेतरे ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च त्रिवा अवधिः ॥ ३७१ ॥

अर्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञानके छह भेद हैं, अनुगामी अननुगामी अवस्थित अनवस्थित वर्धमान हीयमान । तथा सामान्यसे अवधिज्ञानके देशावधि परमावधि सर्वावधि इसतरहसे तीन भेद भी होते हैं । **भावार्थ—**जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ जाय उसको अनुगामी कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी । जो दूसरे क्षेत्रमें अपने स्वामीके साथ जाय उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं । जो दूसरे क्षेत्रमें साथ जाय उसको भवानुगामी कहते हैं । जो अपने स्वामी जीवके साथ न जाय उसको अनुगामी कहते हैं, इसके भी तीन भेद हैं क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी । जो सूर्यमण्डलके समान न घटे न बढे उसको अवस्थित कहते हैं । जो चन्द्रमण्डलकी तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसको अनवस्थित कहते हैं । जो शुक्रपक्षके चन्द्रकी तरह अपने अन्तिम स्थानतक बढ़ता जाय उसको वर्धमान अवधि कहते हैं । जो कृष्णपक्षके चन्द्रकी तरह अन्तिम स्थानतक घटता जाय उसको हीयमान कहते हैं ।

भवपञ्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही ।

गुणपञ्चइगो गियमा देसोही वि य गुणे होदि ॥ ३७२ ॥

भवप्रत्ययकोऽवधिः देशावधिः भवति परमसर्वावधी ।

गुणप्रत्ययकौ नियमात् देशावधिरपि च गुणे भवति ॥ ३७२ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधि नियमसे देशावधि ही होता है । और दर्शनविशुद्धि आदि गुणोंके नियमसे होनेवाला गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकारका होता है ।

देसोहिस्य य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं ।

परमोही सव्वोही चरमशरीरस्य विरदस्य ॥ ३७३ ॥

देशावधेश अवरं नरतिरश्योः भवति संयते वरम् ।

परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरस्य विरतस्य ॥ ३७३ ॥

अर्थ—नवन्य देशावधि ज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकारके मनुष्य तथा तिर्यन्तेके होता है । उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयत जीवोंके ही होता है । किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी और महात्रीके ही होता है ।

पद्मिवादी देसोही अप्पद्मिवादी हवंति सेसा ओ ।

मिरुद्धतं अविरमणं ण य पद्मिवज्ञंति चरिमदुगे ॥ ३७४ ॥

प्रतिपाती देशावधिः अप्रतिपातिनौ भवतः शेषो अहो ।

मिथ्यात्वमनिरमणं न च प्रतिपद्येते चरमद्विके ॥ ३७४ ॥

अर्थ— देशावधि ज्ञान प्रतिपाती होता है । और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं । तथा परमावधि और सर्वावधिवाले जीव नियमसे मिथ्यात्व और अत्र अवस्थाको प्राप्त नहीं होते । **भावार्थ—** सम्यकत और चारिसंचयुत होकर मिथ्यात्व और अंस्यमकी प्राप्तिको प्रतिपात कहते हैं , यह प्रतिपात देशावधिवालेका ही होता है । परमावधि और सर्वावधिवालेका नहीं होता ।

अवधि ज्ञानका द्रव्यादि चतुर्ध्यकी अंपेक्षासे वर्णन करते हैं ।

द्रव्यं खेतं कालं भावं पद्मि रूपि जापदे ओही ।

अवरादुककस्सोत्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोही ॥ ३७५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति रूपि जानीते अवधिः ।

अवरादुक्षुष्ट इति च विकल्परहितस्तु सर्वावधिः ॥ ३७६ ॥

अर्थ— जगन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त सब ही अवधि ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुदल) द्रव्यको ही जानता है । तथा उसके सम्बन्धसे संसारी जीव द्रव्यको भी जानता है । किन्तु सर्वावधि ज्ञानमें जगन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं—वह निर्विकल्प है ।

अवधि ज्ञानके विषयभूत सबसे जगन्य द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

णोकम्मुरालसंचं मज्जिमजोगजियं सविस्सचयं ।

लोयविभत्तं जाणादि अवरोही द्रव्यदो णियमा ॥ ३७६ ॥

नोकम्मोरालसंचयं मध्यमयोगजितं सविस्त्रसोपचयम् ।

लोकविभक्तं जानाति अवरावधिः द्रव्यतः नियमात ॥ ३७६ ॥

अर्थ— मध्यम योगके द्वारा संचित विस्त्रेपचयसहित नोकर्म औदारिक कर्णणोके संचयमें लोकका भाग देनेसे जितना द्रव्य लब्ध आवे उत्तेको नियमसे जगन्य अवधि ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षासे जानता है । **भावार्थ—** विस्त्रेपचयसहित और जिसका मध्यम योगके द्वारा संचय हुआ हो ऐसे डेढगुणहानिमात्र समयप्रबद्धरूप औदारिक नोकर्मके समूहमें लोकप्रमाणका भाग देनेसे जो द्रव्य लब्ध आवे उत्तेन द्रव्यको जगन्य अवधि ज्ञान नियमसे क्षेत्रका जानता है ।

अवधि ज्ञानके विषयभूत जगन्य प्रमाण बताते हैं ।

सुहमाणिगोद्अपज्जत्यस्स जावस्स तदियसमयम्हि ।

अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिरवेत्तं तु ॥ ३७७ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्यासकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अवरावगाहनमानं जग्नन्यकमवधिक्षेत्रं तु ॥ ३७७ ॥

अर्थ— सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्यासककी उत्पत्ति होनेसे तीसरे समयमें जो जग्नन्य अवगाहना होती है उसका जितना प्रमाण है उतना ही अवधि ज्ञानके जग्नन्य क्षेत्रका प्रमाण है । **भावार्थ—** इन्हें क्षेत्रमें जितने जग्नन्य द्रव्य होंगे जिसका कि प्रमाण पहले बताया गया है उनको जग्नन्य देशावधिवाला जान सकता है—इसके बाहर नहीं ।

जग्नन्य क्षेत्रके विषयमें विशेष कथन करते हैं ।

अवरोहिखेतदीहं वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो ।

अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अवरावधिक्षेत्रदीर्घं विस्तारोत्सवं न जानीमः ।

अन्यत् पुनः समीकरणे अवरावगाहनप्रमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अर्थ— जग्नन्य अवधि ज्ञानके क्षेत्रकी उंचाई लम्बाई चौड़ाईका भिन्न २ प्रमाण हम नहीं जानते । तथापि यह मालुम है कि समीकरण करनेसे जितना जग्नन्य अवगाहनका प्रमाण होता है उतना ही जग्नन्य अवधिका क्षेत्र है ।

अवरोगाहणपमाणं उत्सेहंगुलअसंखभागस्स ।

सूहस्स य धणपदरं होदि हु तक्षेत्तसमकरणे ॥ ३७९ ॥

अवरावगाहनमानमुत्सेधाङ्गुलासंख्यभागस्य ।

सूचेश्च ननपतरं भवति हि तत्क्षेत्रसमीकरणे ॥ ३७९ ॥

अर्थ— उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पत्ति व्यवहार सूच्यङ्गुलके असंख्यात्मे भागप्रमाण—भुजा कोटी और बेधमें परस्पर गुणा करनेसे जितना जग्नन्य अवगाहनका प्रमाण होता है उतना ही समीकरण करनेसे जग्नन्य अवधि ज्ञानका क्षेत्र होता है । **भावार्थ—** गुणा करनेसे अङ्गुलके असंख्यात्मे भागप्रमाण जग्नन्य अवधिका क्षेत्र होता है ।

अवरं तु ओहिखेत्तं उत्सेहं अंगुलं हवे जम्हा ।

सुहमोगाहणपमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ॥ ३८० ॥

अवरं तु अवधिक्षेत्रमुत्सेधमङ्गुलं भवेद्यस्मात् ।

सूक्ष्मावगाहनमानमुपरि प्रमाणं तु अङ्गुलकम् ॥ ३८० ॥

अर्थ— जो जग्नन्य अवधिका क्षेत्र पहले बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुल ही है; क्योंकि वह सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्यासककी जग्नन्य अवगाहना प्रमाण है । परन्तु आगे अङ्गुलसे प्रमाणाङ्गुलका प्रहण करना । **भावार्थ—** जग्नन्य अवगाहनके समान अङ्गुलके असंख्यात्मे भाग जो जग्नन्य अवधिका क्षेत्र बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे ही है

ऐसा समझना चाहिये; क्यों कि परमागमका ऐसा नियम है कि शरीर गङ्गा आप नगर आदिके प्रमाण उत्सेधाङ्कुलसे ही लिये जाते हैं । परन्तु आगे अङ्कुलशब्दसे प्रपाणाङ्कुल लेना चाहिये ।

अवरोहिष्वेत्तमज्ञे अवरोही अवरदद्ववमवगमदि ।

तद्वद्वस्सवगाहो उत्सेहासंखधणपदरा ॥ ३८१ ॥

अवराविषेत्रमच्ये अवराविः अवरदद्वयमवगच्छति ।

तद्वद्वस्यावगाहः उत्सेहासंख्यवनप्रतरः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि अपने जघन्य क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य हैं उन सबको जानता है । उस द्रव्यका अवगाह उत्सेधाङ्कुलके असंख्यातमे भागका घनप्रतर होता है ।

भावार्थ—यद्यपि जघन्य अवधिके क्षेत्रसे जघन्य द्रव्यके अवगाह—क्षेत्रका प्रमाण असंख्यतगुणा हीन है; तथापि घनरूप उत्सेधाङ्कुलके असंख्यातमे भागमात्र है । इसकी भुजा कोटी तथा वेषका प्रमाण सूच्यंगुलके असंख्यातमे भाग है ।

आवलिअसंखभागं तीदभाविस्सं च कालदो अवरं ।

ओही जाणदि भावे कालअसंखेजभागं तु ॥ ३८२ ॥

आवल्यसंख्यभागमतीतभविष्यच्च कालतः अवरम् ।

अवधिः जानाति भावे कालासंख्यातभागं तु ॥ ३८२ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि ज्ञान कालकी अपेक्षासे आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण द्रव्य-की व्यंजन पर्यायोंको जानता है । तथा जितनी पर्यायोंको कालकी अपेक्षासे जानता है उसके असंख्यातमे भागप्रमाण वर्तमान कालकी पर्यायोंको भावकी अपेक्षासे जानता है ।

इस प्रकार जघन्य देशावधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सीमाको बताकर द्रव्यादि चतुष्यकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके विकल्पोंका वर्णन करते हैं ।

अवरदद्वादुवरिमद्वववियष्याय होदि ध्रुवहारो ।

सिद्धाण्ठिमभागो अभवासिद्धादणंतगुणो ॥ ३८३ ॥

अवरदद्वादुवरिमद्ववविकल्पाय भवति ध्रुवहारः ।

सिद्धानन्तिमभागः अभन्यसिद्धादनन्तगुणः ॥ ३८३ ॥

अर्थ—जघन्य द्रव्यके ऊपर द्रव्यके दूसरे भेद निकालनेके लिये ध्रुवहार होता है । इसका (ध्रुवहारका) प्रमाण सिद्धान्तशिसे अनन्तमे भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणा है ।

अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण बताते हैं ।

ध्रुवहारकम्भवगणगुणगारं कम्भवगणं गुणिदे ।

समयप्रबद्धप्रमाणं जाणिज्ञो ओहिविसयाम्हि ॥ ३८४ ॥

ध्रुवहारकार्मणवर्गाणगुणकारं कार्मणवर्गाणं गुणिते ।

समयप्रबद्धप्रमाणं ज्ञातव्यमवधिविषये ॥ ३८४ ॥

अर्थ—ध्रुवहाररूप कार्मण वर्गाणाके गुणाकारका और कार्मण वर्गाणाका परस्पर गुणा करनेसे अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण निकलता है ।

ध्रुवहारका प्रमाण विशेषतासे बताते हैं ।

मणदद्ववर्गणाणं विषयपाणंतिमसमं खु ध्रुवहारो ।

अवरुक्तस्विसेसा रूवहिया तविषयप्या हु ॥ ३८५ ॥

मनोद्रव्यवर्गाणानां विकल्पानन्तिमसमं खलु ध्रुवहारः ।

अवरोत्कृष्टविशेषाः रूपाधिकास्तद्विकल्पा हि ॥ ३८६ ॥

अर्थ—मनोद्रव्य—वर्गाणके उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे जघन्य प्रमाणके घटानेसे जो शेष रहे उसमें एक मिलानेसे मनोद्रव्य—वर्गाणके विकल्पोंका प्रमाण होता है । इन विकल्पोंका जितना प्रमाण हो उसके अनन्त भागोंमेंसे एक भागकी वरावर अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके ध्रुवहारका प्रमाण होता है ।

मनोद्रव्य—वर्गाणके जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणको बताते हैं ।

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्तसं ।

इदि मणमेदाणंतिमभागो दद्वमिम ध्रुवहारो ॥ ३८६ ॥

अवरं भवति अनन्तमनन्तभागेनाधिकमुल्कृष्टम् ।

इति मनोभेदानन्तिमभागो द्रव्ये ध्रुवहारः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गाणका जघन्य प्रमाण अनन्त, इसमें इसीके (जघन्यके) अनन्त भागोंमेंसे एक भाग मिलानेसे मनोवर्गाणका उत्कृष्ट प्रमाण होता है । इस प्रकार जितने मनोवर्गाणके भेद हुए उसके अनन्त भागोंमेंसे एकभाग-प्रमाण अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके विषयमें ध्रुवहारका प्रमाण होता है ।

प्रकारान्तरसे फिर भी ध्रुवहारका प्रमाण बताते हैं ।

ध्रुवहारस्स पमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।

समयप्रबद्धिमित्तं कम्मणवर्गणगुणादो दु ॥ ३८७ ॥

होदि अणंतिमभागो तगुणगारो वि देसओहिस्स ।

दोजणदद्वभेदपमाणद्वुवहारसंवग्गो ॥ ३८८ ॥

ध्रुवहारस्य प्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि ।

समयप्रबद्धिमित्तं कार्मणवर्गाणगुणतस्तु ॥ ३८७ ॥

भवत्यनन्तिमभागस्तदुणकरो पि देशावयेः ।

धूनद्रव्यभेदपमाणध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३८८ ॥ ,

अर्थ—यद्यपि ध्रुवहारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमें भाग है, तथापि अवधि—ज्ञान—विषयक समयप्रबद्धका प्रमाण निकालनेके निमित्तभूत कार्मण वर्गणाके गुणकारसे अनन्तमें भाग समझना चाहिये । द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके जितने भेद हैं उनमें दो काम करनेसे जो प्रमाण शेष रहे उसका ध्रुवहारपूर्णप्रमाण परस्पर गुणा करनेसे कार्मण वर्गणाके गुणकारका प्रमाण निकलता है ।

देशावधि: ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षा कितने भेद हैं यह बताते हैं ।

अंगुलअसंखर्गुणिदा खेत्तवियप्पा य दव्यभेदा हु ।

खेत्तवियप्पा अवरुक्तस्सविसेसं हवे एत्थ ॥ ३८९ ॥

अङ्गुलासंखयुगुणिताः क्षेत्रविकल्पाश्च द्रव्यभेदाः हि ।

क्षेत्रविकल्पा अवरोऽत्कृष्टविशेषो भवेदत्र ॥ ३८९ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके क्षेत्रकी अपेक्षा जितने भेद हैं उनको सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणा करनेपर, द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिके भेदोंका प्रमाण निकलता है । क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे सर्व—जनन्य प्रमाणको घटाने और एक बिलानेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ही क्षेत्रकी अपेक्षासे देशावधिके विकल्प होते हैं ।

क्षेत्रकी अपेक्षा जनन्य और उत्कृष्ट प्रमाण कितना है यह बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं अवरं उक्तस्सयं हवे लोगो ।

इदि वग्गणगुणगारो असंखध्रुवहारसंवग्गो ॥ ३९० ॥

अङ्गुलासंखयभागमवरमुक्तष्टकं भवेत्तोके: ।

इति वर्गणागुणकारोऽसंख्यध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३९० ॥

अर्थ—देशावधिका पूर्वोक्त लब्ध्यपर्याप्तकी जनन्य अवगाहनाप्रमाण, अर्थात् धनाकुलके असंख्यातमे भागस्तरुप जो प्रमाण बताया है वही जनन्य क्षेत्रका प्रमाण है । सम्पूर्ण लेकप्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है । इसलिये असंख्यात ध्रुवहारोंका परस्पर गुणा करनेसे कार्मण वर्गणाका गुणकार निष्पत्त होता है ।

वर्गणाका प्रमाण बताते हैं ।

वग्गणरासिप्रमाणं सिद्धाण्ठिमप्रमाणमेचं पि ।

दुगसहियपरमभेदप्रमाणवहाराण संवग्गो ॥ ३९१ ॥

वर्गणाराशिप्रमाणं सिद्धान्तिमप्रमाणात्रमपि ।

द्विक्षहितप्रमभेदप्रमाणावहाराणं संवर्गः ॥ ३९१ ॥

अर्थ—कार्मण वर्गणाका प्रमाण यद्यपि सिद्धराशिके अनन्तमें भाग है; तथापि परमा-

१ ध्रुवहारका जितना प्रमाण है उतनी बार ।

वधिके भेदोंमें दो मिलानेसे जो प्रमाण हो उतनी जगह ध्रुवहार रखकर परस्पर गुणा करनेसे लब्धराशिप्रमाण कार्मण वर्गणाका प्रमाण होता है ।

परमावधिके किन्तने भेद हैं यह बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगाओगाहणवियष्पहृदतेऽ ।
इदि ध्रुवहारं वगणगुणगारं वगणं जाणे ॥ ३९२ ॥

परमावधेभेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजसः ।

इति ध्रुवहारं वर्गणागुणकारं वर्गणं जानीहि ॥ ३९२ ॥

अर्थ—तेजस्कायिक जीवोंकी अवगाहनाके जितने विकल्प हैं उसका और तेजस्कायिक जीवराशिका परस्पर गुणा करनेसे जो राशि लब्ध आवे उतना ही परमावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे भेदोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार ध्रुवहार, वर्गणाका गुणकार, और वर्गणाका स्वरूप समझना चाहिये ।

देसोहिअवरद्रव्यं ध्रुवहारेणवहिदे हवे विदियं ।
तदियादिवियष्पेषु वि असंख्वारोत्ति एस कमो ॥ ३९३ ॥

देशावध्यवरद्रव्यं ध्रुवहोरेणवहिते भवेत् द्वितीयम् ।

तृतीयादिविकल्पेष्पिष्पि असंख्यवार इत्येषः क्रमः ॥ ३९३ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके जग्न्य द्रव्यका जो प्रमाण पहले बताया है उसमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे देशावधिके दूसरे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है । दूसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे तीसरे विकल्पके द्रव्यका और तीसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे चौथे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण तिकलता है । इसी तरह आगे के विकल्पोंके द्रव्यका प्रमाण निकालनेकेलिये क्रमसे असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये ।

देसोहिमज्जभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्भमंगं ।
तेजोभासमणाणं वगणयं केवलं ज्यथ ॥ ३९४ ॥
पस्सदि ओही तथ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही ।
वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा ॥ ३९५ ॥

देशावधिमध्यभेदे सविस्ससोपचयतेजःकर्माङ्गम् ।

तेजोभाषामनसां वर्गणं केवलं यत्र ॥ ३९४ ॥

पश्यत्यवधिस्त्र असंख्येया भवन्ति द्वीपोदधयः ।

वर्षाणि असंख्यातनि भवन्ति असंख्यातगुणितकमाणि ॥ ३९५ ॥

अर्थ—इस प्रकार असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देते २ देशावधि ज्ञानके मध्य भेदोंमें से जहां पर प्रथम भेद विश्वसोपचयसहित तैजस शरीरको विषय करता है, अथवा इसके आगे का दूसरा मध्यभेद विश्वसोपचयसहित कार्मण शरीरको विषय करता है, अथवा तीसरा भेद विश्वसोपचयरहित तैजस वर्गणाको विषय करता है, अथवा चौथा भेद विश्वसोपचयरहित भाषा वर्गणाको विषय करता है, अथवा पांचमा भेद विश्वसोपचयरहित मनोर्वगणाको विषय करता है, वहां पर सामान्यमें देशावधिके उक्त पांचों ही मध्य भेदोंके क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीपसमुद्र और कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है । पांतु विशेषताकी अपेक्षासे पूर्व २ भेदके क्षेत्र और कालके प्रमाणसे उत्तरोत्तर भेदके क्षेत्र और कालका प्रमाण असंख्यात गुणा है; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात होते हैं ।

तत्त्वो कर्मद्वयस्तिसिगिसमयप्रबद्धं विविस्ससोवच्यं ।

ध्रुवहारस्स विभज्जं सव्वोहीं जाव ताव हवे ॥ ३९६ ॥

ततः कार्मणस्य एकसमयप्रबद्धं विविश्वसोपनयम् ।

ध्रुवहारस्य विभाज्यं सर्वावधिः यावत् तावत् भवेत् ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर मनोर्वगणामें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये । इस तरह भाग देते २ विश्वसोपचयरहित कार्मणके एक समयप्रबद्धको विषय करता है । उक्त क्रमानुसार इसमें भी सर्वावधिके विषयपर्यन्त ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये ।

एदम्हि विभज्जंते दुचरिमदेसावहिमि वगगणयं ।

चरिमे कर्मद्वयस्तिसिगिवगगणमिगिवारभजिदं तु ॥ ३९७ ॥

एतस्मिन् विभज्यमाने द्विचरमदेशावधौ वर्गणा ।

चरमे कार्मणस्यैकवर्गणा एकवारभक्ता तु ॥ ३९७ ॥

अर्थ—इस समयप्रबद्धमें भी ध्रुवहारका भाग देनेसे देशावधि ज्ञानके द्विचरम भेदके विषयभूत द्रव्यका कार्मण वर्गणारूप प्रमाण निकलता है । इस एक कार्मण वर्गणामें भी एक-वार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके चरम भेदके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

अंगुलअसंख्यभागे द्रव्यवियष्पे गदे दु खेत्तम्हि ।

एगागासपदेसो वदुदि संपुण्णलोगोत्ति ॥ ३९८ ॥

अङ्गुलासंख्यभागे द्रव्यविकल्पे गते तु क्षेत्रे ।

एकाकाशप्रदेशो वर्धते संपूर्ण लोक इति ॥ ३९८ ॥

अर्थ—सूक्ष्मांगुलके असंख्यातमें भाग प्रमाण जब द्रव्यके विकल्प हो जाय तब क्षेत्रकी

अपेक्षा एक आकाशका प्रदेश बढ़ता है । इस ही क्रमसे एक २ आकाशके प्रदेशकी वृद्धि वहांतक करनी चाहिये कि जहां तक देशावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक हो जाय ।

आवलिअसंखभागो जहणकालो क्रमेण समयेण ।

वद्वृदि देसोहिवरं पल्लुं समऊणयं जाव ॥ ३९९ ॥

आवल्यसंस्थ्यभागो जग्नन्यकालः क्रमेण समयेण ।

वर्धते देशावधिकरं पल्यं समयोनकं यावत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—जग्नन्य देशावधिके विषयभूत कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग है । इसके ऊपर उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत एक समय कम एक पल्यप्रमाण काल पर्यन्त, ध्रुव तथा अध्रुव वृद्धिरूप क्रमसे एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

उक्त दोनों क्रमोंको उनीस काण्डकोंमें कहनेकी इच्छासे आचार्य पहले प्रथम काण्डकमें उनका दाईं गाथाओंद्वारा वर्णन करते हैं ।

अंगुलअसंखभागं ध्रुवरूपेण य असंखवारं तु ।

असंखसंखं भागं असंखवारं तु अन्दुवगे ॥ ४०० ॥

अन्दुलासंस्थ्यभागं ध्रुवरूपेण च असंख्यवारं तु ।

असंख्यसंख्यं भागमसंख्यवारं तु अन्दुवगे ॥ ४०० ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें चरम विकल्पपर्यन्त असंख्यात वार घनाङ्गुलके असंख्यात भागप्रमाण ध्रुव वृद्धि होती है । और इस ही काण्डकके अन्त पर्यन्त घनाङ्गुलके असंख्यातमें और संख्यातमे भाग प्रमाण ध्रुव वृद्धि भी असंख्यात वार होती है ।

ध्रुवअन्दुवरूपेण य अवरे खेत्तमिह वद्वृदे खेते ।

अवरे, कालमिह पुणो एकेककं वद्वृदे समयं ॥ ४०१ ॥

ध्रुवाध्रुवरूपेण च अवरे क्षेत्रे वर्धते समय ।

अवरे कले पुनः एकैको वर्धते समयः ॥ ४०१ ॥

अर्थ—जग्नन्य देशावधिके विषयभूत क्षेत्रके ऊपर ध्रुवरूपसे अथवा अध्रुवरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि हेनेपर जग्नन्य कालके ऊपर एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

संखातीदा समया पठमे पव्वमिम उभयदो वद्वी ।

खेत्तं कालं अस्तिसय पठमादी कंडये वोच्छं ॥ ४०२ ॥

संख्यातीताः समयाः प्रथमे पर्वे उभयतो वृद्धिः ।

क्षेत्रं कालमाश्रित्य प्रथमादीनि काण्डकानि वक्ष्ये ॥ ४०२ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें ध्रुवरूपसे और अध्रुवरूपसे असंख्यात समयकी वृद्धि होती है । इसके आगे प्रथमादि काण्डकोंका क्षेत्र और कालके आश्रयसे वर्णन करते हैं ।

अंगुलमावलियाए भागमसंखेजदोवि संखेजो ।
अंगुलमावलियंतो आवलियं नांगुलपुधत्तं ॥ ४०३ ॥

अङ्गुलावलयोः भागोऽसंख्येयोऽपि संख्येयः ।

अङ्गुलमावल्यन्त आवलिकशाङ्गुलपृथक्त्वम् ॥ ४०३ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें जग्न्य क्षेत्रका प्रमाण वनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, और उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण वनाङ्गुलके संख्यातमे भाग प्रमाण है। और जग्न्य कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग, तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण आवलीका संख्यातमा भाग है, दूसरे काण्डकमें क्षेत्र वनाङ्गुलप्रमाण और काल कुछ कम एक आवली प्रमाण है। तीसरे काण्डकमें क्षेत्र वनाङ्गुल—पृथक्त्व और काल आवली—पृथक्त्व—प्रमाण है।

आवलियपुधत्तं पुण हृथं तह गाउयं मुहूर्तं तु ।
जोयणभिणमुहूर्तं दिवसंतो पण्पुवीसं तु ॥ ४०४ ॥

आवलिपृथक्त्वं पुनः हस्तस्तथा गव्यूतिः मुहूर्तल्तु ।

योजनं भिन्नमुहूर्तःदिवसात्तः पञ्चविशतिस्तु ॥ ४०४ ॥

अर्थ—चतुर्थ काण्डकमें काल आवलीपृथक्त्व और क्षेत्र हस्तप्रमाण है। पाचमे काण्डकमें क्षेत्र एक कोश और काल अन्तर्मुहूर्त है। छठे काण्डकमें क्षेत्र एक योजन और काल भिन्नमुहूर्त है। सातमे काण्डकमें काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पचीस योजन है।

भरहम्मि अद्वमासं साहियमासं च जम्बुदीवम्मि ।
वासं च मणुवलोए वासपुधत्तं च रुचगम्मि ॥ ४०५ ॥

भरते अर्धमासः साधिकमासश्च जम्बुदीपे ।

र्वश्च मनुजलोके वर्षपृथक्त्वं च रुचके ॥ ४०५ ॥

अर्थ—आठमे काण्डकमें क्षेत्र भरतक्षेत्र प्रमाण और काल अर्धमास (पक्ष) प्रमाण है। नौमे काण्डकमें क्षेत्र जम्बुदीप प्रमाण और काल एक माससे कुछ अधिक है। दशमे काण्डकमें क्षेत्र मनुज्यलोक प्रमाण और काल एक वर्षप्रमाण है। भ्यारहमे काण्डकमें क्षेत्र रुचक दीप और काल वर्षपृथक्त्व प्रमाण है।

संखेजपमे वासे दीवसमुद्वा हवंति संखेजा ।
बासम्मि असंखेजे दीवसमुद्वा असंखेजा ॥ ४०६ ॥

संख्यातप्रमे वर्षे द्वीपसमुद्वा भवन्ति संख्याताः ।

वर्षे असंख्येये द्वीपसमुद्वा असंख्येयाः ॥ ४०६ ॥

अर्थ—बारहमे काण्डकमें संख्यात वर्ष प्रमाण काल और संख्यात द्वीपसमुद्रप्रमाण क्षेत्र है। इसके आगे तेरहमे से लेकर उन्नीसमें काण्डक पर्यन्त असंख्यात वर्ष—प्रमाण काल और असंख्यात द्वीपसमुद्र—प्रमाण क्षेत्र है।

कालविशेषणवहिदखेत्तविशेषो ध्रुवा हवे वृद्धि ।
अञ्जुववृद्धिवि पुणो अविरुद्धं इट्टकंडम्भि ॥ ४०७ ॥

कालविशेषणवहितक्षेत्रविशेषो ध्रुवा भवेत् वृद्धिः ।

अध्रुववृद्धिरपि पुनः अविरुद्धा इष्टकाण्डे ॥ ४०७ ॥

अर्थ—किसी विवक्षित काण्डकके क्षेत्रविशेषमें कालविशेषका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। इस ही तरह अविरोधरूपसे इष्ट काण्डकमें अध्रुव वृद्धिका भी प्रमाण समझना चाहिये। इस अध्रुव वृद्धिका क्रम आगेके गाथामें कहेगे। भावार्थ—विवक्षित काण्डकके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणमेंसे नवन्य क्षेत्रप्रमाणको घटाने पर जो शेष रहे उसको क्षेत्रविशेष कहते हैं। और उत्कृष्ट कालके प्रमाणमेंसे नवन्य कालके प्रमाणको घटानेपर जो शेष रहे उसको कालविशेष कहते हैं। किसी विवक्षित क्षेत्रविशेषमें उसके कालविशेषका भाग देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। तथा अध्रुव वृद्धिका क्रम किसी भी विवक्षित काण्डकमें अविरोधकरके सिद्ध करना चाहिये।

अध्रुव वृद्धिका क्रम बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव ।
संखमसंखं एवं सेढीपदरस्स अञ्जुवगे ॥ ४०८ ॥

अंगुलासंख्यभागः संखयं वा अङ्गुलं तस्यैव ।

संख्यमसंख्यमेवं श्रेणीप्रतरयोः अध्रुवगायाम् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा घनाङ्गुलके संख्यातमे भागप्रमाण वा घनाङ्गुलमात्र, वा संख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा असंख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा श्रेणीके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीके संख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीप्रमाण, वा संख्यात श्रेणीप्रमाण, वा असंख्यात श्रेणीप्रमाण, वा प्रतरके असंख्यातमे भाग—प्रमाण, वा प्रतरके संख्यातमे भाग—प्रमाण, वा प्रतरप्रमाण, वा संख्यात प्रतर—प्रमाण, वा असंख्यात प्रतर-प्रमाण प्रदेशोंकी वृद्धि होने पर एक समयकी वृद्धि होती है। यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है। भावार्थ—जहाँ पर जितने प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव हो, वहाँ पर उतने प्रकारकी वृद्धियोंमेंसे कभी किसी प्रकारकी और कभी किसी प्रकारकी प्रदेश वृद्धिके होने पर एक एक समयकी वृद्धिका होना यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है।

उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रमाण बताते हैं ।

कम्महयवगणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं ।

उक्ससं खेतं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥ ४०९ ॥

कार्मणवर्गाणां धुवहारेणिकवारभाजिने द्रव्यम् ।

उत्कृष्टं क्षेत्रं पुनः लोकः संपूर्णं भवति ॥ ३०९ ॥

अर्थ—कार्मण वर्गाणमें एकतार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है । तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है ।

पलुसमऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु ।

दव्वस्स य पजाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४१० ॥

पल्यं समयोनं काले भावेनासंख्यलोकमात्रा हि ।

द्रव्यस्य च पर्याया वरदेशावधिर्विषया हि ॥ ४१० ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षा एक समय कम एक पल्य, और भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण द्रव्यकी पर्याय उत्कृष्ट देशावधिका विषय है । भावार्थ—काल और भाव शब्दके द्वारा द्रव्यकी पर्यायोंका ग्रहण किया जाता है । इसलिये कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्यप्रमाण और भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण द्रव्यकी पर्यायोंको उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान विषय करता है ।

काले चउण्ण उड्डी कालो भजिदव्व खेतउड्डी य ।

उड्डीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेतकाला हु ॥ ४११ ॥

काले चतुर्णा वृद्धिः कालो भजितव्यः क्षेत्रवृद्धिश्च ।

वृद्धच्च द्रव्यपर्याययोः भजितव्यौ क्षेत्रकालौ हि ॥ ४११ ॥

अर्थ—कालकी वृद्धि होने पर चारों प्रकारकी वृद्धि होती है । क्षेत्रकी वृद्धि होने पर कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । इस ही तरह द्रव्य और भावकी अपेक्षा वृद्धि होने पर क्षेत्र और कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । परन्तु क्षेत्र और कालकी वृद्धि होने पर द्रव्य और भावकी वृद्धि अवश्य होती है ।

देशावधिका निरूपण समाप्त हुआ, अतः क्रमप्राप्त परमावधिका निरूपण करते हैं ।

देशावहिवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।

परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिष्टम् ॥ ४१२ ॥

देशावधिवरद्रव्यं धुवहारेणवहिते भवेत् नियमात् ।

परमावधिवरं द्रव्यप्रमाणं तु जिनदिष्टम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ—देशावधिका जो उत्कृष्ट द्रव्य—प्रमाण है उसमें ध्रुवहारका भाग देनेसे नियं
मसे परमावधिके जग्न्य द्रव्यका प्रमाण निकलता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ।

परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियष्पहृदतेऽ ।

चरमे हारप्रमाणं जेद्वस्स य होदि दृवं तु ॥ ४१३ ॥

परमावधिर्भेदाः स्कावगाहनविकल्पहततेजाः ।

चरमे हारप्रमाणं ज्येष्ठस्य च भवति द्रव्यं तु ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अपनी (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहनाके भेदोंका जो प्रमाण है,
उसका तेजस्कायिक जीवराशिके साथ गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने ही परमाव-
धिके भेद हैं । इनमेंसे सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेदमें द्रव्य ध्रुवहारप्रमाण होता है ।

सव्वावहिस्स एको परमाणु होदि णिव्वियष्पो सो ।

गंगामहाणहिस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१४ ॥

सर्वावधेरकः परमाणुर्भवति निर्विकल्पः सः ।

गंगामहानन्दाः प्रवाह इव धुवो भवेत् हारः ॥ ४१४ ॥

अर्थ—परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध एक
परमाणु—मात्र द्रव्य सर्वावधिका विषय होता है । यह ज्ञान तथा इसका विषयभूत परमाणु
निर्विकल्पक है । भागहार गंगा महानदीके प्रवाहकी तरह ध्रुव है । भावार्थ—जिसतरह गंगा
महानदीका प्रवाह हिमाचलसे निकलकर अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा वहता हुआ पूर्व समुद्रमें
जाकर अवस्थित होगया है । उसी तरह यह भागहार जग्न्य देशावधि द्रव्यप्रमा-
णसे आगे परमावधिके सर्वोत्कृष्ट द्रव्यपर्यन्त अविच्छिन्न रूपसे जाते २ परमाणुपर जाकर
अवस्थित होगया है ।

परमोहिदृव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति ।

तस्सेव खेत्तकालवियष्पा विसया असंख्यगुणिदकमा ॥ ४१५ ॥

परमावधिद्रव्यभेदा यान्मात्रा हि तावन्मात्रा भवन्ति ।

तस्यैव शेत्रकालविकल्पा विषया असंख्यगुणितकमा ॥ ४१५ ॥

अर्थ—परमावधिके जितने द्रव्यकी अपेक्षासे भेद हैं उतने ही भेद शेत्र और
कालकी अपेक्षासे हैं । परन्तु उनका विषय असंख्यतगुणितकम है ।

असंख्यतगुणितकम किस तरहसे है यह बताते हैं ।

आवलिअसंख्यमागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।

देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवगे ॥ ४१६ ॥

आवल्यसंस्थभागा इच्छतगच्छधनमानमात्राः ।

देशावधे: क्षेत्रे कालेऽपि न भवन्ति संवर्गं ॥ ४१६ ॥

अर्थ—किसी भी परमावधिके विवक्षित विकल्पमें अथवा विवक्षित कालके निकल्पमें संकल्पित धनका जितना प्रमाण हो उतनी जगह आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालमें गुणकारका प्रमाण होता है । **भावार्थ—**परमावधिके प्रथम विकल्पमें संकल्पित धनका प्रमाण एक और दूसरे विकल्पमें तीन तथा तीसरे विकल्पमें छह चौथे विकल्पमें दश एंचमें विकल्पमें पन्द्रह छठे विकल्पमें इक्कीस सातमें विकल्पमें अद्वैटस होता है । इसी तरह आगे भी संकल्पित धनका प्रमाण समझना चाहिये । परमावधिके जिस विकल्पके क्षेत्र या कालका प्रमाण निकालना हो, उस विकल्पके संकल्पित धनके प्रमाणकी बराबर आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, उसका देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालके प्रमाणके साथ गुणा करनेसे परमावधिके विवक्षित विकल्पके क्षेत्र और कालका प्रमाण निकलता है ।

जितनेमा भेद विवक्षित हो वहां पर्यन्त एकसे लेकर एक एक अविक अङ्ग रखकर सबको जोड़नेसे जो राशि उत्पन्न हो वह उस विवक्षित भेदका संकल्पित धन होता है । जैसे प्रथम भेदका एक, दूसरे भेदका तीन, तीसरे भेदका छह, इत्यादि ।

प्रकारान्तरसे गुणकारका प्रमाण बताते हैं ।

गच्छसमा तकालियतीदे रूद्धणगच्छधणमेत्ता ।

उभये वि य गच्छस्य य धणमेत्ता होति गुणगारा ॥ ४१७ ॥

गच्छसमा: तात्कालिकातीते रूपोनगच्छधनमात्राः ।

उभयेऽपि च गच्छस्य च धनमात्रा भवन्ति गुणकाराः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—विवक्षित गच्छकी जो संख्या हो उतने प्रमाणको विवक्षित गच्छसे अव्यवहित पूर्वके गच्छके प्रमाणमें मिला कर एक कम करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमें विवक्षित गच्छकी संख्या मिलानेसे संकल्पित धनका प्रमाण होता है । यही गुणकारका प्रमाण है । **भावार्थ—**जैसे चौथा भेद विवक्षित है, तो गच्छके प्रमाण चारको अव्यवहित पूर्वके भेद तीनमें मिलाकर एक कम करनेसे छह होते हैं, इसमें विवक्षित गच्छके प्रमाण चारको मिलानेसे दश होते हैं, यही गुणकारका प्रमाण है । तथा यही विवक्षित भेदका संकल्पितधन है ।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्तस्योहिखेत्तं तु ।

सव्वावहिगुणगारो काले वि असंख्यलोगो दु ॥ ४१८ ॥

१ यही तीसरे भेदका संकल्पितधन है ।

परमावधिवरसेत्रेणावहितोत्कृष्टावधिसेत्रं तु ।
सर्वावधिगुणकारः कालेऽपि असंख्यलोकस्तु ॥ ४१८ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट अवधि ज्ञानके क्षेत्रमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सर्वावधिसम्बन्धी क्षेत्रकेलिये गुणकार है । तथा सर्वावधिसम्बन्धी कालका प्रमाण लानेके लिये असंख्यात लोकका गुणकार है । **भावार्थ—**असंख्यात लोकके प्रमाणको पांचवार लोकके प्रमाणसे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है । इसमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे सर्वावधिके क्षेत्रसम्बन्धी गुणकारका प्रमाण निकलता है । अर्थात् इस गुणकारका परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके क्षेत्रका प्रमाण निकलता है । और इस ही तरह सर्वावधिके कालका प्रमाण निकालनेकेलिये असंख्यातलोकका गुणकार है । अर्थात् असंख्यातलोकका परमावधिके उत्कृष्ट कालप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके कालका प्रमाण निकलता है ।

परमावधिके विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालका प्रमाण निकालनेकेलिये दो करणसूत्रोंको कहते हैं ।

इच्छिदरासिच्छेदं दिणच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।
लद्धमिददिणरासीणध्मासे इच्छिदो रासी ॥ ४१९ ॥

इच्छिदराशिच्छेदं देयच्छेदैर्भाजिते तत्र ।

लब्धमितदेयराशीनामध्यासे इच्छितो राशिः ॥ ४२० ॥

अर्थ—विवक्षित राशिके अर्धच्छेदोंमें देय राशिके अर्धच्छेदोंका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह देयराशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे विवक्षित राशिका प्रमाण निकलता है ।

दिणच्छेदेणवहिवलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।

लद्धमिदलोगगुणं परमावहिचरिमगुणगारो ॥ ४२० ॥

देयच्छेदेनावहितलोकच्छेदेन पदधणे भजिते ।

लब्धमितलोकगुणं परमावधिचरिमगुणकारः ॥ ४२० ॥

अर्थ—देयराशिके अर्धच्छेदोंका लोकके अर्धच्छेदोंमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका विवक्षित संकलिप्त धनमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह लोकप्रमाणको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वह विवक्षित पदमें क्षेत्र या कालका गुणकार होता है । ऐसे ही परमावधिके अन्तिम भेदमें भी गुणकार जानना ।

आवलिअसंख्यमागा जहण्णदवस्स होति पज्जाया ।

कालस्स जहणादो असंख्यगुणहीणमेत्ता हु ॥ ४२१ ॥

आवस्थसंस्थभागा जनन्यद्रव्यस्य भवन्ति पर्याः ।

कालस्य जनन्यतः असंस्थगुणहीनमात्रा हि ॥ ४२१ ॥

अर्थ— जनन्य देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी पर्याय आवलीके असंस्थातमे भागप्रमाण हैं । और जनन्य देशावधिके विषयभूत कालका जितना प्रमाण है उसमे असंस्थातगुण हीन जनन्य देशावधिके विषयभूत भावका प्रमाण है ।

सव्वोहिति य कमसो आवलि असंख्यभागगुणिदकमा ।

द्रव्याणं भावाणं पदसंस्था सरिसगा हांति ॥ ४२२ ॥

सर्वावधिरिति च क्रमशः आवस्थसंस्थभागगुणितकमा ।

द्रव्यानां भावानां पदसंस्थाः सटशकाः भवन्ति ॥ ४२३ ॥

अर्थ— देशावधिके जनन्य द्रव्यकी पर्यायरूप भाव, जनन्य देशावधिसे सर्वावधिर्पर्यन्त आवलीके असंस्थातमे भागसे गुणितकम हैं । अत एव द्रव्य तथा भावके पदोंकी संख्या सटश है । **भावार्थ—** जहां पर देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जनन्य भेद है वहां पर भावकी अपेक्षा भी आवलीके असंस्थातमे भाग प्रमाण जनन्य भेद होता है । और जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहां भावकी अपेक्षा भी प्रथम भेदसे आवलीके असंस्थातमे भागगुणा दूसरा भेद होता है । जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा तीसरा भेद होता है वहां पर भावकी अपेक्षा दूसरे भेदसे आवलीके असंस्थातमे भागगुणा तीसरा भेद होता है । इस ही क्रमसे सर्वावधिर्पर्यन्त जानना । अवधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे जितने भेद हैं उतने ही भेद भावकी अपेक्षासे हैं । अत एव द्रव्य तथा भावकी पदसंस्था सटश है ।

नरक गतिमें अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण बताते हैं ।

सत्तमस्त्रिदिष्मि कोसं कोसस्तद्वं पवडुदे ताव ।

जाव य पढमे णिरये जोयणमेकं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥

सप्तमाक्षिते क्रोशं क्रोशम्यार्थीं प्रकर्त्ते तावत् ।

यावच प्रथमे निरये योजनमेकं भवेत् पूर्णम् ॥ ४२३ ॥

अर्थ— सातमी भूमिमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है । इसके ऊपर आध २ कोस की वृद्धि तत्र तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो । **भावार्थ—** सातमी पृथ्वीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है । इसके ऊपर प्रथम भूमिके अवधि—क्षेत्र पर्यन्त क्रमसे आध २ कोसकी वृद्धि होती है । प्रथम भूमिमें अवधि—क्षेत्रका प्रमाण एक योजन है ।

तिर्यग्माति और मनुष्यगतिमें अवधिको बताते हैं ।

तिरिये अवरं ओधो तेजोयंते य होदि उक्षसं ।
मणुए ओर्धं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि ॥ ४२४ ॥

तिरथि अवरमोषः तेजोऽन्ते च भवति उत्कृष्टम् ।

मनुजे ओषः देवे यथाक्रमं शृणुत वक्ष्यामि ॥ ४२४ ॥

अर्थ—तिर्योंके अवधि ज्ञान जगन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टताकी अपेक्षा उस भेदपर्यन्त होता है कि जो देशावधिका भेद तैजस शरीरको विषय करता है । मनुष्य गतिमें अवधि ज्ञान जगन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टतया सर्वावधिपर्यन्त होता है । देवगतिमें अवधि ज्ञानका यथाक्रमसे कहूँगा सो सुनो ।

प्रतिज्ञाके अनुसार देवगतिमें अवधिके क्षेत्रादिका वर्णन करते हैं ।

पणुवीसजोयणाइ दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं ।
संखेजगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे ॥ ४२५ ॥

पञ्चविंशतियोजनानि दिवसान्तं च च कुमारभौमयोः ।

संख्यातगुणं क्षेत्रं बहुकः कालस्तु ज्योतिष्के ॥ ४२५ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोंकी अवधिके क्षेत्रका जगन्य प्रमाण पचीस योजन और जगन्य काल कुछ कम एक दिन है । और ज्योतिषी देवोंकी अवधिका क्षेत्र इससे संख्यातगुणा है और काल इससे बहुत अधिक है ।

असुराणमसंखेजा कोडीओ सेसजोइसंताणं ।

संखातीदसहस्रा उक्ससोहीण विसओ दु ॥ ४२६ ॥

असुराणामसंख्येया: कोट्यः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।

संख्यातीतसहस्रा उत्कृष्टवधीनं विषयस्तु ॥ ४२६ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन है । शेष नौ प्रकारके भवनवासी तथा व्यन्तर और ज्योतिषी इनकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात हजार योजन है ।

असुराणमसंखेजा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।

तस्संखेजादिभागं कालेण य होदि णियमेण ॥ ४२७ ॥

असुराणामसंख्येयानि वर्षाणि पुनः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।

तत्संख्यातभागं कालेन च भवति नियमेन ॥ ४२७ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है । और शेष नौ प्रकारके भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असुरोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालके प्रमाणसे नियमसे संख्यातमें भागमात्र है ।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु ।
उड्हेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्सांति ॥ ४२८ ॥

भवनत्रिकाणामधोऽपः स्तोकं तिरश्चा भवति बहुकं तु ।

ऊर्ज्वेन भवनवासिनः सुरगिरिशिखरान्तं पश्यन्ति ॥ ४२९ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र नीचे २ कम होता है और तिर्यग् रूपसे अधिक होता है। नथा भवनवासी देव अपने अवस्थित स्थानसे सुरगिरिके (मेरुके) शिखरर्यन्त अवधिदर्शनके द्वारा देखते हैं।

सक्षीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।
तदियं तु बम्हलांतव सुक्षसहस्सारया तुरियं ॥ ४२९ ॥

शक्षैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनक्कुमारमाहेन्द्राः ।

तृतीयं तु ब्रह्मालान्तवाः शुक्रसहस्वारकाः तुरियम् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सौर्यम् और ऐशान स्वर्गके देव अवधिके द्वारा प्रथम भूमिपर्यन्त देखते हैं। सनक्कुमार महेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथ्वीतक देखते हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ स्वर्गवाले देव तीसरी भूमि तक देखते हैं। शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्गके देव चौथी भूमि तक देखते हैं।

आणदपाणदधासी आरण तह अच्चुदा य पस्सांति ।
पंचमस्तिर्परं छाडिं गेवेज्जगा देवा ॥ ४३० ॥

आनतप्राणतवासिनः आरणास्तथा अच्युताश्च पश्यन्ति ।

पञ्चमस्तिर्पर्यन्तं पष्टी ग्रैवेयका देवाः ॥ ४३० ॥

अर्थ—आनत प्राणत आरण अच्युत स्वर्गके देव पांचमी भूमि तक अवधिके द्वारा देखते हैं। और ग्रैवेयकवासी देव छाड़ी भूमि तक देखते हैं।

सवं च लोयणालिं पस्सांति अणुत्तरेषु जे देवा ।
सक्खेते य सक्खम्भे रूबगदमण्ठं भागं च ॥ ४३१ ॥

सर्वं च लोकनालीं पश्यन्ति अनुत्तरेषु ये देवाः ।

स्वस्त्रे च स्वर्कर्मणि रूपगतमनन्तभागं च ॥ ४३१ ॥

अर्थ—अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण लोकनालीको अवधिद्वारा देखते हैं। अवधिके विषयभूत क्षेत्रका जितना प्रदेशप्रत्यय है उसमें से एक २ कम करते जाना चाहिये और अवधिज्ञानावरण कर्मका जितना द्रव्य है उसमें ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये। अवधिके क्षेत्ररूप प्रदेशप्रत्ययमें एक २ प्रदेश कहां तक कम करना चाहिये? और अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग कहां तक देते जाना चाहिये? इसीको आगे स्पष्ट करते हैं:—

कर्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्सोबचयं ।
 ओहीद्वयप्रमाणं संटाविय भुवहरेण हरे ॥ ४३२ ॥
 सगसगखेत्तपदेससलायप्रमाणं समष्पदे जाव ।
 तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्यं तु ॥ ४३३ ॥
 कल्पमुगाणं स्वक्ष्वकावयिसेत्रं विविसोपनयय ।
 अवधिद्वयप्रमाणं संस्याप्य भुवहरेण हरेत् ॥ ४३२ ॥
 स्वक्ष्वक्षेत्रप्रदेशाशाकावयप्रमाणं समाप्यते यावत् ।
 तत्रतनचरमखण्डं तत्रतनाकथेद्वयं तु ॥ ४३३ ॥

अर्थ— कल्पवासी देवोंमें अपनी २ अवधिके क्षेत्रका जितना २ प्रमाण है उसका एक जगह स्थापन कर, और दूसरी जगह विविसोपनयरहित अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यका स्थापन कर, द्रव्यप्रमाणमें भ्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रमाणमें एक कम करना चाहिये। द्रव्यप्रमाणमें भ्रुवहारका एकार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार भ्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रनयमें एक और कम करना चाहिये। दूसरी वार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें तीसरी वार भ्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रनयमें तीसरी वार एक कम करना चाहिये। इस प्रकार उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें भ्रुवहारका भाग, एक २ प्रदेश कम करते २ जब सम्पूर्ण प्रदेशप्रनयरूप शालाका राशि समाप्त होनाय वहां तक देना चाहिये। इसतरह प्रदेशप्रनयमें एक २ प्रदेश कम करते २ और द्रव्यप्रमाणमें भ्रुवहारका भाग देते २ जहां पर प्रदेशप्रनय समाप्त हो वहां पर द्रव्यका जो स्फन्द शेष रहे उतने स्फन्दका अवधिके द्वारा वे कल्पवासी देव जानते हैं कि निनकी अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रदेशप्रनय विविसित हो। **भावार्थ—**जैसे सौर्यम् और ईशानकल्पवासी देवोंका क्षेत्र प्रथम नरक पर्यात है। ईशान कल्पके ऊपरके भागसे प्रथम नरक डेढ़ राजू है। इसलिये एक राजू लम्बे चौड़े और डेढ़ राजू उंचे क्षेत्रके जितने प्रदेश हों उनको एक जगह रखना, और दूसरी जगह अवधि ज्ञानावरण कर्मके द्रव्यका स्थापन करना। द्रव्यप्रमाणमें एक वार भ्रुवहारका भागदेना और प्रदेशप्रमाणमें एक कम करना। इस पहली वार भ्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आया उस द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार भ्रुवहारका भाग देना और प्रदेशप्रमाणमें दूसरा एक और कम करना। इस तरह प्रदेशप्रमाणमें एक २ कम करते २ तथा उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें भ्रुवहारका भाग देते २ प्रदेशप्रनय समाप्त होनेपर द्रव्यका जो परिमाण शेष रहे उतने परमाणुओंके सूक्ष्म पुदूल्सक्ष्मको सौर्यम् और ईशान कल्पवासी देव अवधिके द्वारा जानते हैं। इससे स्थूलको तो जानते ही हैं, किन्तु इससे सूक्ष्मको नहीं जानते। इस ही तरह आगे भी समझना।

सौधर्म ईशान कल्पवासी देवोंका क्षेत्र डेढ़राजू, सनत्कुमार माहेन्द्रवालोंका चार राजू, ब्रह्म ब्रह्मोत्तरवालोंका साड़े पांच राजू, लांतव कापिष्ठवालोंका छह राजू, शुक्र महाशुक्रवालोंका साड़े सात राजू, सतार सहस्रवालोंका आठ राजू. अनात प्राणतवालोंका साड़े नवराजू, आरण अच्युतवालोंका दश राजू, घ्रैवेयकवालोंका म्यारह राजू. अनुदेश विमानवालोंका कुछ अधिक तेरह राजू, अनुत्पविमानवालोंका कुछ कम चौदह राजू क्षेत्र है। इस क्षेत्रप्रमाणके अनुसार ही उनकी (कल्पवासी देवों की) अवधिके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण उक्त कमानुसार निकलता है।

सौहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ ।

उवरिमकप्पचउके पल्लासंखेज्जभागो दु ॥ ४३४ ॥

तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं ।

किंचूणपल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गम् ॥ ४३५ ॥

सौधर्मैशानानामसंख्येया हि वर्षकोट्यः ।

उपरिमकल्पन्तुष्टके पल्यासंख्यातभागस्तु ॥ ४३६ ॥

ततो लान्तवकल्पप्रभृति सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् ।

किञ्चिद्दूनपल्यमात्रं कालपमाणं यथायोग्यम् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी अवधिका काल असंख्यात कोटि वर्ष है। इसके ऊपर सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मोत्तर कल्पवाले देवोंकी अवधिका काल यथायोग्य पल्यका असंख्यातमा भाग है। इसके ऊपर लान्तव स्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त वाले देवोंकी अवधिका काल कुछ कम पल्यप्रमाण है।

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति वणपद्रा ।

कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि ॥ ४३६ ॥

ज्योतिष्कान्तानामविदेत्राणि उक्तानि न भवन्ति वनप्रतराणि ।

कल्पसुराणां च पुनः विसद्वशामायतं भवति ॥ ४३६ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र बराबर वनरूप नहीं है। कल्पवासी देवोंकी अवधिका क्षेत्र आयतन्तुरत्व (चौकोर; किन्तु लम्बईमें अधिक और चौड़ाईमें थोड़ा) है। शेष मनुष्य तिर्यंच नारकी इनकी अवधिका विषयभूत क्षेत्र बराबर वनरूप है।

॥ इति अवधिज्ञानप्ररूपणा ॥

मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

चिंतियमचिंतियं वा अद्वंचिंतियमणेयमेयगयं ।

मणपञ्जवं ति उच्चह जं जाणह तं सु णरलोए ॥ ४३७ ॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्थं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।

मनःपर्यय इत्युच्यते यज्ञानाति तत्खलु नरलोके ॥ ४३७ ॥

अर्थ— जिसका भूत कालमें चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् कालमें चिन्तवन किया जायगा, अथवा वर्तमानमें जिसका आधा चिन्तवन किया है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं । यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है, बाहर नहीं ।

मनःपर्ययके भेदोंको गिनाते हैं ।

मणपञ्जवं च दुविहं उजुविउलमदिति उजुमदी तिविहा ।
उजुमणवयणे काए गदत्थविसयाति णियमेण ॥ ४३८ ॥

मनःपर्ययश्च द्विविधः क्रजुविपुलमतीति क्रजुमतिश्चिविधा ।

क्रजुमनोनन्नने काये गतार्थविषया इति नियमेन ॥ ४३८ ॥

अर्थ— सामान्यकी अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकारका है । और विशेष भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है । एक क्रजुमति दूसरा विपुलमति । क्रजुमतिके भी तीन भेद हैं । क्रजुमनोगतार्थविषयक, क्रजुवचनगतार्थविषयक, क्रजुकायगतार्थविषयक । परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन कायके द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानको क्रजुमति कहते हैं । अतएव सरल मन वचन कायके द्वारा किये हुए पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा क्रजुमतिके पूर्वोक्त तीन भेद हैं ।

विउलमदीवि य छद्वा उजुगणुजुवयणकायचित्तगयं ।

अत्थं जाणदि जम्हा सहत्थगया हु ताणत्था ॥ ४३९ ॥

विपुलमतिरपि च पोदा क्रजुगानृनुवचनकायचित्तगतम् ।

अर्थं जानाति यस्मात् शब्दार्थगता हि तेषामर्थाः ॥ ४३९ ॥

अर्थ— विपुलमतिके छह भेद हैं । क्रजु मन वचन कायगत पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन वचन कायके द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद । क्रजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययके विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकारके होते हैं ।

तियकालविसयरूपिं चित्तितं वृद्धमाणजीविण ।

उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥ ४४० ॥

त्रिकालविषयरूपि चित्तितं वर्तमानर्जीवेन ।

क्रजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यत्वं विपुलमतिः ॥ ४४० ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य त्रिकालविषयक है । उसमें वर्तमान जीवके द्वारा चिन्त्यमान (वर्त्मानमें जिसका चिन्तवन किया जा रहा है) पदार्थको ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है । और विपुलमतिज्ञान भूत भविष्यत्को भी जानता है । **मावार्थ—**निगका यूतकालमें चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्यत्में चिन्तवन किया जायगा यद्वा वर्तमानमें जिसका चिन्तवन होरहा है, ऐसे तीनों ही प्रकारके पदार्थको विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है ।

सब्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही ।
मणपञ्जजवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४१ ॥

सर्वाङ्गाङ्गसम्भवचिण्हादुप्पद्यते यथावधिः ।

मनःपर्ययं च द्रव्यमनस्त उत्पद्यते नियमात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अवधिज्ञान शंखादि शुभ चिह्नोंसे युक्त समस्त अङ्गसे उत्पन्न होता है । उस तरह मनःपर्यय ज्ञान जहांपर द्रव्यमन होता है उनहीं प्रदेशोंसे उत्पन्न होता है । **मावार्थ—**जहांपर द्रव्य मन होता है उस स्थानपर जो आत्माके प्रदेश हैं वहीं मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता और वहींमें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु अवधि सर्वाङ्गसे होती है; क्योंकि यद्यपि अवधि शंखादि चिह्नों के स्थानसे ही होती है तथापि इन चिह्नों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है । यह उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा अवधि और मनःपर्यय ज्ञानमें अंतर है ।

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअटुच्छदारविंदं वा ।
अङ्गोबंगुदयादो मणवगणाखंधदो णियमा ॥ ४४२ ॥

हुदि भवति हि द्रव्यमनः विकसिताएत्तदारविंदवत् ।

आङ्गोपाङ्गोदयात् मनोवर्गणाम्कन्धतो नियमात् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धोंके द्वारा हृदयस्थानमें नियमसे विकसित आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है ।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा ।
वत्तचाभावादो मणमणपञ्जं च तत्थ हवे ॥ ४४३ ॥

नोइन्दियमिति संज्ञा तस्य भवेत् शेषेन्द्रियाणां वा ।

व्यक्तत्वाभावात् मनो मनःपर्ययश्च तत्र भवेत् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—इस द्रव्यमनकी नोइन्दिय संज्ञा भी हैं; क्योंकि दूसरी इन्द्रियोंकी तरह यह व्यक्त नहीं है । इस द्रव्यमन के होनेपर ही भावमन तथा मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ।

मनःपर्यय ज्ञान का स्वामी बताते हैं ।

मणपञ्जजवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तद्वृणि ।

एगादिजुदेसु हवे वद्वंतविसिंहुचरणेसु ॥ ४४४ ॥

मनःपर्ययश्च ज्ञानं सप्तसु विरतेषु सपर्वीनाम् ।

एकादियुतेषु भवेत् वर्धमानविशिष्टाचरणेषु ॥ ४४४ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें से किसी एक गुणस्थानवालेके, इस पर भी सात ऋद्धियोंमें से किसी एक ऋद्धिको धारण करनेवालेके, ऋद्धिप्राप्तमें भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्रिको धारणकरनेवालोंके ही यह मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ।

इंदियणोऽंदियजोगादिं पेक्षितु उजुमदी होदि ।

गिरवेकिलय विउलमदी ओहिं वा होदि गियमेण ॥ ४४५ ॥

इन्द्रियनोऽन्द्रिययोगादिमपेक्ष्य ऋजुमतिर्भवति ।

निरपेक्ष्य विपुलमतिः अवधिर्वा भवति नियमेन ॥ ४४५ ॥

अर्थ—अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग काययोग वचन-योगकी अपेक्षासे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है । अर्थात् वर्तमानमें विचार-प्राप्त स्पर्शनादिके विषयोंको ऋजुमति जानता है । किन्तु विपुलमति अवधिकी तरह इनकी अपेक्षाके विना ही नियमसे होता है ।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु ।

सुन्द्रो पढमो बोहो सुन्द्रतरो विदियबोहो हु ॥ ४४६ ॥

प्रतिपाती पुनः प्रथमः अप्रतिपाती हि भवति द्वितीयो हि ।

शुद्धः प्रथमो बोधः शुद्धतरो द्वितीयबोधस्तु ॥ ४४६ ॥

अर्थ—ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमतिवाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियोंपर नढ़ता है । उसमें यद्यपि क्षपककी अपेक्षा ऋजुमतिवालेका पतन नहीं होता; तथापि उपशम श्रेणीकी अपेक्षा पतन सम्भव है । विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है । तथा ऋजुमति शुद्ध है, और विपुलमति इससे भी शुद्ध होता है ।

परमणसिंहियमद्वं ईहामदिणा उजुद्वियं लहिय ।

पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे गियमा ॥ ४४७ ॥

परमनसिस्थितमर्थमीहामत्या ऋजुस्थितं लक्ष्मा ।

पश्चात् प्रत्यक्षेण च ऋजुमतिना जानीते नियमात् ॥ ४४७ ॥

अर्थ—ऋजुमतिवाला दूसरेके मनमें सरलताके साथ स्थित पदार्थको पहले ईहामति-ज्ञानके द्वारा जानता है, पर्छे प्रत्यक्ष स्वरूपसे नियमसे ऋजुमति ज्ञानके द्वारा जानता है ।

चिंतियमचिंतियं वा अद्दं चिंतियमणेयभेयगयं ।

ओहिं वा विउलमदी लहिऊ विजाणए पच्छा ॥ ४४८ ॥

निनितमनिनितं वा अद्दं निनितमनेकभेदगतम् ।

अवधिर्वा विपुलमतिः लब्ध्वा विजानाति पश्चात् ॥ ४४८ ॥

अर्थ—निनित अविनित अर्धनिनित इस तरह अनेक भेदोंको प्राप्त दूसरेके मनोगत पदार्थको अवधिकी तरह विपुलमति प्रत्यक्षरूपमें जानता है ।

दब्वं स्तेत्तं कालं भावं पण्डि जीवलक्षित्यं रूबिं ।

उजुविउलमदी जाणादि अवरवरं मज्जिमं च तहा ॥ ४४९ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति जीवलक्षितं रूपि ।

ऋगुविपुलमती जानीतः अवरवरं मध्यमं च तथा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुद्गल) द्रव्यको तथा उसके सम्बन्धसे जीवद्रव्यको भी ऋगुमति और विपुलमति जग्नन्य मध्यम उत्कृष्ट तीन तीन प्रकारसे जानते हैं ।

ऋगुमतिका जग्नन्य और उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण बताते हैं ।

अवरं दब्वमुदालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु ।

चक्रिंखदियणिज्जनणं उक्कसं उजुमदिस्स हवे ॥ ४५० ॥

अवरं द्रव्यमौरालिकशरीरनिर्जिण्णसमयप्रबद्धं तु ।

चक्षुरिन्द्रियनिर्जिण्णमुक्तुज्ञमतेर्भवेत् ॥ ४५० ॥

अर्थ—आदौरिक शरीरके निर्जिण्ण समयप्रबद्धप्रमाण ऋगुमतिके जग्नन्य द्रव्यका प्रमाण है । तथा चक्षुरिन्द्रियकी निर्जरा—द्रव्य—प्रमाण उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है ।

विपुलमतिके द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

मणदब्ववगणाणमणिंतिमथागेण उजुगउक्कसं ।

खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दब्वं ॥ ४५१ ॥

मनोद्रव्यवर्गानामनन्तिमभागेन ऋगुगोत्कृष्टम् ।

खण्डितमात्रं भवति हि विपुलमतेरवरं द्रव्यम् ॥ ४५१ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गाणाके जितने विकल्प हैं, उसमें अनन्तका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण ध्रुवहारका, ऋगुमतिके विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसने द्रव्यस्त्रयको विपुलमति जग्नन्यकी अपेक्षासे जानता है ।

अटुण्हं कम्माणं समयपवद्धं विविस्सोबचयम् ।

ध्रुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दब्वं ॥ ४५२ ॥

अष्टानां कर्मणां समयप्रबद्धं विविष्णोपचयम् ।

ध्रुवहारेणैकवारं भजिते द्वितीयं भवेत् द्रव्यम् ॥ ४९२ ॥

अर्थ— विविष्णोपचयसे रहित आठ कर्मोंके समयप्रबद्धका जो प्रमाण है उसमें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है ।

तद्विदियं कर्पणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।

ध्रुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सं दव्वं ॥ ४५३ ॥

तद्वितीयं कल्पानामसंख्येयानां च समयसंख्यासमद्व ।

ध्रुवहारेणावहृते भवति हि उत्कृष्टकं द्रव्यम् ॥ ४९३ ॥

अर्थ— असंख्यात कल्पों के जितने समय हैं उतनी वार विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे विपुलमतिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।

विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं सु णरलोयं ॥ ४५४ ॥

गन्धूतिपथक्तवमवरमुत्कृष्टं भवति योजनपृथक्तव्यम् ।

विपुलमर्त्तश्च अवरं तस्य पृथक्तवं वरं सुलु णरलोकः ॥ ४९४ ॥

अर्थ— ऋजुमतिका जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस और उत्कृष्ट सात आठ योजन है । विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट मनुष्यलोकप्रमाण है ।

णरलोएति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वड्स्स ।

जम्हा तग्धणपदरं मणपञ्जवखेत्तमुद्दिदुङ् ॥ ४५५ ॥

नरलोक इति न वचनं विष्कम्भनियामकं न वृत्तस्य ।

यस्मात् तद्धनपतरं मनःपर्यग्नेत्रमुद्दिष्य ॥ ४९९ ॥

अर्थ— मनःपर्यग्नेके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण जो नरलोकप्रमाण कहा है सो नरलोक इस शब्दसे मनुष्यलोकका विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिये नकि वृत्त; क्योंकि दूसरेके द्वारा निति और मानुषोत्तर पर्वतके बाहर स्थित पदार्थको भी विपुलमति जानता है; क्योंकि मनःपर्यग्नेज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र समन्तराल व्यनप्रतररूप पैतालीस लाख योजनप्रमाण है ।

दुग्तिगभवा हु अवरं सत्तड्मवा हवंति उक्कस्सं ।

अड्णवभवा हु अवरमसंखेजं विउलउक्कस्सं ॥ ४५६ ॥

द्विक्त्रिकभवा हि अवरं सप्ताष्टमवा भवन्ति उत्कृष्टम् ।

अष्टवन्मवा हि अवरमसंख्येयं विपुलोत्कृष्टम् ॥ ४९६ ॥

अर्थ— कालकी अपेक्षासे ऋजुमतिका विषयभूत जघन्य काल दो तीन भव और उत्कृष्ट सात आठ भव, तथा विपुलमतिका जघन्य आठ नौ भव और उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है ।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं ।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५७ ॥

आवल्यसंख्यभागमवरं न वरं च वरमसंख्यगुणम् ।

ततःअसंख्यगुणितमसंख्यलोकं तु विषुलमतिः ॥ ४५७ ॥

अर्थ— भावकी अपेक्षासे ऋजुमतिका जनन्य तथा उत्कृष्ट विषय आवलीके असंख्यात्मे भागप्रमाण है; तथापि जनन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यात्मगुणा है। विषुलमतिका जनन्यप्रमाण ऋजुमतिके उत्कृष्ट विषयसे असंख्यात्मगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात्मलोकप्रमाण है।

मज्जिमद्वचं खेतं कालं भावं च मज्जिमं णाणं ।

जाणादि इदि मणपञ्चवणाणं कहिं द्वचं समासेण ॥ ४५८ ॥

मध्यमद्वचं क्षेत्रं कालं भावं च मध्यमं ज्ञानम् ।

जानातीति मनःपर्यज्ञानं कथितं समासेन ॥ ४५८ ॥

अर्थ— इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावका जनन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताया इनके मध्यके जितने भेद हैं उनको मनःपर्यय-ज्ञानके मध्यम भेद विषय करते हैं। इस तरह संक्षेपसे मनःपर्यय ज्ञानका निरूपण किया।

केवलज्ञानका निरूपण करते हैं ।

संपुण्णं तु समग्रं केवलमसवत्त सद्वभावगयं ।

लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेद्वचं ॥ ४५९ ॥

सम्पूर्णं तु समग्रं केवलमसप्तनं सर्वभावात्म ।

लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मन्तव्यम् ॥ ४५९ ॥

अर्थ— यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत, और लोकालोकमें अध्यकार रहित होता है। **भावार्थ—** यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है और लोकालोकके विषयमें आवरण रहित है। तथा जीवद्रव्यकी ज्ञान शक्तिके जितने अंश हैं वे यहांपर सम्पूर्ण व्यक्त होगये हैं इसलिये उसको (केवल ज्ञानको) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और अन्तरायका सर्वया क्षय होजानेके कारण वह अप्रतिहतशक्ति युक्त है, अत एव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियोंकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। समस्त पदार्थोंके विषयकरनेमें उसका कोई बाधक नहीं है इसलिये उसको असप्तन (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

ज्ञानमार्गामें जीवसंख्याका निरूपण करते हैं ।

चदुगदिमदिसुद्वोहा पल्लासंखेज्या हु मणपञ्चा ।

संखेज्ञा केवलिणो सिन्धादो होति अतिरिता ॥ ४६० ॥

चतुर्गतिमतिश्रुतबोधाः पल्यासंख्येया हि मनःपर्ययाः ।

संख्येयाः केवलिनः सिद्धात् भवन्ति अतिरिक्ताः ॥ ४५० ॥

अर्थ— चारों गतिसम्बन्धी मतिज्ञानियोंका अथवा श्रुतज्ञानियोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है । और मनःपर्ययवाले कुछ संख्यात हैं । तथा केवलियोंका प्रमाण मिद्धराशिसे कुछ अधिक है । भावार्थ—सिद्धराशिमें जिनकी (अर्हन्तोंकी) संख्या मिलानेसे केवलियोंका प्रमाण होता है ।

ओहिरहिदा तिरिक्खा मदिणाणिअसंख्यभागगा मणुगा ।

संख्याज्ञा हु तदूणा मदिणाणी ओहिपरिमाणं ॥ ४५१ ॥

अवधिरहिताः तिर्यच्चः मतिज्ञाःयसंख्यभागका मनुजाः ।

संख्येया हि तदूना मतिज्ञानिनः परिमाणम् ॥ ४५१ ॥

अर्थ— अवधिज्ञानरहित तिर्यच्च—मतिज्ञानियोंकी संख्याका असंख्यातमा भाग, और अवधिज्ञानरहित मनुष्यों की संख्यात राशि इन दो राशियोंको मतिज्ञानियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अवधि ज्ञानका प्रमाण है ।

पल्लासंख्यधर्णगुलहदसेद्वितिरिक्खगदिविभङ्गजुदा ।

णरसहिदा किंचूणा चदुगदिवेभङ्गपरिमाणम् ॥ ४५२ ॥

पल्यासंख्यनाङ्कुलहत्थेणिर्तिर्यगतिविभंगयुताः ।

नरसहिताकिञ्चिदूनाः चतुर्गतिवैभङ्गपरिमाणम् ॥ ४५२ ॥

अर्थ— पल्यके असंख्यातमे भागसे गुणित घनाङ्कुलका और जगच्छ्रेणीका गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने तिर्यच्च, और संख्यात मनुष्य, घनाङ्कुलके द्वितीय कर्ममूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी, तथा सम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणसे रहित सामान्य देवराशि, इन चारों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने विभङ्गज्ञानी हैं ।

सण्णाणरासिपञ्चयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु ।

मदिसुदअण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं ॥ ४५३ ॥

सद्व्यानराशिपञ्चकपरिहीनः सर्वजीवराशीर्हि ।

मतिश्रुतज्ञानिनां प्रत्येकं भवति परिमाणम् ॥ ४५३ ॥

अर्थ— पांच सम्यक्षज्ञानी जीवोंके प्रमाणको (केवलियोंके प्रमाणसे कुछ अधिक) सम्पूर्ण जीवराशिके प्रमाणमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतने कुमतिज्ञानी तथा उतने ही कुश्रुतज्ञानी जीव हैं ।

इति ज्ञानमार्गणाधिकारः ॥

१ परन्तु इसमेंसे सम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण घटाना ।

॥ अथ संयममर्गणाधिकारः ।

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिदियाणं पञ्चण्ह ।

धारणपालणणिग्रहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६४ ॥

त्रतसमितिकायाणां दण्डानां तयेन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।

धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः ॥ ४६४ ॥

अर्थ— अहिंसा अचौर्य सत्य शील (व्रद्धनर्य) अपरिग्रह इन पांच महावतोंका धारण करना, इर्या भाषा एषाणा आद्यानिक्षेण उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना, चारप्रकारकी कषायोंका निग्रह करना, मन वचन काय रूप दण्डका त्याग, तथा पांच इन्द्रियोंका जय, इसको संयम कहते हैं । अतएव संयमके पांच भेद हैं ।

संयमकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।

संजममावो णियमा होदिति जिणेहिं णिदिद्वं ॥ ४६५ ॥

बादरसंजलनोदये सूक्ष्मेदये शमक्षययोश्च मोहस्य ।

संयमभावो नियमात् भवतीति जिनैनिर्दिष्टम् ॥ ४६५ ॥

अर्थ— बादर संजलनके उदयसे अथवा सूक्ष्मलोभके उदयसे और मोहनीय कर्मके उपशमसे अथवा क्षयसे नियमसे संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

इसी अर्थको दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

बादरसंजलणुदये बादरसंजमतियं खु परिहारो ।

पमदिदरे सुहुमुदये सुहुमो संजमगुणो होदि ॥ ४६६ ॥

बादरसंजलनोदये बादरसंयमत्रिकं खलु परिहारः ।

प्रमत्तेतरस्मिन् सूक्ष्मेदये सूक्ष्मः संयमगुणो भवति ॥ ४६६ ॥

अर्थ— जो संयमके विरोधी नहीं हैं ऐसे बादर संजलन कषायके देशत्राति स्पर्धकोंके उदयसे सामायिक छेदोपस्थापना परिहारनिगुद्धि ये तीन चारिं होते हैं । इनमेंसे परिहारविगुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्तमें ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं । सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त संजलन लोभके उदयसे गूह्यसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है ।

जहखादसंजमो उण उवसमदो होदि मोहणीयस्स ।

खयदो वि य सो णियमा होदिति जिणेहिं णिदिद्वं ॥ ४६७ ॥

यथाख्यातसंयमः पुनः उपशमतो भवति मोहनीयस्य ।

क्षयतोऽपि च स नियमात् भवतीति जिनैनिर्दिष्टम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—यथास्यात संयम नियमसे मोहनीय कर्मके उपशम तथा क्षयसे भी होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

तदियकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं ।

विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण ॥ ४६८ ॥

तृतीयकषायोदयेन च विरताविरतो गुणो भवेत् युगपत् ।

द्वितीयकषायोदयेन च असंयमो भवति नियमेन ॥ ४६८ ॥

अर्थ—तीसरी प्रत्याह्यानावरण कषायके उदयसे विरताविरत=देशविरत=मिश्रविरत पांचमा गुणस्थान होता है । और दूसरी अप्रत्याह्यान कषायके उदयसे असंयम (संयमका अभाव) होता है ।

सामायिक संयमका निरूपण करते हैं ।

संगहिय सयलसंजममेयजममणुचरं दुरवगम्मं ।

जीवो समुद्वहन्तो सामाइयसंजमो होदि ॥ ४६९ ॥

संगृह सकलसंयममेकयममनुत्तरं दुरवगम्यम् ।

जीवः समुद्रहन् सामायिकसंयमो भवति ॥ ४६९ ॥

अर्थ—उक्त व्रतधारण आदिक पांच प्रकारके संयममें संग्रह नयकी अपेक्षासे अभेद करके “मैं सर्व सावद्यका त्यागी हूँ” इस तरह जो समर्पण सावद्यका त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं । यह संयम अनुपम तथा दुर्धर्ष है । इसके पालन करने वालेको सामायिकसंयम (मी) कहते हैं ।

छेदोपस्थापना संयमका निरूपण कहते हैं ।

छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेह अप्पाणं ।

पंचजमे धर्मे सो छेदोवडावगो जीवो ॥ ४७० ॥

ठिन्च्चा च पर्यायं पुराणं यः स्थापयति आत्मानम् ।

पंचयमे धर्मे सः छेदोपस्थापको जीवः ॥ ४७० ॥

अर्थ—प्रमादके निमित्तसे सामायिकादिसे च्युत होकर जो सावद्य क्रियाके करनेस्थल सावद्यपर्याय होती है, उसका प्रायश्चित्तविधिके अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्माको व्रतधारणादिक पांचप्रकारके संयमरूप धर्ममें स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं ।

परिहारविशुद्धिसंयमीका स्वरूप बताते हैं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावजं ।

पंचेक्षजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥ ४७१ ॥

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः परिहरति सदापि यो हि सावद्यम् ।

पञ्चक्यमः पुरुषः परिहारकसंयतः स हि ॥ ४७१ ॥

अर्थ—पांच पकारके भंयमियेमेसे जो जीव पांच समिति तीन गुप्तिको भारण कर सदा मावद्यका त्याग करता है उस पुरुषको परिहारविशुद्धिसंयमी कहते हैं ।

इसीका विशेष स्वरूप कहते हैं ।

तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले ।

एचक्खाणं पठिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥ ४७२ ॥

त्रिशद्रापीं जन्मनि वर्षपृथक्कलं खलु तीर्थकरमूले ।

प्रत्यास्त्यानं पठितः संध्योनदिग्गन्यूतिविशारः ॥ ४७२ ॥

अर्थ—जन्मसे तीस वर्षतक सुखी रहकर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थकरके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्यास्त्यान नामक नैमे पूर्वका अःयन करनेवाले जीवके यह संयम होता है । इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालोंको छोड़कर दो कोस पर्यन्त गमन करता है; किन्तु रात्रिको गमन नहीं करता । और वर्षाकालमें गमन करनेका नियम नहीं है ।

भावार्थ—जिस संयममें परिहारके साथ विशुद्धि हो उसको परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं । प्राणिपीडाके त्यागको परिहार कहते हैं । इस संयमवाला जीव जीवराशिमें विहार करता हुआ भी जलसे कमलकी तरह हिंसासे लिम नहीं होता ।

सूक्ष्मसाम्पराय संयमवालिका स्वरूप बताते हैं ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।

सो सुहुमसांपराओ जहस्वादेष्टुण्ठो किञ्चि ॥ ४७३ ॥

अणुलोभं विद्न् जीवः उपशामको वा क्षपको वा ।

स सूक्ष्मसाम्परायः यथास्त्येतनोनः किञ्चित् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—जिस उपशामश्रेणी अथवा क्षपक श्रेणिवाले जीवके सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभक पायका उदय होता है, उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं । इसके परिणाम यथास्त्यात चारित्रवाले जीवके परिणामोंसे कुछ ही कम होते हैं । क्योंकि यह संयम दशमे गुणस्थानमें होता है, और यथास्त्यात संयम ग्यारहमेंसे शुरू होता है ।

यथास्त्यात संयमका स्वरूप बताते हैं ।

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।

छदुमट्ठो व जिणो वा जहस्वादो संजदो सो दु ॥ ४७४ ॥

उपशान्ते क्षीणे वा अशुभे कर्मणि मोहनीये ।

व्याघ्रस्थो वा जिनो वा यथास्त्वातः संयतः स तु ॥ ४७४ ॥

अर्थ— अशुभमरूप मोहनीय कर्मके सर्वथा उपशम होजानेसे ग्यारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, और सर्वथा क्षीण होजानेसे बारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, तथा तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवर्ती यथास्त्वात संयम होता है । भावार्थ—यथावस्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिको यथास्त्वात संयम कहते हैं । यह संयम ग्यारहमेसे लेकर चौदहमे तक चार गुणस्थानोंमें होता है । ग्यारहमेमें चारिंच-मोहनीय कर्मके उपशमसे और ऊपरके तीन गुणस्थानोंमें क्षयसे यह संयम होता है ।

दो गाथाओंद्वारा देशविरतका निरूपण करते हैं ।

पंचतिहचहुविहेहिं य अणुगुणसिक्खावयेहिं संजुत्ता ।

उच्चंति देशविरया सम्माइट्टी झालियकम्मा ॥ ४७५ ॥

पञ्चत्रिनुर्विषैश्च अणुगुणशिक्षाव्रतैः संयुक्ताः ।

उच्चन्ते देशविरता: सम्यग्दृष्टयः झरितकर्माणः ॥ ४७६ ॥

अर्थ— जो सम्पदटी जीव पांच अणुवत तीन गुणवत चार शिक्षाव्रतसे युक्त हैं उनको देशविरत अथवा संयमासंयमी कहते हैं । इस देश संयमके द्वारा जीवोंके असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

देशसंयमीके ग्यारह भेदोंको गिनाते हैं ।

दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तरायभत्ते य ।

बम्हारंभपरिगगह अणुमणमुच्छिद्दुदेशविरदेदे ॥ ४७६ ॥

दर्शनव्रतसामायिकाः प्रोपथसचित्तरात्रिभक्ताश्च ।

ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टदेशविरता एते ॥ ४७६ ॥

अर्थ— दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोपथोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पांचमे गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं ।

असंयतका स्वरूप बताते हैं ।

जीवा चोद्वसभेया ईंदियविसया तहुड्वीसं तु ।

जे तेषु णेव विरया असंजदा ते मुणेदव्वा ॥ ४७७ ॥

जीवाश्रुतुर्शभेदा इन्द्रियविषयाः तथाषाविशतिस्तु ।

ये तेषु नैव विरता असंयताः ते मन्तव्याः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—चौदह प्रकारके जीवसमाप्त और अट्टाईस प्रकारके इन्हेंके विषय इनसे जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं ।

अट्टाईस इन्द्रियविषयोंके नाम गिनाते हैं ।

पंचरसपंचवण्णा दो गंधा अटुकाससत्तसरा ।

मणसहिद्वावीसा इंद्रियविसया मुणेदव्वा ॥ ४७६ ॥

पञ्चरसपञ्चवण्णाः द्वौ गन्त्वौ अष्टस्पर्शसप्तस्तराः ।

मनःसहिताः अधारिंशतिः इन्द्रियविषयाः मन्तव्याः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—पांच रस (मीठा खट्टा कथायला कडुआ चरपरा) पांच वर्ण (सफेद फीला हरा लाल काला) दो गंध (सुआंध दुआंध) आठ स्पर्श (कोमल कडोर हल्का भारी शीत उष्ण रुता चिकना) आठ स्वर (पड़ज क्रपभ गांधार मध्यम पंचम धैवत निषाद) और एक मन इस तरह ये इन्द्रियोंके अट्टाईस विषय हैं ।

संयममार्गणां जीवसंस्थ्या बताते हैं ।

पमदादिचउण्हजुदी सामायियदुग्रं कमेण सेसतियं ।

सत्तसहस्रा णवसय णवलक्ष्मा तीहिं परिहीणा ॥ ४७९ ॥

प्रमत्तादितुर्णा युतिः सामायिकद्विकं क्रमेण शेषत्रिकम् ।

सप्त सहस्राणि नव शतानि नव लक्षणि त्रिभिः परिहीनानि ॥ ४७९ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जिवोंका जितना प्रमाण है उतने सामायिकसंयमी होते हैं । और उतने ही देशपस्थापनासंयमी होते हैं । परिहारविशुद्धि संयमवाले तीन कम सात हजार (१९९७), सूक्ष्मसांपराय संयमवाले तीन कम नौ सौ (८९७), यथास्थ्यात संयमवाले तीन कम नौ लाख (१९९९७) होते हैं ।

पलासखेज्जदिमं विरदाविरदाण द्व्वपरिमाणं ।

पुब्वुत्तरासिहीणा संसारी अविरदाण पमा ॥ ४८० ॥

पल्यासंस्थेयं विरताविरतानां द्रव्यपरिमाणम् ।

पूर्वोक्तराशिहीना संसारिणः अविरतानां प्रमा ॥ ४८० ॥

अर्थ—पल्यके असंस्थ्यातमे भाग देशसंयमी जीवद्रव्यका प्रमाण है । उक्त संयमियोंकी राशियोंको संसारी जीवराशिमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना असंयमियोंका प्रमाण है ।

॥ इति संयममार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त दर्शनमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

१ आठ करोड़ नब्बे लाख निन्यानवे हजार एकसी तीन (१९९९९१०३)

जं सामण्णं गहणं भावाणं पोव कटुमायारं ।
अविसेसदूरं अद्वे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावाणं नैव कृत्वाकारम् ।

अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्णते समये ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सामान्यविशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्परूपसे ग्रहण होता है उसको परमागममें दर्शन कहते हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूपमेत्तं जं ।

वण्णणहीणगगहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ ४८२ ॥

भावाणं सामान्यविशेषकाणां स्वरूपमात्रं यत् ।

वर्णनहीनग्रहणं जीवेन च दर्शनं भवति ॥ ४८२ ॥

अर्थ—निर्विकल्परूपसे जीवके द्वारा जो सामान्यविशेषात्मक पदार्थोंकी स्वपरसत्ताका अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । भावार्थ—पदार्थोंमें सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किन्तु केवल सामान्य धर्मकी अपेक्षासे जो स्वपरसत्ताका अभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । इसका शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । इसके चारभेद हैं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन ।

प्रथम चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शनका स्वरूप कहते हैं:—

चक्षुखूणं जं पयासइ दिस्सइ तं चक्षुदंसणं बोति ।

सेसिंदियप्यप्यासो णायव्वो सो अचक्षुत्ति ॥ ४८३ ॥

चक्षुओः यत् प्रकाशते पश्यति तत् चक्षुदर्शनं ब्रुवन्ति ।

शेषेन्द्रियप्रकाशो ज्ञातव्यः स अचक्षुरिति ॥ ४८३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रियका विषय है उसका देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, यद्वा उसके देखनेवालेको चक्षुदर्शन कहते हैं । और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके अथवा मनके द्वारा जो अपने २ विषयभूत पदार्थका सामान्य ग्रहण होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं ।

अवधिदर्शनका स्वरूप बताते हैं ।

परमाणुआदियाइं अंतिभस्तंधति मुत्तिद्वाइं ।

तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पञ्चक्षं ॥ ४८४ ॥

परमाण्वादीनि अन्तिमस्तन्यमिति मूर्तद्रव्याणि ।

तदवधिदर्शनं पुनः यत् पश्यति तानि प्रत्यक्षम् ॥ ४८४ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान हेनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणुमें लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यको जो सामान्यरूपमें देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं । इस अवधिदर्शनके अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है ।

केवलदर्शनको कहते हैं ।

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियमिमि खेतमिमि ।
लोगालांगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४८५ ॥

बहुविधबहुप्रकारा उयोताः परिमिते क्षेत्रे ।

लोकालोकवितिमिरो यः केवलदर्शनोयोतः ॥ ४८६ ॥

अर्थ—तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्में परिमित क्षेत्रमें रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे प्रकाशको केवलदर्शन कहते हैं । **भावार्थ**—समस्त पदार्थोंका जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवल दर्शन कहते हैं ।

दर्शनमार्गाणमें दो गाथाओंद्वारा 'जीवसंस्था बताते हैं ।

जोगे चउरक्खाणं पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं ।
चक्षुषुणमोहिकेवलपरिमाणं ताण णाणं च ॥ ४८६ ॥

योगे चतुरक्षाणां पञ्चाक्षाणां च क्षीणचरमाणम् ।

चक्षुषामवधिकेवलपरिमाणं तेषां ज्ञानं च ॥ ४८६ ॥

अर्थ—क्षीणकायाय गुणस्थानपर्यन्त जितने पञ्चेन्द्रिय हैं उनका तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की संस्थाका परस्पर जोड़ देनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने चक्षुदर्शनी जीव हैं । और अवधिज्ञानी तथा केवलज्ञानी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अवधिदर्शनी तथा केवल दर्शनवालोंका प्रमाण है । **भावार्थ**—चक्षुदर्शन दो प्रकारका होता है, एक शक्तिरूप दूसरा व्यक्तिरूप । चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके शक्तिरूप चक्षुदर्शन होता है, और पर्याप्त जीवोंके व्यक्तिरूप चक्षुदर्शन होता है । इनमेंसे प्रथम शक्तिरूप चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं । आवलीके असंस्थातमे भागका प्रतराङ्गुलमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका भी जगत्पत्ररमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतनी राशिप्रमाण त्रसराशि है । उसमेंसे त्रैराशिक द्वारा लब्ध चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियोंके प्रमाणमेंसे कुछ कम करना; क्योंकि द्रीन्द्रियादि जीवोंका प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ २ कम २ होता गया है । तथा लब्ध राशिमेंसे पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटाना । शेष शक्तिरूप चक्षुदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण है । इस ही तरह पर्याप्त त्रस राशिमें चारका भाग देकर दोसे गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसमेंसे कुछ कम व्यक्तिरूप

चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण है । अवधिज्ञानियोंकी बराबर अवधिदर्शनवाले और केवल ज्ञानियोंकी बराबर केवल दर्शनवाले जीव हैं ।

अचक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण चताते हैं ।

एइंदियपहुँदीणं क्षीणकसायंतंतरासीणं ।

जोगो अचक्षुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं ॥ ४८७ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतीनां क्षीणकपायार्तानन्तराशनाम् ।

योगः अचक्षुदर्शनजीवानां भवति परिमाणम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर क्षीणकपायपर्यन्त अनन्तराशिके जोड़को अचक्षुदर्शन वाले जीवोंका प्रमाण समझना चाहिये ।

॥ इति दर्शनमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त लेश्यमार्गणाका वर्णन करनेके पहले लेश्याका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

लिंपह अपरीकीरह एदीए णियअपुण्पुण्णं च ।

जीवाचि होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्षादा ॥ ४८८ ॥

लिंपत्यात्मीकरोति एतया निजापुष्पुष्यं च ।

जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणजायकाख्याता ॥ ४८८ ॥

अर्थ—लेश्याके गुणको—स्वरूपको जाननेवाले गणधरादि देवोंने लेश्याका स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिस करै=पुण्य और पापके अधीन करै उसको लेश्या कहते हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ ।

तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिङ्कं ॥ ४८९ ॥

योगप्रवृत्तिलेश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।

ततः द्रयोः कार्यं बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—कणागेदयसे अनुरक्त योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । इस ही लिये दोनोंका बन्धचतुष्करूप कार्य परमागममें कहा है । भावार्थ—कषाय और योग इन दोनोंके जोड़को लेश्या कहते हैं । इस ही लिये लेश्याका कार्य बन्ध चतुष्क है, क्योंकि बन्धचतुष्कमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध योगके द्वारा होता है । और स्थिति अनुभाग बन्ध कषायके द्वारा होता है । जहां पर कषायोदय नहीं होता वहांपर केवल योगको उपचारसे लेश्या कहते हैं । अतएव वहां पर उपचारित लेश्याका कार्य भी केवल प्रकृति प्रदेश बन्ध ही होता है, स्थिति अनुभागबन्ध नहीं होता ।

दो गाथाओंद्वारा लेश्यामार्गणिके अधिकारोंका नामनिर्देश करते हैं ।

णिद्वेसवणपरिणामसंकमो कमलक्खणगदी य ।

सामी साहणसंखा खेत्रं फासं तदो कालो ॥ ४९० ॥

अंतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवांतिचि ।

लेस्साण साहणदुं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ॥ ४९१ ॥

निर्देशवर्णपरिणामसंकमाः कर्मलक्षणगतयश्च ।

स्तामी साधनसंस्तु खेत्रं स्पर्शमत्तः कालः ॥ ४९० ॥

अन्तरभावाल्पवहुत्वमधिकाराः पोडशा भवन्तीति ।

लेश्यानां माधनार्थं गथाकमं तर्वक्ष्यामि ॥ ४९१ ॥

अर्थ— निर्देश, वर्ण, परिणाम, संकम, कर्म, लक्षण, गति, भामी, साधन, संस्था, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पवहुत्व ये लेश्याओंकी सिद्धिके लिये सोलह अधिकार परमागममें कहे हैं । इनके ही द्वारा कमसे लेश्याओंका निरूपण करेगे ।

प्रथम निर्देशकेद्वारा लेश्याका निरूपण करते हैं ।

किंहा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुकलेस्सा य ।

लेस्साण णिद्वेसा छच्चेव हवांति णियमेण ॥ ४९२ ॥

कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च ।

लेश्यानां निर्देशाः पद् चैव भवन्ति नियमेन ॥ ४९२ ॥

अर्थ— लेश्याओंके नियमसे ये छह निर्देश हैं । कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या । भावार्थ—इस गाथामें कहे हुए एव शब्दके द्वारा ही नियम अर्थ सिद्ध होनामें पुनः नियम शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है । अतः वह व्यर्थ उहरकर ज्ञापन करता है कि लेश्याके यथापि सामान्यकी अपेक्षा छह भेद हैं; तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लेश्याओंके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ।

वर्णकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं ।

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।

सा सोढा किणहादी अणोयभेया सभेयेण ॥ ४९३ ॥

वर्णोदयेन जनितः शरीरवणस्तु द्रव्यतो लेश्या ।

सा षोडा कृष्णादिः अनेकभेदा स्वभेदेन ॥ ४९३ ॥

अर्थ— वर्ण नामकर्मके उद्यमें जो शरीरका वर्ण होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते

है। इसके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्र ये छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं।

छृष्पयणीलकवोदसुहेमंवुजसंखसणिणहा वर्णे ।

संखेज्ञासंखेज्ञाणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥ ४९४ ॥

पट्पदनीलकपोतसुहेमाम्बुजशङ्खसन्निभाः वर्णे ।

संखेयामंखेयानन्तविकल्पाश्च प्रत्येकम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—वर्णकी अपेक्षामें भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणिके (नीलमके) समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोतलेश्या, मुवर्णके समान पीतलेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्रलेश्या होती है। इनमेंसे प्रत्येकके इन्द्रियोंसे प्रकट होनेकी अपेक्षा संख्यात भेद हैं, तथा स्फूर्त्यकी अपेक्षा असंख्यात और परमाणुभेदकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

किस गतिमें कोनसी लेश्या होती है यह बताते हैं।

गिरया किण्हा कप्पा भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये ।

उत्तरदेहे छक्क भोगे रविचंद्रहरिदंगा ॥ ४९५ ॥

निरयाः कृष्णाः कल्पाः भावानुगता हि त्रिसुरनरतिरश्च ।

उत्तरदेहे पट्टके भोगे रविचन्द्रहरिताङ्गाः ॥ ४९५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण हैं। कल्पवासी देवोंकी द्रव्यलेश्या (शरीरका वर्ण) भावलेश्याके सदृश होता है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिर्पी मनुष्य तिर्यक्ष इनकी द्रव्यलेश्या छहों होती हैं। तथा विक्रियाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले शरीरका वर्ण भी छह प्रकारमेंसे किसी एक प्रकारका होता है। उत्तम भोगभूमिवालोंका सूर्यसमान, मध्यम भोगभूमिवालोंका चन्द्रसमान, तथा जवन्य भोगभूमिवालोंका हरितवर्ण शरीर होता है।

बादरआऊतेऊ सुकातेऊय वाउकायाणं ।

गोमुत्तमुगवण्णा कमसो अव्वत्तवण्णो य ॥ ४९६ ॥

बादरासैनसौ शुक्लेजसौ वायुकायानाम् ।

गोमूत्रमुद्रवर्णो कमशः अव्यक्तवर्णश्च ॥ ४९६ ॥

अर्थ—कमसे बादर जलकायिकी द्रव्यलेश्या शुक्र और बादर तेजस्कायिकी पीत होती है। वायुकायके तीन भेद हैं, वरोदधिवात, व्रनवात, तनुवात। इनमेंसे प्रथमका शरीर गोमूत्रवर्ण, दूसरेका शरीर मूंगसमान, और तीसरेके शरीरका वर्ण अव्यक्त है।

सव्वेसिं सुहुमाणं कावोदा सव्व विग्गहे सुका ।

सव्वो मिस्सो देहो कवोदवण्णो हवे णियमा ॥ ४९७ ॥

सर्वेषां सक्षमानां कापोताः सर्वे विग्रहे शुक्लाः ।

सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेत्त्रियमात् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवोंकी देह कपोतवर्ण है । विग्रहगतिमें सम्पूर्ण जीवोंका शरीर शुक्लवर्ण होता है । तथा अपनी २ पर्यासिके प्रारम्भ समयसे शरीरपर्यासिपर्यन्त समस्त जीवोंका शरीर नियमसे कपोतवर्ण होता है ।

इस तरह वर्णाधिकारके अनन्तर पांच गाथाओंमें परिणामाधिकारको कहते हैं ।

लोगाणमसंखेजः । उद्यद्वाणा कसायगा होति ।

तथ किलिद्वा असुहा सुहा विशुद्धा तदालापा ॥ ४९८ ॥

लोकानामसंस्थेयान्युद्यस्यानानि कथायगाणि भवन्ति ।

तत्र क्लिष्टान्यशुभानि शुभानि विशुद्धानि तदालापात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—कथायोंके उद्यस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं । इसमेंसे अशुभ लेश्याओंके संक्षेशरूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं; तथापि विशेषताकी अपेक्षा असंख्यातलोक प्रमाणमें असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभाग प्रमाण संक्षेशरूप स्थान हैं । और एक भागप्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्ध स्थान हैं । परन्तु सामान्यसे ये भी असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं ।

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।

मंदतरा मंदतमा छट्टाणगया हु पत्तेय ॥ ४९९ ॥

तीव्रतमास्तीव्रतरास्तीत्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।

मन्दतरा मन्दतमा पट्टाणगता हि प्रत्येकम् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—अशुभ लेश्यासम्बन्धी तीव्रतम तीव्रत तीव्र ये तीन स्थान, और शुभलेश्या-सम्बन्धी मन्द मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं; क्योंकि कृष्ण लेश्यादि छह लेश्याओंके शुभ स्थानोंमें जग्न्यसे उत्कृष्टपर्यन्त और अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जग्न्यपर्यन्त प्रत्येकमें पट्टाणनपतित हानिवृद्धि होती है ।

असुहाणं वरमज्जिमअवरंसे किण्ठणीलकाउतिए ।

परिणमादि कर्मेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ॥ ५०० ॥

अशुभानं वरमव्यावरंशे कृष्णनीलकापोतत्रिकानाम् ।

परिणमति क्रमेणात्मा परिहनिः क्लेशस्य ॥ ५०० ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंके उत्कृष्ट मध्यम जग्न्य अंश-रूपमें यह आत्मा क्रमसे संक्षेशकी हानि होनेसे परिणमन करता है । **भावार्थ—**इस आत्माकी जिस २ तरह संक्षेशपरिणति कम होती जाती है उसी २ तरह यह आत्मा

अशुभ लेश्याओंमेंसे उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याको छोड़कर नील लेश्यारूपमें और नीलको छोड़कर काषेतरूपमें परिणमन करता है ।

काऊ णीलं किणहं परिणमदि किलेसवद्विदो अप्पा ।

एवं किलेसहाणीवद्विदो होदि असुहतियं ॥ ५०१ ॥

काषेतं नीलं कृष्णं परिणमति क्षेशवृद्धित आत्मा ।

एवं क्षेशहानिवृद्धितः भवति अशुभिकम् ॥ ५०१ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर संक्षेपरिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा काषेतसे नील और नीलमें कृष्णलेश्यारूप परिणमन करता है । इस तरह यह जीव संक्षेपकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है ।

तेऽ पटमे सुके मुहाणमवरादिअंसगे अप्पा ।

सुद्विस्स य वद्विदो हाणीदो अणणदा होदि ॥ ५०२ ॥

तेजसि पद्मे शुके शुभानामवराद्यशगे आत्मा ।

शुद्धेश्व वृद्धितो हानितः अन्यथा भवति ॥ ५०२ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा पीत पद्म शुक्र इन तीन शुभ लेश्याओंके जग्न्य मःयम उत्कृष्ट अंशरूपमें परिणमन करता है । तथा विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टमें जग्न्यपर्यन्त शुक्र एवं पीत लेश्यारूप परिणमन करता है । इस तरह शुद्धिकी हानि वृद्धि होनेसे शुभ लेश्याओंका परिणमन होता है ।

उत्त परिणामाधिकारको मनमें रखकर संक्रमाविकारका निरूपण करते हैं ।

संक्रमणं सद्गुणपरद्गुणं होदि किणहसुक्राणं ।

वद्वीसु हि सद्गुणं उभयं हाणिग्मि सेस उभयेवि ॥ ५०३ ॥

संक्रमणं स्वस्थानपरस्थानं भवति कृणिशुक्रलयोः ।

वृद्धिपु हि स्वस्थानमुभयं हानौ शेषस्योभयेऽपि ॥ ५०३ ॥

अर्थ—परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं । उसके दो भेद हैं, एक स्वस्थान-संक्रमण दूसरा परस्थान-संक्रमण । किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर उस ही लेश्यारूप जब दूसरा परिणाम होता है, वहां स्वस्थान-संक्रमण होता है । और किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर किसी दूसरी लेश्या (विवक्षित लेश्यासे भिन्न) का जब कोई परिणाम होता है वहां परस्थान-संक्रमण होता है ।

कृष्ण और शुक्रलेश्यामें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान-संक्रमण ही होता है । और हानिभी अपेक्षा स्वस्थान परस्थान दोनों ही संक्रमण होते हैं । तथा शेष चार लेश्याओंमें हानि तथा वृद्धि दोनों अपेक्षाओंमें स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमणोंके होनेकी सम्भावना है ।

भावार्थ—कृष्णलेश्या अशुभेद्या है, इस लिये उसमें यदि संक्लेशताकी वृद्धि होगी। तो कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी। तथा शुक्ललेश्या शुभेश्या है इस लिये शुक्ललेश्यामें यदि शुभपरिणामोंकी वृद्धि होगी तो शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी। इस लिये वृद्धिकी अपेक्षा कृष्ण और शुक्ललेश्यामें स्वस्थानसंकरण ही है। तथा कृष्णलेश्यामें संक्लेशताकी यदि हानी हो तो कृष्णलेश्याके जग्न्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और इसके नीचे नील कापोत लेश्यारूप भी होसकती है, इसलिये कृष्णलेश्यामें हानिकी अपेक्षा दोनों संकरण सम्भव हैं। इस हां तरह शुक्ललेश्यामें यदि विशुद्धताकी हानि होय तो शुक्ललेश्याके जग्न्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और उसके नीचे पद्म पीत लेश्यारूप भी होसकती है, इसलिये इसमें भी हानिकी अपेक्षा दोनों संकरण सम्भव हैं। किन्तु मध्यकी चारलेश्याओंमें से अशुभेश्याओंमें संक्लेशताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संकरणोंमें सोई भी संकरण होसकता है। तथा शुभेश्याओंमें विशुद्धताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संकरणोंमें सोई भी संकरण हो सकता है। जैसे पद्मलेश्यामें यदि विशुद्धताकी वृद्धि हुई तो वह पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त भी हो सकती है इसलिये स्वस्थानसंकरण, और शुक्ललेश्यारूप भी परिणाम होसकता है इसलिये परस्थान संकरण भी सम्भव है। इसीप्रकार पीत तथा नील और कापोतलेश्यामें भी समझना नाहिये।

लेस्याणुक्रस्सादोवरहाणी अवरगादवरवड्डी ।

सट्टाणे अवरादो हाणी णियमा परढाणे ॥ ५०४ ॥

लेश्यानामुत्कृष्टादवरहानिः अवरकादवरवृद्धिः ।

स्वस्थाने अवरात् हानिर्वियमात् परस्थाने ॥ ५०४ ॥

अर्थ—स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओंके उत्कृष्टस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्तभागहानिरूप है। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जग्न्यस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जग्न्य स्थानसे अनन्तभागवृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जग्न्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्तगुणहानिरूप परस्थान संकरण ही होता है।

भावार्थ—किसी विवक्षित लेश्याके जग्न्य स्थानसे हानि होकर उसके समीपवर्ती लेश्याके उत्कृष्ट स्थानरूप यदि परिणाम हो तो वहांपर परस्थान संकरण ही होता है, और यह स्थान अनन्तगुणहानिरूप होता है। जैसे कृष्णलेश्याके जग्न्यस्थानके समीप नीललेश्याका उत्कृष्ट स्थान है, वह कृष्णलेश्याके जग्न्यस्थानसे अनन्तगुणहानिरूप है।

उपर्युक्त निरूपणका कारण क्या है यह बताते हैं।

संकरणे छढाणा हाणिसु वडीसु होन्ति तण्णामा ।

परिमाणं च य पुच्चं उत्तकमं होदि सुदणाणे ॥ ५०५ ॥

संकमणे पट्ट्यानानि हानिषु वृद्धिषु भवन्ति तत्रामानि ।
परिमाणं च च पर्मुक्तकमं भवति श्रुतज्ञाने ॥ ९०९ ॥

अर्थ— संकमणाधिकारमें हानि और वृद्धि दोनों अवस्थाओंमें पट्ट्यान होते हैं । इन पट्ट्यानोंके नाम तथा परिमाण पहले श्रुतज्ञानमार्गानमें जो कहे हैं वेही यहांपर भी समझना । भावार्थ—पट्ट्यानोंके नाम ये हैं अनन्तभाग असंख्यातभाग संख्यातभाग संख्यातगुण असंख्यातगुण अनन्तगुण । इन पट्ट्यानोंकी सहनानी क्रमसे उंचक चतुरंक पञ्चाङ्क पठङ्क सप्ताङ्क अष्टाङ्क है । और यहांपर अनन्तका प्रमाण जीवाशिमात्र, असंख्यातका प्रमाण असंख्यातलोकमात्र, और संख्यातका प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात है ।

लेख्याओंके कर्मधिकारको कहते हैं ।

पहिया जे छपुरिसा परिभट्ठारण्णमज्जदेसम्बिह ।
फलभरियरुक्षमेगं पेक्खित्ता ते विचित्तंति ॥ ५०६ ॥
निर्मूलखंधसाहुवसाहुं छित्तुं चिणित्तुं पडिदाहुं ।
खाउं फलाहुं इदि जं मणेण वयणं हवे कर्म ॥ ५०७ ॥

पथिका ये पट् पुरुषाः परिभ्रष्टा अरण्यमन्यदेशो ।
फलभरितवृक्षमेकं प्रेक्षित्वा ते विचित्तयन्ति ॥ ५०६ ॥
निर्मूलकन्धशाखोपशाखां छित्वा नित्वा पतितानि ।
खादितुं फलानि इति यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म ॥ ५०७ ॥

अर्थ— कृष्ण आदि छह लेश्यावाले छह पथिक वनके मध्यमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देशकर अपने २ मनमें इस प्रकार विचार करते हैं, और उसके अनुमार बनन कहते हैं ।—कृष्णलेश्यावाला विचार करता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे उखाइकर इसके फलोंका भक्षण करूँगा । और नीललेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे काटकर इसके फल खाऊँगा । कापोतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी बड़ी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊँगा । पीतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊँगा । पद्मलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षके फलोंको तोड़कर खाऊँगा । शुकुलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षसे स्वयं टूट कर पड़े हुए फलोंको खाऊँगा । इस तरह जो मनपूर्वक वचनादिकी प्रवृत्ति होती है वह लेश्याका कर्म है । यहां पर यह एक दृष्टन्तमात्र दियागया है इसलिये इस ही तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

लेश्याओंके लक्षणाधिकारका निरूपण करते हैं ।

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयग्गहेओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किणहस्स ॥ ५०८ ॥
चण्डो न मुच्चति वैरं भण्डनशीलश्च प्रमदयाहितः ।
दुष्टो न चैति वसं लक्खणमेततु कृष्णस्य ॥ ९०८ ॥

अर्थ—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, मुद्रकरनेका (लड़नेका) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयोमें रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके भी वश न हो ये सब कृष्णलेश्यावालेके चिह्न (लक्षण) हैं ।

नीललेश्यावालेके चिह्न बताते हैं ।

मंदो बुद्धिविहीणो णिविष्णाणी य विसयलोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेजो य ॥ ५०९ ॥
णिद्वावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥ ५१० ॥
मन्दो बुद्धिविहीणो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।
मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेदश्च ॥ ९०९ ॥
निद्रावश्वनवहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसज्जश्च ।
लक्षणमेतद्गणितं समासतो नीललेश्यस्य ॥ ९१० ॥

अर्थ—कामकरनेमें मन्द हो, अथवा स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कला चातुर्यसे रहित हो, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयोंके लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आत्मी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको सहसा न जान सकें, तथा जो अति निद्रालु और दूसरोंको उगानेमें अतिदृढ़ हो, और धनधान्यके विषयमें जिसकी अतिनीत्र लालसा हो, ये नीललेश्यावालेके संक्षेपसे चिन्ह बताये हैं ।

तीन गथाओंमें कपोतलेश्यावालेका लक्षण कहते हैं ।

रूसइ णिदइ अणो दूसइ बहुसो य सोयमयबहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥ ५११ ॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मणिंतो ।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्हि वा ॥ ५१२ ॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु ।
ण गणइ कज्जाकज्जे लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ५१३ ॥

रुप्यति निन्दति अन्यं दुप्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
 असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः ॥ ९११ ॥
 न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः ।
 तुप्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा ॥ ९१२ ॥
 मरणं प्रार्थयते रणे दद्राति सुव्वहुकमपि स्त्यमानस्तु ।
 न गणयति कार्याकार्यं लक्षणमेतत्तु कापोतस्य ॥ ९१३ ॥

अर्थ—दूसरेके ऊपर कोष करना, दूसरेकी निन्दा करना, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देना अथवा औरोंसे वैर करना, शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होना, दूसरोंके ऐश्वर्यादिको सहन न करसकना, दूसरेका तिरस्कार करना, अपनी नानाप्रकारसे प्रशंसा करना, दूसरेके ऊपर विश्वास न करना, अपनेसमान दूसरोंको भी मानना, स्तुति करनेवाले पर संतुष्ट होजाना, अपनी हानि वृद्धिको कुछ भी न समझना, रणमें मरनेकी प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालेको स्व घन दे डालना, अपने कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना न करना, ये सब कपोतले श्यावालेके चिन्ह हैं ।

पीतलेश्यावालेके चिन्ह बताते हैं ।

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सद्वसमपासी ।
 दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ ५१४ ॥
 जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी ।
 दयादानरतश्च मुदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः ॥ ९१४ ॥

अर्थ—अपने कार्य अकार्य सेव्य असेव्यको समझनेवाला हो, सबके विषयमें समंदर्शी हो, दया और दानमें तत्पर हो, कोमलपरिणामी हो, ये पीतलेश्यावालेके चिन्ह हैं ।
 पद्मलेश्यावालेके लक्षण बताते हैं ।

चागी भद्रो चोक्खो उज्ज्वकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
 साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१५ ॥
 त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
 साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य ॥ ९१९ ॥

अर्थ—दान देनेवाला हो, भद्रपरिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करनेका स्वभाव हा है इत तथा अनिष्ट उपद्रवोंको सहन करनेवाला हो, मुनि गुरु आदिकी पूजामें प्रातियुक्त हे ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ।

शुक्लेश्यावाले के लक्षण बताते हैं ।

ण य कुण्ड पक्षवायां णावि य णिदाणं समो य सव्वेसि ।

णत्थि य रायद्वोसा णेहोवि य सुक्लेस्सस्स ॥ ५१६ ॥

न च करोति पक्षपातं नापि न निदानं समश्च सर्वेषाम् ।

नास्ति च रागद्रेष्टौ स्लेहोऽपि च शुक्लेश्यम् ॥ ५१६ ॥

अर्थ— पक्षपात न करना, निदानको न बांधना, सब जीवोंमें समदर्शी होना, इसे राग और अनिष्टसे द्रेष्ट न करना, खी पुत्र मित्र आदिमें स्वेहरहित होना, ये सब शुक्लेश्यावाले के लक्षण हैं ।

क्रमप्राप्त गति अधिकारका वर्णन करते हैं ।

लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तथ मज्जिमया ।

आउगवंधणजोगा अद्वृवगरिसकालभवा ॥ ५१७ ॥

लेश्यानां खलु अंशाः पड़विशतिः भवन्ति तत्र मध्यमकाः ।

आयुष्कवन्धनयोग्या अष्ट अयापर्कर्षकालभवाः ॥ ५१७ ॥

अर्थ— लेश्याओंके कुल छव्वीस अंश हैं, इनमेंसे मध्यके आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष कालमें होते हैं वे ही आयुकर्मके बन्धके योग्य होते हैं । भावार्थ—जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यचकी भुज्यमान आयुका प्रमाण छह हजार इक्सठ है । इसके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भागके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्षका काल कहा जाता है । इस अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि यहां पर भी बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक त्रितीय भागमेंसे भी दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि यहां परभी बन्ध न हो तो तीसरे अपकर्षमें होता है । और तीसरमें भी न हो तो त्रैये पांचमे छह ते सातमें आठमें अपकर्षमेंसे किसी भी अपकर्षमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि किसी भी अपकर्षमें बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयुका अन्तिम आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण काल) से पूर्वीके अन्तर्मुहूर्तमें अवश्य ही आयुका बन्ध होता है ।

भुज्यमान आयुके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भागके प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको अपकर्ष कहते हैं । इस अपकर्ष कालमें लेश्याओंके आठ मध्यमाशोंमें जो अंश होगा उसके अनुसार आयुका बन्ध होगा । तथा आयुबन्धके योग्य आठ मध्यमाशोंमेंसे कोई अंश जिस अपकर्षमें होगा उस ही अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा, दूसरे कालमें नहीं ।

जिवोंके दो भेद हैं एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क । जिनका विषभक्षणादि निपित्तके द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं । और इसमें जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं । जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उन्हें रीतिसे ही परभवसंबन्धी आयुका बन्ध होता है । किन्तु अनुपक्रमायुष्कोंमें कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कोंमें जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयुके अन्तिम छह महीना शेष रहने पर आयुके बन्ध करनेके गोप्य होते हैं । इसमें भी छह महीनाके आठ अपर्कर्षकालमें ही आयुका बन्ध करते हैं—दूसरे कालमें नहीं । जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यच हैं वे अपनी आयुके नौ महीना शेष रहने पर नौ महीनाके आठ अपर्कर्षमेंसे किसी भी अपर्कर्षमें आयुका बन्ध करते हैं । इस प्रकार ये लेश्याओंके आठ अंश आयुबन्धको कारण हैं । जिस अपर्कर्षमें जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयुका बन्ध होता है ।

शेष अठारह अशेषोंका कार्य बताते हैं ।

सेसद्वारस अंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति ।

शुक्कुकस्संसमुदा सव्वटुं जांति खलु जीवा ॥ ५१८ ॥

शेषादशांशाश्वर्तुर्गतिगमनस्य कारणानि भवन्ति ।

शुक्कोत्कृष्टांशमृता सर्वार्थं यान्ति खलु जीवाः ॥ ९१८ ॥

अर्थ—अपर्कर्षकालमें हेनेवाले लेश्याओंके आठ मध्यमाशेषोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश चारों गतियोंके गमनको कारण होते हैं । तथा शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे संयुक्त जीव मरकर नियमसे सर्वार्थसिद्धिको जाते हैं ।

अवरंसमुदा होंति सदारदुगे मज्जामंसगण मुदा ।

आणदकपादुवरि सवद्वाइलगे होंति ॥ ५१९ ॥

अवरंशमृता भवन्ति शतारद्विके मध्यमाशेकन मृताः ।

आनतकल्पादुपरि सर्वार्थादिमे भवन्ति ॥ ९१९ ॥

अर्थ—शुक्ललेश्याके जनन्य अंशोंसे संयुक्त जीव मरकर शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं । और मध्यमाशेषोंकरके सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धिसे पूर्वपूर्वके तथा आनत स्तरमें ऊपरके समस्त विमानोंमेंसे यथा सम्भव विमानमें उत्पन्न होता है । और आनत स्तरमें भी उत्पन्न होता है ।

पश्चुकस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्रारं ।

अवरंसमुदा जीवा सणकुमारं च माहिंदं ॥ ५२० ॥

पश्चात्कृष्टांशमृता जीवा उपर्याति खलु सहस्रारम् ।

अवरांशमृता जीवाः सन्त्कुमारं च माहेन्द्रम् ॥ ९२० ॥

अर्थ— पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मेरे हुए जीव नियमसे सहस्रार स्वर्गको प्राप्त होते हैं । और पद्म लेश्याके जनन्य अंशोंके साथ मेरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

मज्जमंशेण मुदा तम्भज्ज्ञं जायते तेऽजेहमुदा ।
साणकुमारामाहिंदितमचक्षिदसेदिमि ॥ ५२१ ॥

मध्यमांशेन मृता तन्मयं यन्ति तेजोऽयेष्मृताः ।

सनत्कुमाराहेन्द्रातिमनकेन्द्रश्रेण्याम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ— पद्मलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मेरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके ऊपर और सहस्रार स्वर्गके नीचे २ के विमानमें उत्पन्न होते हैं । पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मेरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पठलमें चक्रनामक इन्द्रकसम्बन्धी श्रेणी-बद्ध विमानमें उत्पन्न होते हैं ।

अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडमि सेदिमि ।
मज्जमंशेण मुदा विमलविमाणादिवलभद्रे ॥ ५२२ ॥

अवरांशमृताः सौधर्मेशानादिमत्तौ श्रेण्याम् ।

मध्यमांशेन मृताः विमलविमाणादिवलभद्रे ॥ ५२२ ॥

अर्थ— पीतलेश्याके जनन्य अंशोंके साथ मेरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके क्रतु (जु) नामक इन्द्रक विमानमें अथवा श्रेणीबद्ध विमानमें उत्पन्न होता है । पीत लेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मेरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके दूसरे पठलके विमल नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके द्विचरम पठलके (अन्तिम पठलसे पूर्वका पठल) बलभद्रनामक इन्द्रक विमानपर्यन्त उत्पन्न होता है ।

किंहवरंसेण मुदा अवधिद्वाणमिम अवरंसमुदा ।
पंचमचरिमतिमिस्से मज्जं मज्जेण जायते ॥ ५२३ ॥

कृष्णवराशेन मृता अवधिश्याने अवरांशमृताः ।

पञ्चमत्रमतिमिश्रे मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२३ ॥

अर्थ— कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मेरे हुए जीव सातमी पृथ्वीके अवधिश्यान नामक इन्द्रक विलमें उत्पन्न होते हैं । जनन्य अंशोंके साथ मेरे हुए जीव पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पठलके तिमिश्रनामक इन्द्रक विलमें उत्पन्न होते हैं । कृष्णलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मेरे हुए जीव दोनोंके (सातमी पृथ्वीका अवधिश्यान नामक इन्द्रकविल और पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पठलसम्बन्धी तिमिश्र विल) मध्यस्थानमें यथासम्भव उत्पन्न होते हैं ।

**नीलुकसंसमुदा पंचम अंधिंदयमि अवरमुदा ।
वालुकसंपञ्जलिदे मज्जे मज्जेण जायते ॥ ५२४ ॥**

नीलोत्कृष्टांशमृताः पञ्चमान्धेन्द्रके अवरमृताः ।

वालुकासंप्रज्वलिते मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२४ ॥

अर्थ—नीललेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव पाचमी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी अन्धनामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं । कोई २ पांचमे पटलमें भी उत्पन्न होते हैं । इतना निशेष और भी है कि कृष्णलेश्याके जघन्य अंशवाले भी जीव मरकर पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलमें उत्पन्न होते हैं ; नीललेश्याके जघन्य अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके अंतिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं । नीललेश्याके मध्यम अंशोंवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलके आगे और पांचमी पृथ्वीके अन्धनामक इन्द्रकबिलके पहले पहले नितने पटल और इन्द्रक हैं उनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ।

वरकाओदंसमुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स ।

सीमंतं अवरमुदा मज्जे मज्जेण जायते ॥ ५२५ ॥

वरकापोतांशमृताः संज्वलितं यान्ति तृतीयानिरयस्य ।

सीमन्तमवरमृता मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२५ ॥

अर्थ—कापोतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं । कोई २ अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें भी उत्पन्न होते हैं । कापोतलेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं । और मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलसे आगे और तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलके पहले तीसरी पृथ्वीके सात पटल, दूसरी पृथ्वीके ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वीके बारह पटलमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ।

किण्हचउक्ताणं पुण मज्जांसमुदा हु भवणगादितिये ।

पुढवीआउवणप्कादिजीवेसु हवंति खलु जीवाः ॥ ५२६ ॥

कृष्णचतुर्पकाणां पुनः मध्यांशमृता हि भवनकादित्रये ।

पृथिव्यवनस्पतिजीवेषु भवन्ति खलु जीवाः ॥ ५२६ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कपोत इन तीन लेश्यओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए कर्मभूमियां मिथ्याद्वितीयं तिर्यच वा मनुष्य, और पीतलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए

भोगभूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्यंच वा मनुप्य, भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं । तथा कृष्ण नील कापोत पीत लेश्याके मध्यम अंशोके साथ में हुए तिर्यंच वा मनुप्य भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी वा सौधर्म ईशान स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देव, ब्रादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जलकायिक वनस्पतिकायिक जीवोंमें उत्पन्न होते हैं ।

किञ्छतियाणं मज्ज्ञमअंसमुदा तेऽवाऽवियलेषु ।

सुरणिरया सगलेस्सहिं णरतिरियं जांति सगजोग्म ॥ ५२७ ॥

कृष्णत्रयाणां म-प्रमांशमृतास्तेजोवायुविक्लेषु ।

सुरनिरया: स्वकलेश्याभिः णरतिर्यं जान्ति सगजोग्म ॥ ५२७ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशोके साथ मरे हुए तिर्यंच वा मनुप्य, तेजकायिक वातकायिक विकलत्रय असंज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण—वनस्पति इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं । और भवनत्रय आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके देव तथा सातो पृथ्वीसम्बन्धी नारकी अपनी २ लेश्याके अनुसार मनुप्यगति या तिर्यंचगतिको प्राप्त होते हैं । **भावार्थ—**जिस गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध हुआ हो उस ही गतिमें मरण समयपर होनेवाली लेश्याके अनुसार उत्पन्न होता है । जैसे मनुप्यअवस्थामें किसीने देवायुका बन्ध किया और मरणसमयपर उसके कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हुई तो वह मरण करके भवन-त्रिक्रमें उत्पन्न होगा—उत्कृष्ट देवोंमें नहीं होगा । यदि शुभ लेश्या हुई तो यथायोग्य कल्प-वासियोंमें भी उत्पन्न होगा ।

कमप्राप्त स्वामी अविकारका वर्णन करते हैं ।

काऊ काऊ काऊ णीला णीला य णीलकिण्हा य ।

किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पठमादिपुढवीण ॥ ५२८ ॥

कापोता कापोता कापोता नीला नीला च नीलकृष्णा च ।

कृष्णा च परमकृष्णा लेश्या प्रथमादिपुढवीनाय ॥ ५२८ ॥

अर्थ—प्रथम पृथ्वीमें कपोतलेश्याका जनन्य अंश है । दूसरी पृथ्वीमें कपोतलेश्याका मध्यम अंश है । तीसरी पृथ्वीमें कपोतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और नीललेश्याका जनन्य अंश है । चौथी पृथ्वीमें नीललेश्याका मध्यम अंश है । पांचमी पृथ्वीमें नीललेश्याका उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्याका जनन्य अंश है । छठी पृथ्वीमें कृष्णलेश्याका मध्यम अंश है । सातमी पृथ्वीमें कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट अंश है । **भावार्थ—**स्वामी अधिकारमें भावलेश्याकी अपक्षा ही कथन है, इस लिये उपर्युक्त प्रकारसे नरकोंमें भी भावलेश्या ही समझना ।

णरतिरियाणं ओघो इगिविगले तिरिण चउ असणिस्स ।

सणिणअपुणगमिच्छे सासणसम्मेवि असुहतियं ॥ ५२९ ॥

नरतिरश्चामोघ एकविकले तिसः चतसः असंज्ञिनः ।

मंश्यपूर्णकमिश्यात्वे सासनसम्यक्त्वेषि अशुभत्रिकम् ॥ ५२९ ॥

अर्थ— मनुष्य और तिर्थीयोंके सामान्यमें छहों लेश्या होती हैं । एकेन्द्रिय और विकल्पय (द्विन्द्रिय त्रिन्द्रिय चतुरन्द्रिय) जीवोंके कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं । असंज्ञी पञ्चन्द्रिय क्षेत्रोंमें कृष्ण आदि चार लेश्या होती हैं; क्योंकि असंज्ञी पञ्चन्द्रिय क्षेत्रोंमें तीव्र मरणकर पहले नरकको जाता है । तथा तेजोलेश्यामहित मरनेमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होता है । कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यामहित मरनेमें यथायोग्य मनुष्य या तिर्थीयोंमें उत्पन्न होता है । संज्ञी लड्यपर्यासक तथा अपि शब्दमें असंज्ञी लड्यपर्यासक और मासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्यास तथा भवनविक्री जीवोंमें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती है । उपशम सम्यक्त्वकी विराघना करके सासादन गुणस्थानवाले जीवके अपर्यास अवस्थामें तीन अशुभ लेश्या ही होती है ।

भोगा पुण्णगसम्मे काउस्स जहिणियं हवे णियमा ।

सम्मे वा मिच्छे वा पज्जे तिप्पिण सुहलेस्सा ॥ ५२० ॥

भोगापूर्णकसम्यक्त्वे कापोतस्य नवन्यकं भवेत् नियमात् ।

सम्यक्त्वे वा मिश्यात्वे वा पर्योसे तिस्त्रः शुभलेश्याः ॥ ५३० ॥

अर्थ— भोगभूमियां निर्वृत्यपर्यासक सम्यद्विष्टि जीवोंमें कापोतलेश्याका जग्नन्य अंश होता है । तथा भोगभूमिया सम्यद्विष्टि या मिश्याद्विष्टि जीवोंके पर्यास अवस्थामें पीत आदि तीन शुभ लेश्या ही होती हैं । भावार्थ—पहले मनुष्य या तिर्थीय आयुका बध करके पीछे क्षायिक या वेदक सम्यक्त्वको स्वीकार करके यदि कोई कर्मभूमिन मनुष्य या तिर्थीय सम्यक्त्वमहित मरण करे तो वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहां पर उमके कापोत लेश्याके जग्नन्य अंशरूप संक्षेप परिणाम होते हैं । परन्तु पर्यास अवस्थामें सम्यद्विष्टि या मिश्याद्विष्टिके शुभ लेश्या ही होती है ।

अयदांत्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु दंसविरदतिये ।

तत्तो सुक्रा लेस्सा अजोगिठाण अलेस्सं तु ॥ ५३१ ॥

असंयत इति पट्ट लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये ।

ततः शुक्रा लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५३१ ॥

अर्थ— चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त छहों लेश्या होती हैं । तथा देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभलेश्या ही होती हैं । किन्तु इसके आगे

अपूर्वकरणसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त एक शुक्लेश्या ही होती है । और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है ।

णद्रुकसाये लेस्सा उच्चादि सा भूदपुव्वगदिणाया ।

अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥ ५३२ ॥

नष्टकपाये लेश्या उच्चरते सा भूतपूर्वगतिन्यायात् ।

अथवा योगप्रवृत्तिः मुख्येति तत्र भवेष्यते ॥ ५३२ ॥

अर्थ— अकापाय जीवोंके जो लेश्या बताइ है वह भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे बताइ है । अथवा, योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं; इस अपेक्षासे वहां पर मुख्यरूपसे भी लेश्या है; क्योंकि वहां पर योगका सद्गति है ।

तिष्ठं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च ।

एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥ ५३३ ॥

तेऊ तेऊ तेऊ पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य ।

सुक्का य परमसुक्का भवणतिया पुण्णगे असुहा ॥ ५३४ ॥

त्रयाणां द्वयोद्वयोः पण्णां द्वयोश्च त्रयोदशानां च ।

एतस्माच्च चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानाम् ॥ ५३३ ॥

तेजस्तेजस्तेजः पद्मा पद्मा च पद्मशुक्ले च ।

शुक्ला च परमशुक्ला भवनत्रिका अपूर्णके अशुभाः ॥ ५३४ ॥

अर्थ— भवनवासी व्यन्तर ज्योतिर्षी इन तीन देवोंके पीतलेश्याका जघन्य अंश है । सौधर्म ईशान स्वर्गवाले देवोंके पीतलेश्याका मध्यम अंश है । सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गवालोंके पीतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्याका जघन्य अंश है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ शुक्र महाशुक्र इन छह स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका मध्यम अंश है । शतार महावार स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंश और शुक्लेश्याका जघन्य अंश है । आनत प्राणत आरण अच्युत तथा नव ग्रैवेयक इन तेरह स्वर्गवाले देवोंके शुक्लेश्याका मध्यम अंश है । इसके ऊपर नव अनुदिश तथा पांच अनुन्तर इन चौदह विमानवाले देवोंके शुक्लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है । भवनवासी आदि तीन देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं । **भावार्थ—** जब भवनत्रिक देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ तीन लेश्या और पर्याप्त अवस्थामें पीत लेश्याका जघन्य अंश बताया इससे मालूम होता है कि शेष वैमानिक देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें लेश्या समान ही होती है ।

इस प्रकार स्वामी अधिकारका वर्णन करके साधन अधिकारका वर्णन करते हैं ।

वर्णोदयसंपादितसरीरवर्णणो दु द्ववदो लेस्सा ।

मोहुदयखओवसमोवसमखयजरीवफंदणं भावो ॥ ५३५ ॥

वर्णोदयसंपादितशरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।

मोहोदयक्षयोपशमोपशमक्षयनजीवस्पन्दो भावः ॥ ५३६ ॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं । मोहनीय कर्मके उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षयसे जो जीवके प्रदेशोंकी चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं । **भावार्थ**—द्रव्यलेश्याका साधन वर्णनामकर्मका उदय है । भावलेश्याका साधन असंयतपर्यन्त चार गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका उदय, और देशविरत आदि तीन गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशमश्रेणियोंमें मोहनीय कर्मका उपशम, तथा क्षपकथ्रेणियोंमें मोहनीय कर्मका क्षय होता है ।

क्रमप्राप्त संख्या अधिकारका वर्णन करते हैं ।

किण्हादिराशिमावलिअसंखभागेण भजिय पविभत्ते ।

हीणकमा कालं वा अस्सिय द्ववा दु भजिद्व्वा ॥ ५३६ ॥

कृष्णादिराशिमावल्यसंख्यभागेन भक्त्वा प्रविभक्ते ।

हीनक्रमः कालं वा आश्रित्य द्रव्याणि तु भक्त्व्यानि ॥ ५३६ ॥

अर्थ—संसारी जीवराशिमेसे तीन शुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण है । यह प्रमाण संसारी जीवराशिमेसे कुछ कम होता है । इस राशिमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर एक भागको अलग रखकर शेष बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा शेष—अलग रखवे हुए एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे कृष्णलेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और शेष एक भागमें किर आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे नीललेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और अवशिष्ट एक भागको तीसरे भागमें मिलानेसे कापोतलेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार अशुभ लेश्यावालोंका द्रव्यकी अपेक्षासे प्रमाण कहा । यह प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ २ घटता २ है । अब कालकी अपेक्षासे प्रमाण त्रहते हैं । कृष्ण नील कापोत तीन लेश्याओंका काल मिलानेसे जो अन्तर्मुहूर्तमात्र काल होता है, उसमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देना । इसमें एक भागको जुदा रखना और बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा अवशिष्ट एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका किर भाग देना । लब्ध एक भागको

अलग रखकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कृष्णलेश्याका काल है । लब्ध एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातमें भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमें दूसरे भागमें मिलानेमें जो प्रमाण हो वह नीललेश्याका काल है । अवशिष्ट एक भागको अवशिष्ट तीसरे समान भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कापोतलेश्याका काल है । इस प्रकार तीन अशुभ लेश्याओंके कालका प्रमाण भी उत्तरोत्तर अल्प २ समझना चाहिये ।

खेत्तादो असुहतिया अणंतलोगा कमेण परिहीणा ।

कालादोतीदादो अणंतगुणिदा कमा हीणा ॥ ५३७ ॥

क्षेत्रतः अशुभविका अनन्तलोकाः क्रमेण परिहीनाः ।

कालदीतादनन्तगुणिताः क्रमाद्दीनाः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन अशुभलेश्यावाले जीव लोकाकाशके प्रदेशोंसे अनन्तगुण हैं; परन्तु उत्तरोत्तर क्रमसे हीन २ हैं । कृष्ण लेश्यावालोंसे कुछ क्रम नील लेश्यावाले जीव हैं और नीललेश्यावालोंसे कुछ क्रम कापोत लेश्यावाले जीव हैं । तथा कालकी अपेक्षा अशुभ लेश्यावालोंका प्रमाण, भूतकालके जितने समय हैं उससे अनन्तगुण है । यह प्रमाण भी उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये ।

केवलणाणाणंतिमभागा भावादु किञ्छतियजीवा ।

तेऽतिया संखेज्जा संखासंखेज्जभागकमा ॥ ५३८ ॥

केवलज्ञानानन्तिमभागा भावातु कृष्णविकीर्णीवाः ।

तेजस्त्रिका असंख्येयाः संख्यासंख्येयभागकमाः ॥ ५३८ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव, केवलज्ञानके जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं उसके अनन्तमें भागप्रमाण हैं । यहां पर भी पूर्ववत् उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये । पीत आदि तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण सामान्यसे असंख्यात है । तथापि पीत-लेश्यावालोंसे संख्यातमे भाग पद्मलेश्यावाले हैं । और पद्मलेश्यावालोंसे असंख्यातमे भाग शुक्ल-लेश्यावाले जीव हैं ।

क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण बताते हैं ।

जोहसियादो अहिया तिरिक्खसणिणस्स संखभागो दु ।

सृहस्स अंगुलस्स य असंखभागं तु तेऽतियं ॥ ५३९ ॥

ज्योतिष्कतः अधिकाः तिर्यक्संज्ञिनः संख्यभागस्तु ।

सूचेरङ्गुलस्य च असंख्यभागं तु तेजस्त्रियम् ॥ ५३९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक तेजोलेश्यावाले जीव हैं । और तेजो-

लेश्यावाले संज्ञी तिर्थन्च जीवोंके प्रमाणसे संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले जीव हैं । और सूच्य-ड़गुलके असंख्यातमे भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं । भावार्थ—पैसठ हजार पांचसौ छत्तीस प्रतराड़गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ज्योतिषी देव हैं । और पांच वार संख्यातसे मुणित पण्ठटी प्रमाण प्रतराड़गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण रहे उतने तिर्थन्, और संख्यात मनुष्य, इन दोनों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने तेजो-लेश्यावाले जीव हैं । तथा तेजोलेश्यावालोंसे संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले और सूच्य-ड़गुलके असंख्यातमे भाग शुक्ललेश्यावाले जीव हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

वेसदछप्पण्णंगुलकदिहिदपदरं तु जोइसियमाणं ।

तस्य य संखेज्जदिमं तिरिक्खसण्णीण परिमाणं ॥ ५४० ॥

द्विशतपृथग्नाशद्गुलकृतिहितप्रतरं तु ज्योतिष्कमानम् ।

तस्य च संख्येयतमं तिर्थकृसंज्ञिनां परिमाणम् ॥ ९४० ॥

अर्थ—दो सौ छप्पन अंगुलके वर्गप्रमाण (पण्ठटीप्रमाण=६९९३६) प्रतराड़गु-लका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण हो उतने ज्योतिषी देव हैं । और इसके संख्यातमे भागप्रमाण संज्ञी तिर्थन्च जीव हैं ।

तेउदु असंखकप्पा पल्लासंखेज्जभागया सुक्ता ।

ओहिअसंखेज्जदिमा तेउतिया भावदो हांति ॥ ५४१ ॥

तेजोद्वया असंख्यकल्पाः पल्यासंख्येयभागकाः शुक्त्याः ।

अवध्यमंख्येयाः तेजक्षिका भावतो भवन्ति ॥ ९४१ ॥

अर्थ—असंख्यात कल्पकालके जितने समय हैं उतने ही सामान्यसे तेजोलेश्यावाले और उतने ही पद्मलेश्यावाले जीव हैं । तथापि तेजोलेश्यावालोंसे पद्मलेश्यावाले संख्या-तमे भाग हैं । पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण शुक्ललेश्यावाले जीव हैं । इस प्रकार कालकी अपेक्षासे तीन शुभलेश्याओंका प्रमाण समझना चाहिये । तथा अवधिज्ञानके जितने विकल्प हैं उसके असंख्यातमे भाग सामान्यसे प्रत्येक शुभलेश्यावाले जीव हैं । तथापि तेजोलेश्यावालोंसे संख्यातमे भाग पद्मलेश्यावाले और पद्मलेश्यावालोंसे शुक्ललेश्यावाले असं-ख्यातमे भाग मात्र हैं ।

क्षेत्राधिकारके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करते हैं ।

सद्वाणसमुघादे उववादे सब्वलोयमसुहाराणं ।

लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउतिये ॥ ५४२ ॥

स्वस्थानसमुद्राते उपपादे सर्वलोकमशुभानाम् ।
लोकस्यासंस्ख्येयभागं क्षेत्रं तु तेजखिके ॥ १४२ ॥

अर्थ—तीन अञ्जुभलेश्याओंका सामान्यसे स्वस्थान तथा समुद्रात और उपपादकी अपेक्षा सर्वलोकप्रमाण क्षेत्र है । और तीन शुभ लेश्याओंका क्षेत्र लोकप्रमाणके असंख्यातमे भागमात्र है । **भावार्थ—**यह सामान्यसे कथन किया है; किन्तु लेश्याओंके क्षेत्रका विशेष वर्णन, स्वस्थानस्वस्थान विहारवस्तुस्थान सत प्रकारका समुद्रात और एक प्रकारका उपपाद, इस तरह दश कारणोंकी अपेक्षासे किया है । सो विशेषान्विजासुओंको वह बड़ी टीकामें देखना चाहिये ।

उपपादक्षेत्रके निकालनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

मरदि असंख्येयं तस्यासंख्याश्च विग्रहे होति ।
तस्यासंखं दूरे उवचादे तस्य खु असंखं ॥ १४३ ॥

मियते असंख्येयं तस्यासंख्याश्च विग्रहे भवन्ति ।

तस्यासंखं दूरे उपपादे तस्य खलु असंख्यम् ॥ १४३ ॥

अर्थ—वनाङ्गुलके तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने सौधर्म और ईशान स्वर्णके जीवोंका प्रमाण है । इसमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे एक भागप्रमाण प्रतिसमय मरनेवाले जीव हैं । मरनेवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने विग्रहगति करनेवाले जीव हैं । विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेमें जो बहुभागका प्रमाण हो उतने मारणान्तिक समुद्रातवाले जीव हैं । इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भाग प्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्रातवाले जीव हैं । इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण उपपाद जीव हैं । यहां पर तिर्यचोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे एक जीवसम्बद्धी प्रदेश फैलनेकी अपेक्षा डेढ़ राजू लम्बा संख्यात सूच्यंगुलप्रमाण चौड़ा वा ऊचाक्षेत्र है, इसके घन—क्षेत्रफलको उपपाद जीवोंके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही उपपाद क्षेत्रका प्रमाण है । **भावार्थ—**जिस स्थानवाले जीवोंका क्षेत्र निकालना हो उस स्थानवाले जीवोंकी संख्याका अपनी २ एक जीवसम्बन्धी अवगाहनप्रमाणसे अथवा जहां तक एक जीव गमन कर सकता है उस क्षेत्रप्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो सामान्यसे उतना ही उनका क्षेत्र कहा जाता है । यहांपर पीतलेश्यासम्बन्धी क्षेत्र का प्रमाण बताया है । पद्म लेश्यमें तथा शुभल लेश्यमें भी क्षेत्रका प्रमाण इस ही प्रकारसे होता है कुछ विशेषता है सो बड़ी टीकासे देखना ।

सुक्कस्स समुग्घादे असंखलोगा य सद्वलोगो य ।

शुक्लायाः समुद्राते असंख्यलोकाश्च सर्वलोकश्च ।

अर्थ—इस सूत्रके पूर्वीमें शुक्ललेश्याका क्षेत्र लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभाग प्रमाण वा सर्व लोक बताया है सो केवल समुद्रातकी अपेक्षासे है ।
भावार्थ—शुक्ल लेश्याका क्षेत्र दूसरे स्थानोंमें उक्त रीतिसे ही समझना ।

कमप्राप्त स्पर्शाधिकारका वर्णन करते हैं ।

फासं सवं लोयं तिद्वाणे असुहलेस्साणं ॥ ५४४ ॥

स्पर्शः सर्वे लोकविस्थाने अशुभलेश्यानाम् ॥ ५४४ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका सर्व स्वस्थान, समुद्रात, उप-पाद, इन तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्व लोक हैं । **भावार्थ—**वर्तमानमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको क्षेत्र कहते हैं । और भूत तथा वर्तमान कालमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको सर्व कहते हैं । सो तीन अशुभलेश्यावाले जीवोंका सर्व उक्त तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्व-लोक हैं । विशेषकी अपेक्षासे कृष्णलेश्यावालोंका दश स्थानोंमेंसे स्वस्थानस्वस्थान, वेदना कथाय मारणान्तिक समुद्रात, तथा उपादस्थानमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है । संख्यात सूच्यंगुलको जगत्प्रतरसे गुणा करने पर जो प्रमाण उत्पन्न हो उतना विहारवत्स्वस्थानमें स्पर्श है । तथा वैकियिक समुद्रातमें लोकके संख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और इस लेश्यामें तैजस आहारक केवल समुद्रात नहीं होता । कृष्णलेश्याके समान ही नील तथा कापोतलेश्याका भी स्पर्श समझना ।

तेजोलेश्यामें स्पर्शका वर्णन करते हैं ।

तेउस्स य सद्वाणे लोगस्स असंख्यभागमेत्तं तु ।

अङ्गोद्दसभागा वा देसूणा होन्ति पियमेण ॥ ५४५ ॥

तेजसश्च स्वस्थाने लोकस्य असंख्यभागमत्रं तु ।

अष्ट चतुर्दशभागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४५ ॥

अर्थ—पीतलेश्याका स्वस्थानस्वस्थानकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है ।

एवं तु समुग्घादे णव चोद्दसभागयं च किञ्चूणं ।

उववादे पढमपदं दिवहृचोद्दस य किञ्चूणं ॥ ५४६ ॥

एवं तु समुद्राते नव चतुर्दशभागश्च किञ्चिद्दूनः ।

उपपादे प्रथमपदं व्यर्जनतुर्दश च किञ्चिद्दूनम् ॥ ५४६ ॥

अर्थ— विहारवत्स्थानकी तरह समुद्रधातमें भी त्रसनालीके चौदह भागोंमें से कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है । तथा मारणान्तिक समुद्रधातकी अपेक्षा चौदह भागोंमें से कुछ कम नव भागप्रमाण स्पर्श है । और उपपाद स्थानमें चौदह भागोंमें से कुछ कम डेढ़ भागप्रमाण स्पर्श है । इस प्रकार यह पाँत लेश्याका स्पर्श सामान्यसे तीन स्थानोंमें बताया है ।

डेढ़ ३ गाथामें पद्म तथा शुक्लेश्याका स्पर्श बताते हैं ।

पक्ष्मस्स य सद्वाणसमुग्धाददुग्धेषु होदि पठमपदं ।

अड़ चोदस भागा वा देसूणा होति णियमेण ॥ ५४७ ॥

पद्मायाश्च स्वस्थानसमुद्रातद्रिक्योः भवति प्रथमपदम् ।

अष्ट चतुर्दश भागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४७ ॥

अर्थ— पद्मलेश्याका विहारवत्स्थान, वेदाना कथाय वैकियिक तथा मारणान्तिक समुद्रधातमें चौदह भागोंमें से कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है । तैजस तथा आहार समुद्रधातमें संख्यात घनाङ्कुल प्रमाण स्पर्श है । यहां पर च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये स्वस्थानस्थानमें लोकके असंख्यातभागोंमें से एक भाग प्रमाण स्पर्श है ।

उच्चादे पठमपदं पण्चोदसभागयं च देसूणं ।

सुक्ष्मस्स य तिट्ठाणे पढमो छच्चोदसा हीणा ॥ ५४८ ॥

उपादे प्रथमपदं पञ्चतुर्दशभागकश्च देशोनः ।

शुक्लायाश्च त्रिस्थाने प्रथमः पट्चतुर्दश हीनाः ॥ ५४८ ॥

अर्थ— पद्मलेश्या शतार सहस्रा स्वर्गपर्यन्त सम्भव है । इसलिये उपपादकी अपेक्षासे पद्मलेश्याका स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागोंमें से कुछ कम पांच भागप्रमाण है । शुक्ललेश्यावाले जीवोंका स्वस्थानस्थानमें तेजोलेश्याकी तरह लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और विहारवत्स्थान, तथा वेदना कथाय वैकियिक मारणान्तिक समुद्रधात और उपपाद, इन तीन स्थानोंमें चौदह भागोंमें से कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है । तैजस आहारक समुद्रधातमें संख्यातघनाङ्कुल स्पर्श है ।

णवरि समुग्धादम्भि य संखातीदा हवांति मागा वा ।

सव्वो वा खलु लोगो फासो होदिति णिद्विटो ॥ ५४९ ॥

नवरि समुद्रधाते च संख्यातीता भवन्ति भागा वा ।

सर्वो वा खलु लोकः सर्वो भवतीति निर्दिष्टः ॥ ५४९ ॥

अर्थ— केवल—समुद्रधातमें विशेषता है, वह इस प्रकार है कि दण्ड समुद्रधातमें स्पर्श क्षेत्रकी तरह संख्यात प्रतराङ्कुलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है । और स्थित वा उपविष्ट कणाद समुद्रधातमें संख्यातसूच्यङ्कुलमात्र जगत्प्रतर प्रमाण है । प्रतर समुद्रधातमें लोकके

असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष वहु भागप्रमाण स्पर्श है । लोकपूर्ण समुद्रातमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है । भावार्थ—केवलसमुद्रातके चार भेद हैं । दण्ड कपाट प्रतर लोकपूर्ण । दण्ड समुद्रातके भी दो भेद हैं, एक स्थित दूसरा उपविष्ट । और स्थित तथा उपविष्टके भी आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । कपाट समुद्रात के चार भेद हैं पूर्वभिमुख स्थित उत्तरभिमुख स्थित पूर्वभिमुख-उपविष्ट उत्तरभिमुख-उपविष्ट । इन चारमेंसे प्रत्येकके आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । तथा प्रतर लोकपूर्णका एक ३ ही भेद है ।

यहां पर जो दण्ड और कपाट समुद्रातका स्पर्श बताया है वह आरोहक और अवरोहककी अपेक्षा दो भेदोंमेंसे एक ही भेद का है, क्योंकि एक जीव समुद्रात अवस्थामें जितने क्षेत्रका आरोहण अवस्थामें स्पर्श करता है उतने ही क्षेत्रका अवरोहण अवस्थामें भी स्पर्श करता है । इस लिये यदि आरोहण अवरोहण दोनों अवस्थाओंका सामान्य स्पर्श जानना हो तो दण्ड और कपाट दोनों ही का उक्त प्रमाणसे दूना ३ स्पर्श समझना चाहिये । प्रतर समुद्रातमें लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण वातवल्यका स्थान छूट जाता है इसलिये यहां पर लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष वहुभागप्रमाण स्पर्श है ।

॥ इति स्पर्शाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कालाधिकारका वर्णन करते हैं ।

कालो छह्येस्साणं पाणाजीवं पदुच्च सव्वद्वा ॥

अंतोमुहुत्तमवरं एवं जीवं पदुच्च हवे ॥ ५५० ॥

कालः पद्मेश्यानां नानाजीवं प्रतीत्य सर्वद्वा ।

अन्तर्मुहूर्तोऽवर एकं जीवं प्रतीत्य भवेत् ॥ ५५० ॥

अर्थ—नाना जीवोंकी अपेक्षा कृष्ण आदि श्वर्हों लेश्याओंका सर्वे काल है । तथा एक जीव अपेक्षा सम्पूर्ण लेश्याओंका जग्न्य काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है ।

अवहीणं तेच्चीसं सत्तर सत्तेव होन्ति दो चेव ।

अट्टादरस तेच्चीसा उक्स्सा होन्ति अद्विरेया ॥ ५५१ ॥

उदधीनां त्रयखिंशत् सप्तदश सप्तव भवन्ति द्वौ चैव ।

अष्टादश त्रयखिंशत् उत्कृष्टा भवन्ति अतिरेकाः ॥ ५५१ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्याका तेतीस सागर, नीललेश्याका सत्रह सागर, कापोत-लेश्याका सातसागर, पीतलेश्याका दो सागर, पञ्च लेश्याका अठारह सागर, शुक्ल लेश्याका तेतीस सागर से कुछ अधिक है । भावार्थ—यह अधिकका सम्बन्ध छहों लेश्याओंके उत्कृष्ट कालके साथ २ करना चाहिये; क्योंकि यह उत्कृष्ट कालका वर्णन देव और नार-

कियोंकी अपेक्षासे है । सो जिस पर्यायको छोड़कर देव या नारकी उत्पन्न हो उस पर्यायके अन्तके अन्तर्मुहूर्तमें तथा देव नारक पर्यायको छोड़कर जिस पर्यायमें उत्पन्न हो उस पर्यायके आदिके अन्तर्मुहूर्तमें वही लेश्या होती है । इस ही लिये छहों लेश्याओंके उक्त उत्कृष्ट कालप्रमाणमें दो २ अन्तर्मुहूर्तका काल अधिक २ समझना । तथा पीत और पद्मलेश्याके कालमें कुछ कम आधा सागर भी अधिक होता है । जैमें सौर्घम और उशान स्वर्गमें दो सागरकी आयु है । परन्तु यदि कोई घातायुक्त सम्यग्दणि सौर्घम या ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हो तो उसकी अन्तर्मुहूर्त कम द्वाई सागरकी भी आयु हो सकती है । इस ही तरह घातायुक्त मिथ्यादृष्टिकी पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण आयु अधिक हो सकती है । परन्तु यह अधिकपना सौर्घम स्वर्गसे लंकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ही है । क्योंकि आगे घातायुक्त जीव उत्पन्न नहीं होता ।

॥ इति कालाधिकारः ॥

—————○○—————

दो गाथाओंमें अन्तर अधिकारका वर्णन करते हैं ।

अंतरमवस्थकस्सं किप्पहतियाणं मुहूर्तं अंतं तु ।

उवहीणं तेतीसं अहियं होदिति णिद्विद्वं ॥ ५५२ ॥

तेऽउत्तियाणं एवं णवरि य उक्तस्सं विरहकालो दु ।

पोग्लवरिवद्वा हु असंख्येज्ञा होंति णियमेण ॥ ५५३ ॥

अन्तरमवस्थेत्कृष्टं कृष्णत्रयाणां मुहूर्तान्तस्तु ।

उदधीनां ब्रयखिशदधिकं भवतीति निर्देशम् ॥ ९९२ ॥

तेजख्ययाणामेवं नवरि च उत्कृष्टविरहकालस्तु ।

पुद्लपरिवर्ता हि असंख्येया भवन्ति नियमेन ॥ ९९३ ॥

अर्थ— कृष्ण आदि तीन अशुभलेश्याओंका जनन्य अंतर अन्तर्मुहूर्तमात्र है । और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर होता है । पीत आदि तीन शुभ लेश्याओंका अंतर भी इस ही प्रकार है, परन्तु कुछ विशेषता है । शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अंतर नियमसे असंख्यात पुद्ल परिवर्तन है । **भावार्थ—** किसी विवक्षित एक लेश्यको छोड़कर दूसरी लेश्यारूप परिणमन करके जितने कालमें फिसे विवक्षित लेश्यारूप परिणमन करै उतने कालको विवक्षित लेश्याका विरहकाल या अंतर कहते हैं । इस प्रकारका अंतर कृष्णलेश्याका जनन्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है । उत्कृष्ट अंतर दश अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक कोण्ठिर्ष वर्ष अधिक तेतीस सागर प्रमाण है । इस ही प्रकार नील तथा कापोतलेश्याका भी अंतर जानना । परन्तु इतनी विशेषता है कि नील लेश्याके अंतरमें आठ अन्तर्मुहूर्त और कापोतलेश्याके अंतरमें छह अंतर्मुहूर्त ही अधिक हैं । अब शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अंतर दृष्टान्तद्वारा बताते हैं ।

कोई जीव पीत लेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्तमात्रतक कपोत नील कृष्ण लेश्याको प्राप्त हुआ, कृष्ण लेश्याको प्राप्त होकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरिवर्तनोंका जितना काल हो उतने काल पर्यन्त भ्रमण कर विकलेन्द्रिय हुआ, यहां पर भी उत्कृष्टतासे संस्थायत हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे एक २ अन्तर्मुहूर्तमें क्रमसे कृष्ण नील कपोत लेश्याको प्राप्त होकर पीत लेश्याको प्राप्त हुआ । इस प्रकारके जीवके पीत लेश्याका उत्कृष्ट अंतर छह अंतर्मुहूर्त और संस्थायत हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरावर्तन है । पद्म लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई पद्मलेश्यावाला जीव पद्मलेश्याको छोड़कर अंतर्मुहूर्त तक पीत लेश्यामें रह कर पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागरकी आयुसे सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हुआ, वहांसे चयकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनोंके कालका जितना प्रमाण है उतने काल तक भ्रमण किया । पीछे विकलेन्द्रिय होकर संस्थायत हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्ततक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याको प्राप्त होकर पद्मलेश्याको प्राप्त हुआ इस तरहके जीवके पांच अंतर्मुहूर्त और पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर तथा संस्थायत हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है । शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई शुक्ल लेश्यावाला जीव शुक्ललेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्ततक पद्म पीत लेश्याको प्राप्त होकर सौधर्म ईशान स्वर्गमें होकर तथा वहां पर पूर्वोक्त प्रमाण कालतक रह कर पीछे एकेन्द्रिय अवस्थामें पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण कर पीछे विकलेन्द्रिय होकर भी पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण करके क्रमसे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्त तक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याको प्राप्त होकर शुक्ल लेश्याको प्राप्त हुआ इस तरहके जीवके सात अंतर्मुहूर्त संस्थायत हजार वर्ष और पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है ।

॥ इति अंतराधिकारः ॥

क्रमप्राप्त भाव और अल्पबहुत्व अधिकारका वर्णन करते हैं ।

मावादो छलेस्सा ओदयिया होन्ति अप्पबहुगं तु ।

दध्वपमाणे सिद्धं हदि लेस्सा वणिदा होन्ति ॥ ५५४ ॥

भावतः षड्लेश्या औदयिका भवन्ति अल्पबहुकं तु ।

द्रव्यप्रमाणे सिद्धमिति लेश्या वर्णिता भवन्ति ॥ ११४ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा छहों लेश्या औदयिक हैं; क्योंकि योग और कथायके संयोगको ही लेश्या कहते हैं, और ये दोनों अपने ३ योग कर्मके उदयसे होते हैं । तथा लेश्याओंका अल्पबहुत्व, पहले लेश्याओंका जो संख्या अधिकारमें द्रव्य प्रमाण बताया है उससे सिद्ध है । इनमें सबसे अल्प शुक्लेश्यावाले हैं, इनसे असंख्यातगुणे पद्मलेश्यावाले और इनसे भी संख्यातगुणे पीतलेश्यावाले जीव हैं । पीत लेश्यावालोंमें अनंतानंतगुणे कपोतलेश्यावाले हैं, इनसे कुछ अधिक नील लेश्यावाले और इनसे भी कुछ अधिक कृष्णलेश्यावाले जीव हैं ।

॥ इति अल्पबहुत्वाधिकारः ॥

इस प्रकार सोलह अधिकारोंके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करके अब लेश्यारहित जीवोंका वर्णन करते हैं ।

किंहादिलेस्सरहिया संसारविणिगगया अणंतसुहा ।

सिद्धिपुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुण्येयवा ॥ ५५५ ॥

कृष्णादिलेश्यारहितः संसारविनिर्णिता अनंतसुखाः ॥

सिद्धिपुरं संप्राप्ता अलेश्यास्ते ज्ञातव्याः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओंसे रहित हैं, अतएव जो पञ्चपरिवर्तनरूप संसारसमुद्रके पारको प्राप्त होगये हैं; तथा जो अतीन्द्रिय अनंत सुखसे तृप्त हैं, और आत्मो-पलिघरूप सिद्धिपुरीको जो प्राप्त होगये हैं, उन जीवोंको अयोगकेवली या सिद्धभगवान् कहते हैं । **भावार्थ—**जो अनंत सुखको प्राप्तकर संसारसे सर्वथा रहित होकर सिद्धि पुरको प्राप्त होगये हैं वे जीव सर्वथा लेश्याओंसे रहित होते हैं; अत एव उनको अलेश्य-सिद्ध कहते हैं ।

॥ इति लेश्याप्रश्नपणा समाप्ता ॥

क्रमप्राप्त भव्यमार्गेणाका वर्णन करते हैं ।

मविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।

तविवरीयाऽभवा संसारादोण सिज्जंति ॥ ५५६ ॥

भव्या सिद्धिर्येषां जीवानां ते भवन्ति भवसिद्धाः ।

तद्विपरीता अभव्याः संसारात् सिध्यान्ति ॥ ११६ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हों उनको भव्यसिद्ध कहते हैं । जिनमें इन दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण विद्यत न हो उन जीवोंको अभव्यसिद्ध कहते हैं । **भावार्थ—**कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्तिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती खीमें पुत्रोत्पत्तिकी योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा । कोई भव्य ऐसे हैं जो नियमसे मुक्त होंगे । जैसे बन्ध्यापनेसे रहित खीके निमित्त मिलने पर नियमसे पुत्र उत्पन्न होगा । इन दोनों स्वभावोंमें जो रहित हैं उनको अभव्य कहते हैं । जैसे बन्ध्या खीके निमित्त मिलै चाहे न मिलै; परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

जिनमें मुक्तिप्राप्तिकी योग्यता है उनको भव्यसिद्ध कहते हैं इस अर्थको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

भव्यत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ।

ण हु मलविगमे णियमा ताणं कणओवलाणमिव ॥ ५५७ ॥

भव्यत्वस्य योग्या ये जीवास्ते भवनित भवसिद्धाः ।

न हि मलविगमे णियमात् तेषां कनकोपलानामिव ॥ ५५७ ॥

अर्थ—जो जीव अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु उस सिद्धिकी कभी प्राप्त न होंगे उनको भवसिद्ध कहते हैं । इसकारके जीवोंका कर्ममल नियमसे दूर नहीं हो सकता । जैसे कनकोपलका । **भावार्थ—**ऐसे वहतुसे कनकोपल हैं जिनमें निमित्त मिलानेपर शुद्ध स्वर्णरूप होनेकी योग्यता है, परन्तु उनकी इस योग्यताकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी । अथवा जिसतरह अहमिन्द्र देवोंमें नरकादि में गमन करनेकी शक्ति है परन्तु उस शक्तिकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होती । इस ही तरह जिन जीवोंमें अनन्तचतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भवसिद्ध कहते हैं । ये जीव सदा संसारमें ही रहते हैं ।

ण य जे भव्याभव्या मुक्तिसुहातीदण्ठंतसंसारा ।

ते जीवा पायव्या णेव य भव्या अभव्या य ॥ ५५८ ॥

न च ये भव्या अभव्या मुक्तिसुखा अतीतानन्तसंसाराः ।

ते जीवा ज्ञातव्या नैव च भव्या अभव्याश्च ॥ ५५८ ॥

अर्थ—जिनका पांच परिवर्तनरूप अनन्त संसार सर्वथा कूट गया है, और जो मुक्ति-सुखके भोक्ता हैं उन जीवोंको न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इसलिये वे भव्य भी नहीं हैं । और अनन्त चतुष्टयको प्राप्त हो चुके हैं इसलिये अभव्य भी

नहीं हैं । भावार्थ—जिसमें अनंत चतुष्टयके अभिव्यक्त होनेकी योग्यता ही न हो उसको अभव्य कहते हैं । अतः ये अभव्य भी नहीं हैं; क्योंकि इन्होने अनंत चतुष्टयको प्राप्त कर लिया है । और भव्यत्वका परिपाक हो नुका अतः अपरिपक अवस्थाकी अपेक्षासे भव्य भी नहीं हैं ।

भव्यमार्गामें जीवेकी संख्या बताते हैं ।

अवरो जुत्ताण्ठंतो अभव्यरासिस्स होदि परिमाणं ।

तेण विहीणो सव्वो संसारी भव्यरासिस्स ॥ ५५९ ॥

अवरो युक्तानन्तः अभव्यराशेभवति परिमाणम् ।

तेन विहीनः सर्वः संसारी भव्यराशेः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जबन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि है । और सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे अभव्यराशिका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्यराशिका प्रमाण है । भावार्थ— भव्यराशि बहुत अधिक है और अभव्य राशि बहुत थोड़ी है । अभव्य जीव सदा पांच परिवर्तन रूप संसारसे युक्त ही रहते हैं । एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका प्राप्त होना इसको संसार-परिवर्तन कहते हैं । इस संसार अर्थात् परिवर्तनके पांच भेद हैं । द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव । द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं, एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन । यहां पर इन परिवर्तनोंका क्रमसे स्वरूप बताते हैं । किसी जीवने, द्विग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासम्भव भावोंसे युक्त, औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर सम्बन्धी छह पर्यामिलूप परिणमनेके योग्य पुद्दलोंका एक समयमें ग्रहण किया । पछे द्वितीयादि समयोंमें उस द्रव्यकी निर्जरा करदी । तथा पछे अनंतवार अग्रहीत पुद्दलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया, अनन्तवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण करके छोड़दिया, अनंतवार ग्रहीतको भी ग्रहण करके छोड़ दिया । जब वही जीव उन ही द्विग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उनहीं पुद्दलोंको जितेन समयमें ग्रहण करें उतने कालसमुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं ।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्फल्यमें हों उसको ग्रहीत कहते हैं । जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहले ग्रहण नहीं किया हो उसको अग्रहीत कहते हैं । जिस समयप्रबद्धमें दोनोंप्रकारके परमाणु हों उसको मिश्र कहते हैं । अग्रहीत परमाणु भी लोकमें अनन्तानन्त हैं; क्योंकि सम्पूर्ण जीवराशिका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध ओवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध ओवे उससे भी अनन्तगुणा पुद्दलद्रव्य है ।

इस परिवर्तनका काल अग्रहीतग्रहण ग्रहीतग्रहण मिश्रग्रहणके भेदसे तीन प्रकारका है । इसकी घटना किस तरह होती है यह अनुक्रम यन्त्रद्वारा बताते हैं ।

द्रव्यपरिवर्तन यन्त्र,

००×	००×	००१	००×	००×	००१
xx०	xx०	xx१	xx०	xx०	xx१
xx१	xx१	xx०	xx१	xx१	xx०
११×	११×	११०	११×	११×	११०

इस यन्त्रमें शून्यसे अग्रहीत, हंसपदसे (\times इस चिह्नसे) मिश्र और एकके अंकसे ग्रहीत समझना चाहिये । तथा दोवार लिखनेसे अनन्तवार समझना चाहिये । इस यन्त्रके देखनेसे स्पष्ट होता है कि निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होनुकेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, मिश्रग्रहणके बाद फिर निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण हो जुकने पर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है । इस ही क्रमसे अनन्तवार मिश्रका ग्रहण हो जुकने पर अग्रहीतग्रहणके अनंतर एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है । इसके बाद फिर उस ही तरह अनंत बार अग्रहीतका ग्रहण हो जुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है । तथा मिश्रका ग्रहण अनन्तवार होनुकने पर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण करके एकबार फिर ग्रहीतका ग्रहण होता है । इस ही क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण होता है । यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये ही प्रथम पङ्क्तिमें पहले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किये हैं । अर्थात् इस क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण होनुकने पर नोर्कम्पुद्रलपरिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है । इसके बाद दूसरे भेदका प्रारम्भ होता है । यहां पर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अग्रहीतका ग्रहण, फिर अनंतवार मिश्रका ग्रहण होने पर एक बार अग्रहीतका ग्रहण इस ही क्रमसे अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर अनंत बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस क्रमसे एकबार ग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण होनुकने पर नोर्कम्पुद्रलपरिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है । इसके बाद तीसरे भेदमें अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकबार ग्रहीतका ग्रहण होता है, फिर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकबार ग्रहीतका ग्रहण इस । क्रमसे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण हो जुकने पर अनंतवार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस तरह एकबार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही तरह अनंतवार अग्रहीतका ग्रहण होनेपर नोर्कम्पुद्रलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है । इसके बाद चौथे भेदका प्रारम्भ होता है, इसमें प्रथम ही अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकबार मिश्रका ग्रहण होता है, इसकेबाद फिर अनंतवार ग्रही-

तका ग्रहण होनेपर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है । इस तरह अनंतवार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकवार अग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस तरह एकवार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतवार अग्रहीतका ग्रहण हो जुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है । इस नतुर्य भेदके समाप्त होनुकने पर, नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारम्भके प्रथम गमयमें वर्ण गन्ध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उस ही भावसे युक्त उस शुद्ध ग्रहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है । इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं । तथा इसमें जितना काल लगे उसको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल कहते हैं ।

इस ही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है । विशेषता इतनी ही है कि जिस तरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उस ही तरह यहां पर कर्म-पुद्गलोंका ग्रहण होता है । परन्तु क्रममें कुछ भी विशेषता नहीं है । जिस तरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें होते हैं उस ही तरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें भी चार भेद होते हैं । इन चार भेदोंमें भी अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है, इससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है । इससे भी अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका जग्न्यकाल है, इससे अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है । क्योंकि प्रायःकरके उस ही पुद्गलद्रव्यका ग्रहण होता है कि जिसके साथ द्रव्य क्षेत्र काल भावका संस्कार हो जुका है । इस ही अभिप्रायसे यह सूत्र कहा है कि—

सुहमडिदिसंजुत्तं आसणं कम्मणिजरामुक्तं ।

पाएण एदि ग्रहणं दृच्चमणिद्विद्वसंठाणं ॥ १ ॥

सूक्ष्मस्थितिसंयुक्तमासत्रं कर्मनिर्जरामुक्तम् ।

प्रायेणैति ग्रहणं द्रव्यमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन कर्मरूप परिणत पुद्गलोंकी स्थिति अल्प थी अत एव पीछे निर्जर्ण होकर जिनकी कर्मरहित अवस्था होगई हो परन्तु जीवके प्रदेशोंके साथ जिनका एक्षेत्रावगाह हो तथा जिनका संस्थान (आकार) कहा नहीं जा सकता इस तरहके पुद्गल द्रव्यका ही प्रायः-करके जीव ग्रहण करता है । **भावार्थ—**यद्यपि यह नियम नहीं है कि इस ही तरहके पुद्गलका जीव ग्रहण करै तथापि बहुधा इस ही तरहके पुद्गलका ग्रहण करता है; क्योंकि यह द्रव्य क्षेत्र काल भावसे संस्कारित है ।

द्रव्यपरिवर्तनके उक्त चार भेदोंका इस गाथामें निरूपण किया है:—।

अगहिदमिस्तं गहिदं मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च ।

मिस्सं गहिदमगहिदं गहिदं मिस्सं अगहिदं च ॥ २ ॥

अग्रहीतं मिश्रं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं तथैव ग्रहीतं च ।

मिश्रं ग्रहीतमग्रहीतं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं च ॥ २ ॥

अर्थ—पहला अग्रहीत मिश्र ग्रहीत, दूसरा मिश्र अग्रहीत ग्रहीत, तीसरा मिश्र ग्रहीत अग्रहीत, चौथा ग्रहीत मिश्र अग्रहीत, इस तरह चार प्रकारसे पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर परिवर्तनके प्रारम्भ समयमें ग्रहण किये हुए पुद्गलोंका ग्रहण होता है । और तब ही एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा होता है । इसका विशेष स्वरूप पहले लिख चुके हैं । **भावार्थ—**यहाँ पर प्रकरणके अनुसार शेष चार परिवर्तनोंका भी स्वरूप लिखते हैं । क्षेत्रपरिवर्तनके दो घेद हैं, एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्वं जगन्य अवगाहनाओंको जितने उसके प्रदेश हाँ उतनीवार धारण करके पीछे क्रमसे एक २ प्रदेश अधिक २ की अवगाहनाओंको धारण करते २ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओंको जितने समयमें धारण करसके उतने काल समुदायको एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कोई जगन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य—प्रदेशोंको अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उस ही रूपसे उस ही स्थानमें दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ । इसी तरह घनाङ्कुलके असंख्यतमे भागप्रमाण जगन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं उतनीवार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और ज्वासके अठारहमे भागप्रमाण कुद्रु आयुको भेग २ कर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक २ प्रदेशके अधिकक्रमसे जितने कालमें सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाले उतने कालसमुदायको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं ।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहलीवार उत्पन्न हुआ, इस ही तरह दूसरीवार दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, तथा तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीवार उत्पन्न हुआ । इसीके क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोड़ाकोड़ी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसीके क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ, इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक कालपरिवर्तन कहते हैं ।

कोई जीव दशाहनार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जगन्य दशा हजार वर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ, पीछे एक २ समयके अधिकक्रमसे नरकसम्बन्धी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे पूर्ण कर, अन्तमुहूर्तके जितने समय हैं उतनीवार जगन्य अन्तमुहूर्तकी आयुसे तिर्यंचगतिमें उत्पन्न होकर यहांपर भी नरगतिकीतरह एक २ समयके अधिकक्रमसे तिर्यंगतिसम्बन्धी तीन पल्ल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । पीछे तिर्यंगतिकी तरह मनुष्यगतिको पूर्ण किया, क्योंकि मनुष्यगतिकी भी जगन्य अन्तमुहूर्तकी तथा उत्कृष्ट तीन पल्ल्यकी आयु है । मनुष्यगतिके बाद दशा हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जगन्य दशा हजार वर्षकी आयुसे देवगतिमें उत्पन्न होकर पीछे एक २ समयके

अधिकक्रमसे इकतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया, क्योंकि यद्यपि देवगतिसम्बन्धी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरकी है तथापि यहांपर इकतीस सागर ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागरक ही होती है । और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे ही है; यद्योंकि मम्यन्दृष्टि संसारमें अध्याद्वृद्ध विवरितनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नहीं रहता । इस क्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेमें जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं । तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसको एक भवपरिवर्तन कहते हैं ।

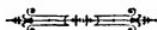
योगस्थान अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कपायाध्यवसायस्थाने स्थितिस्थान इन चारके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है । प्रकृति और प्रदेशशब्दको कारणभूत आत्माके प्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके तरतमरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं । जिन कपायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभागबन्ध होता है उनको अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं । स्थितिवन्धको कारणभूत कपायपरिणामोंको कपायाध्यवसायस्थान या स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं । बन्धरूप कर्मकी जगन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं । इनका परिवर्तन किस तरह होता है यह दृष्टान्तद्वारा नीचे लिखते हैं ।

श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है, और असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक कपायाध्यवसायस्थान होता है, तथा असंख्यातलोकप्रमाण कपायाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक स्थितिस्थान होता है । इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूलप्रकृति वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है । जैसे किसी पर्यात मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण जगन्य स्थितिका बंध होता है । यही यहांपर जगन्य स्थितिस्थान है । अतः इसके योग्य विविक्षित जीवके जगन्यही अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान जगन्य ही कपायाध्यवसायस्थान और जगन्य ही योगस्थान होते हैं । यहांसे ही भावपरिवर्तनका प्रारम्भ होता है । अर्थात् इसके आगे श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर दूसरा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है । इसके बाद फिर श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर तीसरा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है । इसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर दूसरा कपायाध्यवसायस्थान होता है । जिस क्रमसे दूसरा कपायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यातलोक प्रमाण कपायाध्यवसायस्थानोंके

१ एक ही कपायपरिणाममें दो कार्य करनेका स्वभाव है । एक स्वभाव अनुभाग बंधको कारण है, और दूसरा स्वभाव स्थिति बंधको कारण है । इनको ही अनुभागबन्धाध्यवसाय और कपायाध्यवसाय कहते हैं ।

हो जानेपर जग्न्य स्थितिस्थान होता है । जो क्रम जग्न्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक २ समय अधिक द्वितीयादि स्थितिस्थानोंमें समझना चाहिये । तथा इसी क्रमसे ज्ञानवरणके जग्न्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थिति स्थानोंके हो जानेपर, और ज्ञानवरणके स्थिति स्थानोंकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थितिस्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है । तथा इस परिवर्तनमें जितना काल लगे उसको एक भावपरिवर्तनका काल कहते हैं । इस प्रकार संक्षेपसे इन पांच परिवर्तनोंका स्वरूप यहां-पर कहा है । इनका काल उत्तरोत्तर अनन्ततुणा २ है । नानाप्रकारके दुर्लेखोंसे आकुलित पांच परिवर्तनरूप संसारमें यह जीव मिथ्यात्वके निमित्तसे अनंतकालसे भ्रमण कर रहा है । इस परिभ्रमणके कारणभूत कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी जिनमें योग्यता नहीं है उनको अभ्यव कहते हैं । और जिनमें कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी योग्यता है उनको भव्य कहते हैं ।

॥ इति भव्यत्वमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥



क्रमप्राप्त सम्यक्त्व मार्गणाका वर्णन करते हैं ।

छप्पंचणविहाणं अत्थाणं जिणवरोवद्वाणं ।

आणाए अहिगमेण य सद्वहणं होइ सम्मतं ॥ ५६० ॥

पट्पञ्चनविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम् ।

आज्ञाया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ ५६० ॥

अर्थः— छह द्रव्य पांच अस्तिकाय नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र देवने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं । यह दो प्रकारसे होता है एक तो केवल आज्ञासे दूसरा अधिगमसे । **भावार्थ—** जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं । तथा कालको तोड़कर शेष ये ही पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं । और जीव अनीव आस्तव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नव प्रकारके पदार्थ हैं । इनका 'जिनेन्द्रदेवने जैसा स्वरूप कहा है वास्तवमें वही सत्य है', इस तरह विना युक्तिसे निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं । तथा इनके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निषेप इत्यादिकेद्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं ।

छह द्रव्योंके अधिकारोंका वर्णन करते हैं ।

छद्वब्बेसु य णामं उवलक्षणवाय अत्थणे कालो ।

अत्थणखेत्तं संखाटाणसरूपं फलं च हवे ॥ ५६१ ॥

१ सभी परिवर्तनोंमें जहां क्रमभंग होगा वह गणनामें नहीं आवेगा ।

पडद्रव्येषु च नाम उपलक्षणानुवादः अस्तित्वकालः ।

अस्तित्वक्षेत्रं संख्या स्थानस्वरूपं फलं च भवेत् ॥ ५६१ ॥

अर्थ— छह द्रव्योंके निरूपण करनेमें ये सात अधिकार हैं । —नाम, उपलक्षणानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप, फल ।

प्रथमही नाम अधिकारको कहते हैं ।

जीवाजीवं द्रव्यं रूपारूपवित्ति होदि पतेयं ।

संसारतथा रूपा कर्मप्रिमुक्ता अरूपगया ॥ ५६२ ॥

जीवाजीवं द्रव्यं रूपारूपीनि भवति प्रत्येकम् ।

संसारस्था रूपिणः कर्मविमुक्ता अरूपगताः ॥ ५६२ ॥

अर्थ— द्रव्य सामान्यके दो भेद हैं । एक जीवद्रव्य द्रव्य अजीव द्रव्य । जीवद्रव्यके भी दो भेद हैं । एक रूपी दूसरा अरूपी । जिनमें संसारी जीव हैं वे सब रूपी हैं; क्योंकि उनका कर्म—पुद्गलके साथ एकत्रिवागाहसम्बन्ध है । जो जीव कर्ममें रहित होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं वे सब अरूपी हैं; क्योंकि उनमें कर्मपुद्गलका सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है ।

अजीव द्रव्यमें भी रूपीका भेद गिनते हैं ।

अजीवेषु य रूपी पुग्गलद्रव्याणि धर्म इतरोऽपि ।

आगासं कालोऽपि य चत्तारि अरूपिणो होति ॥ ५६३ ॥

अर्जीवेषु च रूपीणि पुद्गलद्रव्याणि धर्म इतरोऽपि ।

आकाशं कालोपि च चत्तारि अरूपीणि भवन्ति ॥ ५६३ ॥

अर्थ— अजीव द्रव्यके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म, अर्थम्, आकाश, काल । इनमें एक पुद्गल द्रव्य रूपी है । और शेष धर्म अर्थम्, आकाश, काल ये चार द्रव्य अरूपी हैं ।

उपलक्षणानुवाद अधिकारको कहते हैं ।

उवजोगो वर्णचञ्चलं लक्षणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।

गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धर्मचञ्च ॥ ५६४ ॥

उपयोगो वर्णचतुष्कं लक्षणमिह जीवपुद्गलानां तु ।

गतिस्थानावगाहवर्तनक्रियोपकारस्तु धर्मचतुर्णामि ॥ ५६४ ॥

अर्थ— ज्ञानदर्शनरूप उपयोग जीवद्रव्यका लक्षण है । वर्ण गन्ध रस स्पर्श यह पुद्गलद्रव्यका लक्षण है । जो जीव और पुद्गलद्रव्यको गमन करनेमें सहकारी हो उसको धर्म-द्रव्य कहते हैं । जो जीव तथा पुद्गलद्रव्यको ठहरनेमें सहकारी हो उसको अर्थमें द्रव्य कहते हैं । जो सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देनेमें सहायक हो उसको आकाश कहते हैं । जो समस्त द्रव्योंके अपने २ स्वभावमें वर्तनेका सहकारी है उसको कालद्रव्य कहते हैं ।

**गदिठाणोगगहकिरिया जीवाणं पुणगलाणमेव हवे ।
धम्मतिये णहि किरिया मुकखा पुण साधका होति ॥ ५६५ ॥**

गतिस्थानवगाहकिया जीवानां पुद्गलानमेव भवेत् ।

धर्मत्रिके नहि किया मुख्यः पुनः साधका भवन्ति ॥ ५६९ ॥

अर्थ— गमन करनेकी या ठहरनेकी अथवा रहनेकी किया जीवद्रव्य या पुद्गलद्रव्यकी ही होती है । धर्म अधर्म आकाशमें ये किया नहीं होती, क्योंकि न तो इनके स्थान चलायमान होते हैं, और न प्रदेश ही चलायमान होते हैं । किन्तु ये तीनों ही द्रव्य जीव पुद्गलकी उक्त तीनों कियाओंके मुख्य साधक हैं । **भावार्थ—** मुख्य साधक कहनेका अभिप्राय यह नहीं है कि धर्मादि द्रव्य जीव पुद्गलको गमन आदि करनेमें प्रेरक हैं; किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय जीव या पुद्गल गति आदिमें परिणत हों उस समय उनकी गति आदिमें सहकारी होना धर्मादि द्रव्यका मुख्य कार्य है ।

गति आदिमें धर्मादि द्रव्य किसतरह सहायक होते हैं यह दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं ।

जचस्स पहुं ठचस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा ।

गदिठाणोगगहकरणे धम्मतियं साधगं होदि ॥ ५६६ ॥

यातम्य पन्थः तिष्ठतः आसनं निवासकस्य वसतिर्वा ।

गतिस्थानवगाहकरणे धर्मत्रियं साधकं भवति ॥ ५६६ ॥

अर्थ— गमन करनेवालेको मार्गकी तरह धर्म द्रव्य जीवपुद्गलकी गतिमें सहकारी होता है । ठहरनेवालेको आसनकी तरह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी होता है । निवासकरनेवालेको मकानकी तरह आकाशद्रव्य जीव पुद्गल आदिको अवगाह देनेमें सहकारी साधक होता है ।

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु ।

कालाधारेणेव य वड्डन्ति हु सव्वदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

वर्तनाहेतुः कालो वर्तनागुणमवेहि द्रव्यनिचयेषु ।

कालाधारेणैव च वर्तन्ते हि सव्वदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

अर्थ— सम्पूर्ण द्रव्योंका यह स्वभाव है कि वे अपने ३ स्वभावमें सदा ही वर्ते । परन्तु उनका यह वर्तना किसी बाह्य सहकारीके विना नहीं हो सकता इसलिये इनको वर्तनेवाला सहकारी कारणरूप वर्तनागुण जिसमें पाया जाय उसको काल कहते हैं, क्योंकि कालके आश्रयसे ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं ।

मूर्तिके जीव पुद्गलके वर्तनेका सहकारी कारण होना काल द्रव्यमें सम्भव है, परन्तु धर्मादिक अमूर्तिक तथा व्यापक द्रव्योंमें किसतरह घटित होसकता है? इस शङ्काका समाधान करते हैं ।

धर्माधर्मादीणं अगुरुगुलहुगं तु छहिं वि बड़ीहिं ।
हाणीहिं वि बड़तो हायंतो बड़दे जहा ॥ ५६८ ॥

धर्माधर्मादीनामगुरुकलयुकं तु षड्भिरपि वृद्धिभिः ।

हानिभिरपि वर्धमानं हीयमानं वर्तते यस्मात् ॥ ९६८ ॥

अर्थ—धर्मादिक द्रव्योंमें अगुरुलघु नामका एक गुण है । इस गुणमें तथा इसके निमित्तसे धर्मादिक द्रव्यके लेप गुणोंमें छह प्रकारकी वृद्धि तथा छह प्रकारकी हानि होती है । और इन वृद्धि हानिके निमित्तसे वर्धमान तथा हीयमान धर्मादि द्रव्योंमें वर्तना सम्भव है । **भावार्थ—**धर्मादि द्रव्योंमें स्वसत्त्वाका नियामक कारणभूत अगुरुलघु गुण है । इसके अनन्तनानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि, तथा अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनन्तगुणहानि ये छह हानि होती हैं । तथा इस गुणके निमित्तसे दूसरे गुणोंमें भी ये हानि वृद्धि होती हैं । इसलिये धर्मादि द्रव्योंके इस परिणमनका भी बाह्य सहकारी कारण मुख्य काल द्रव्य ही है ।

वर्तनाका कारण कालद्रव्य किसतरह है यह स्पष्ट करते हैं ।

ण य परिणमादि सयं सो ण य परिणमेऽह अण्णमणेहिं ।

विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥ ५६९ ॥

न न परिणमति स्वयं स नन्परिणमयति अन्यदन्यैः ।

विविहपरिणामिकानां भवति हि कालः स्वयं हेतुः ॥ ९६९ ॥

अर्थ—परिणामी होनेसे कालद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है, वह न तो स्वयं दूसरे द्रव्यरूप परिणत होता है, और न दूसरे द्रव्योंको अपने स्वरूप अपना भिन्नद्रव्यस्वरूप परिणामाता है; किन्तु अपने स्वभावसे ही अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होनेवाले द्रव्योंके परिणमनमें कालद्रव्य उदासीनतासे स्वयं बाह्य सहकारी होजाता है ।

कालं अस्सिय द्रव्यं सगसगपज्जायपरिणदं होदि ।

पज्जायावदाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं ॥ ५७० ॥

कालमश्चित्य द्रव्यं स्वक्षकपर्यायपरिणतं भवति ।

पर्यायावस्थानं शुद्धनयेन भवति क्षणमात्रम् ॥ ९७० ॥

अर्थ—कालके आश्रयसे प्रत्येक द्रव्य अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होता है ।

इन पर्यायोंकी स्थिति शुद्धनयसे एक क्षण मात्र रहती है ।

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पञ्जओति एयटुो ।

ववहारअवद्वाणटिदी हु ववहारकालो दु ॥ ५७१ ॥

व्यवहारश्च विकल्पो भेदस्तथा पर्याय इत्येकार्थः ।

व्यवहारावस्थानस्थितिर्हि व्यवहारकालस्तु ॥ ५७१ ॥

अर्थ—व्यवहार विकल्प भेद पर्याय इन शब्दोंका एक ही अर्थ है । व्यंजनपर्यायके ठहरनेका जितना काल है उतने कालको व्यवहारकाल कहते हैं ।

अवरा पञ्जायटिदी स्तणमेत्तं होदि तं च समओति ।

दोण्हमण्णूणमदिक्मकालप्रमाणं हवे सो दु ॥ ५७२ ॥

अवरा पर्यायस्थितिः क्षणमात्रं भवति सा च समय इति ।

द्वयोण्वोरिक्रमकालप्रमाणं भवेत् स तु ॥ ५७२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंकी पर्यायकी जगत्न्य स्थिति एक क्षणमात्र होती है, इसीको समय भी कहते हैं । दो परमाणुओंके अतिक्रमण करनेके कालका जितना प्रमाण है उसको समय कहते हैं । भावार्थ—समीपमें स्थित दो परमाणुओंमेंसे मंद गमनरूप परिणित होकर जितने कालमें एक परमाणु दूसरी परमाणुका उल्लंघन करै उतने कालको एक समय कहते हैं । इतनी ही प्रत्येक पर्यायकी जगत्न्य स्थिति है ।

प्रकारानन्तरसे समयका प्रमाण बताते हैं ।

ण्डभएयपयेसत्थो परमाणु खंडगइपवडुतो ।

बीयमण्णंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो ॥ १ ॥

नभएकप्रदेशस्थः परमाणुर्मन्दगतिप्रवर्तमानः ।

द्वितीयमनन्तरखेत्तं यावत् याति सः समयकालः ॥ १ ॥

अर्थ—आकाशके एक प्रदेशपर स्थित एक परमाणु मन्दगतिके द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेशपर जितने कालमें प्राप्त हो उतने कालको एक समय कहते हैं ।

प्रदेशका प्रमाण बताते हैं ।

जेत्तीवि खेत्तमेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च ।

तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥ २ ॥

यावद्वपि क्षेत्रमात्रमणुना रुद्धं खलु गगनद्रव्यं च ।

स च प्रदेशो भणितः अपरपरकारणं यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—जितने आकाशद्रव्यमें पुद्रलका एक अविभागी परमाणु आजाय उतने क्षेत्र-मात्रको एक प्रदेश कहते हैं । इस प्रदेशके निमित्तसे ही आगे पीछेका अथवा दूर समी-

पका व्यवहार सिद्ध होता है । भावार्थ—अमुक पदार्थ अमुक पदार्थने आगे है और अग्रक पदार्थ पीछे है । अथवा अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके ममीप है और अमुक पदार्थमें पूर है इस व्यवहारको सिद्ध करनेवाला प्रदेशनिभाग ही है ।

व्यवहारकालका निरूपण करते हैं ।

**आवलिअसंखसमया संखेजावलिसमहमुस्सासो ।
सत्तुस्सासा थोवो सचत्थोवा लवो भणियो ॥ ५७३ ॥**

आवलिमंसंख्यसमया संख्येयावलिसमूह उच्चासः ।

ममोच्चासः स्तोकः सप्तमोक्तो लवो भणितः ॥ ५७३ ॥

अर्थ—असंख्यातसमयकी एक आवली होती है । संख्यात आवलीका एक उच्चास होता है । सात उच्चासका एक स्तोक होता है । सात स्तोकका एक लव होता है । उच्चासका स्वरूप क्षेपक गाथाद्वारा बताते हैं ।

**अद्वस्स अणलस्स य णिरुवहदस्स य हवेजज जीवस्स ।
उस्सासाणिस्सासो एसो पाणोत्ति आहीदो ॥ १ ॥**

आवलिस्यानलस्य न निरूपहतस्य च भवेत् जीवस्य ।

उच्चासनिःश्वाम एकः प्राण इति आस्यातः ॥ १ ॥

अर्थ—सुखी, आलस्यरहित, रोग पराशीनता चिन्ता आदिसे रहित जीवके संख्यात-आवलीके समूहरूप एक शासोच्चास प्राण होता है । भावार्थ—दुःखी आदि जीवके संख्यात आवलीप्रमाण कालके पहले भी शासोच्चास हो जाता है । इसलिये यहां पर मुख्यी आदि विशेषणोंसे युक्त जीवका ग्रहण किया है ।

अद्वत्तीसद्वलवा नाली वेनालिया मुहुर्तं तु ।

एगसमयेण हीर्णं भिण्णमुहुर्तं तदो सेसं ॥ ५७४ ॥

अष्टविंशदर्शवा नाली द्विनालिको मुहूर्तस्तु ।

एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तस्ततः शेषः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—साडे अड़तीस लवकी एक नाली (वडी) होती है । दो वडीका एक मुहूर्त होता है । इसमें एक समय कम करनेसे भिन्नमुहूर्त अथवा अन्तमुहूर्त होता है । तथा इसके आगे दो तीन चार आदि समय कम करनेसे अन्तमुहूर्तके भेद होते हैं ।

जघन्य और उत्कृष्ट अन्तमुहूर्तका प्रमाण क्षेपक गाथाके द्वारा बताते हैं ।

ससमयमावलि अवरं समअणमुहुर्तयं तु उक्तसं ।

मज्ज्वासंखवियप्यं वियाण अंतोमुहुर्तमिणं ॥ १ ॥

सप्तमय आवलिरवरः समयोनमुहूर्तकस्तु उत्कृष्टः ।

मध्यासंस्थयिविकल्पः विजानीहि अन्तर्मुहूर्तमिमम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक समयसहित आवलीप्रमाण कालको जग्रन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । एक समय कम मुहूर्तको उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । इन दोनोंके मध्यके असंस्थ्यात भेद हैं । उन सबको भी अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिये ।

दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।

संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि व्यवहारो ॥ ५७५ ॥

दिवसः पक्षो मास ऋतुरयनं वर्षमेवमादिहि ।

संस्थेयासंस्थेयेयानन्ता भवन्ति व्यवहारः ॥ ५७६ ॥

अर्थ—तीस मुहूर्तका एक दिवस (अहोरात्र) पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयण, दो अयनका एक वर्ष इत्यादि व्यवहार कालके आवलीसे लेकर संस्थ्यात असंस्थ्यात अनन्त भेद होते हैं ।

व्यवहारो पुण कालो माणुसेवेत्तम्हि जाणिदद्वयो दु ।

जोइसियाणं चारे व्यवहारो खलु समाणोन्ति ॥ ५७६ ॥

व्यवहारः पुणः कालः मानुषक्षेत्रे ज्ञातव्यस्तु ।

ज्योतिष्काणां चारे व्यवहारः खलु समान इति ॥ ५७६ ॥

अर्थ—परन्तु यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्रमें ही समझना चाहिये; क्योंकि मनुष्य-क्षेत्रके ही ज्योतिषी देवोंके विमान गमन करते हैं, और इनके गमनका काल तथा व्यवहार काल दोनों समान हैं ।

प्रकारान्तरसे व्यवहारकालका प्रमाण बताते हैं ।

व्यवहारो पुण तिविहो तीदो वडुतगो मविस्सो दु ।

तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥ ५७७ ॥

व्यवहारः पुनर्खिनिशोऽतीतो वर्तमानो भविष्यस्तु ।

अतीतः संस्थेयावलिहदसिद्धानां प्रमाणं तु ॥ ५७७ ॥

अर्थ—व्यवहार कालके तीन भेद हैं । भूत वर्तमान भविष्यत् । सिद्धराशिका संस्थ्यात आवलीके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत कालका प्रमाण है ।

समओ हु वट्ठमाणो जीवादो सव्वपुणगलादो वि ।

भावी अणंतगुणिदो इदि व्यवहारो हवे कालो ॥ ५७८ ॥

समयो हि वर्तमानो जीवात् सर्वपुदलादपि ।

भावी अनंतगुणित इति व्यवहारो भवेत्कालः ॥ ५७८ ॥

अर्थ—वर्तमान कालका प्रमाण एक समय है । सम्पूर्ण जीवरांति तथा मनस्तु पुद्गलद्वयराशिसे अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है । इस प्राक्षार व्यवहार कालके तीन भेद होते हैं ।

कालोविय ववरेसो सद्भावपरुवओ हवदि णिचो ।

उत्पण्णपद्मंसी अवरो दीहंतरद्वाई ॥ ५७९ ॥

कालोऽपि च व्यपदेशः मद्वाप्ररूपको भवति नित्यः ।

उत्पन्नप्रवंसी अपरो दीर्घन्तरस्थायी ॥ ५७९ ॥

अर्थ—काल यह व्यपदेश (संज्ञा) मुख्यकालका बोधक है; क्योंकि विना मुख्यके गौण अथवा व्यवहारकी भी प्रवृत्ति नहीं होसकती । यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पन्नधंसी है । तथा व्यवहारकाल वर्तनकी अपेक्षा उत्पन्नधंसी है और भूत भविष्यत्की अपेक्षा दीर्घन्तरस्थायी है ।

क्रमप्राप्त स्थिति अधिकारका वर्णन करते हैं ।

छद्ववावद्वाणं सरिसं तियकाल अत्थपज्जाये ।

वेंजनपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदिचादो ॥ ५८० ॥

षड्द्रव्यवस्थानं सद्वशं त्रिकालार्थपर्याये ।

व्यंजनपर्याये वा मिलिते तेषां स्थितित्वात् ॥ ५८० ॥

अर्थ—अवस्थान=स्थिति छहों द्रव्योंकी समान है । क्योंकि त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यंजनपर्यायके मिलनेसे ही उनकी स्थिति होती है । भावार्थ छहों द्रव्य अनादिनिभन हैं; क्योंकि कथनित द्रव्य पर्यायोंसे भिन्न कुछ भी चीज़ नहीं है । और इन पर्यायोंके दो भेद हैं, एक व्यंजनपर्याय दूसरी अर्थपर्याय । वागोचर-वचनके विषयभूत स्थूलपर्यायको व्यंजनपर्याय कहते हैं, और वचनके अगोचर सूक्ष्म पर्यायोंको अर्थपर्याय कहते हैं । ये दोनोंही पर्याय पर्यायत्वकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती अर्थात् अनादिनिभन हैं ।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

एयद्वियमिमि जे अस्थपज्जया वियणपज्जया चावि ।

तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥ ५८१ ॥

एकद्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यञ्जनपर्यायाश्चापि ।

अतीतानगतभूतः तावत्तत् भवति द्रव्यम् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—एक द्रव्यमें जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यञ्जनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है । भावार्थ—त्रिकाल सम्बन्धी संस्थानस्वरूप (आकाररूप) प्रदेशवस्तुगुणकी पर्याय—व्यञ्जनपर्याय, तथा प्रदेशवस्तुगुणको ढोड़कर शेषगुणोंकी त्रिकालसम्बन्धी

समस्तपर्याय (अर्थपर्याय) इनका जो समूह है वही द्रव्य है । त्रिकालवर्ती पर्यायोंको ओड़कर द्रव्य कोई चीज़ नहीं है ।

इस प्रकार स्थिति अधिकारका वर्णन करके क्रमके अनुसार क्षेत्र अधिकारका वर्णन करते हैं ।

आगासं वज्जिता सब्वे लोगम्भि चेव णतिथ वहिं ।

वावी धम्माधम्मा अवट्टिदा अचलिदा णिञ्चा ॥ ५८२ ॥

आकाशं वर्गवित्वा सर्वाणि लोके चैव न सन्ति चाहि: ।

द्वयिपनो धर्माधर्मां अवस्थितावचिलतौ नित्यौ ॥ ९८२ ॥

अर्थ— आकाशको ओड़कर शेष समस्तद्रव्य लोकमें ही हैं—बाहर नहीं हैं । तथा धर्म और अवर्मद्रव्य व्यापक हैं, अवस्थित हैं, अनालित हैं, और नित्य हैं । **भावार्थ—** आकाश-द्रव्यके दो भेद हैं, एक लोक दूसरा अलोक । जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल पाया जाय उतने आकाशको लोक कहते हैं । इसके बाहर जितना अनन्त आकाशद्रव्य है उसको अलोक कहते हैं । धर्म अवर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें तिलमें तैलकी तरह व्याप्त है । तथा ये दोनों ही द्रव्य आकाशके जिन प्रदेशोंमें स्थित हैं उनहीं प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं । जीवादिकी तरह एक स्थानको ओड़कर दूसरे स्थानमें गमन नहीं करते । और अपने स्थानपर रहते हुए भी इनके प्रदेश जलकलोलकी तरह सकम्प नहीं होते हैं और न ये दोनों द्रव्य कभी अपने स्वरूपसे च्युत होते हैं । अर्थात् न तो इनमें विभाव पर्याय होती है और न इनका कभी सर्वाणि अभाव ही होता है ।

लोगस्स असंखेज्जिदभागपद्गुदि तु सब्वलोगोचि ।

अप्पपदेशविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८३ ॥

लोकस्यासंहेयेयादिभागप्रभृतितु सर्वलोक इति ।

आत्मप्रदेशविसप्पणसंहारे व्यापृतो जीवः ॥ ९८३ ॥

अर्थ— एक जीव अपने प्रदेशोंके संहारविसर्पकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतर्कमें व्याप्त होकर रहता है । **भावार्थ—** आत्मामें प्रदेशसंहारविसर्पत्व गुण है । इसके निमित्तसे उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं । इसलिये एक जीवका क्षेत्र शरीरप्रमाणकी अपेक्षा अङ्गुलके असंख्यातमे भागसे लेकर हजार योजन तकका होता है । इसके आगे समुद्घातकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भाग, संख्यातमे भाग, तथा सम्पूर्ण लोकप्रमाण भी होता है ।

पोगगलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होति भजणिजा ।

एकेको दु पदेसे कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८४ ॥

पुद्गलद्रव्याणां पुनरेकप्रदेशादयो भवन्ति भजनीयाः ।
एकैकस्तु प्रदेशः कालाणां ध्रुवो भवति ॥ ९८४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यका क्षेत्र एकप्रदेशमें लेकर यथासम्भव समझना नाहिये—जैसे परमाणुका एक प्रदेशप्रमाण ही क्षेत्र है, तथा व्यणुकका एक प्रदेश और दो प्रदेश भी क्षेत्र है, व्यणुकका एक प्रदेश दो प्रदेश तीन प्रदेश क्षेत्र है, इत्यादि । किन्तु एक २ कालाणुका क्षेत्र एक २ प्रदेश ही निश्चित है । **भावार्थ—**कालद्रव्य अणुरूप ही है । कालाणुके पुद्गलद्रव्यकी तरह स्कूल्य नहीं होते । जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतनी ही कालाणु हैं । इस लिये रूत्नराशिकी तरह एक २ कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर ही सदा स्थित रहती है । तथा जो कालाणु जिस प्रदेशपर स्थित है वह उसी प्रदेशपर सदा स्थित रहती है । किन्तु पुद्गल द्रव्यके स्कूल्य होते हैं अतः उसके अनेक प्रकारके क्षेत्र होते हैं ।

संखेजासंखेजाणंता वा होति पोग्गलपदेसा ।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्तु हवे ॥ ५८५ ॥

संस्येगासंस्येगानन्ता वा भवन्ति पुद्गलप्रदेशाः ।

लोकाकाश एव स्थितिरेकप्रदेशोऽर्थेत् ॥ ९८६ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके स्कूल्य संस्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके हैं, परन्तु उन सबकी स्थिति लोकाकाशमें ही होनाती है; किन्तु अणु एक ही प्रदेशमें रहता है । **भावार्थ—**निस तरह जलसे अच्छीतरह भरे हुए पात्रमें लवण आदि कई पदार्थ आसकते हैं उसी तरह असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंतप्रदेशी स्कूल्य आदि समा सकते हैं ।

लोगागासपदेसा छव्वेहि फुडा सदा होति ।
सब्बमलोगागासं अणेहि विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥

लोकाकाशप्रदेशः फुडद्रव्यः स्फुटाः सदा भवन्ति ।

सर्वमलोकाकाशमन्यैर्विवर्जितं भवति ॥ ९८६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें छहों द्रव्य व्याप्त हैं । और अलोकाकाश आकाशको छोड़कर शेषद्रव्योंसे सर्वथा रहित है ।

इस तरह क्षेत्र अधिकारका वर्णन करके संख्या अधिकारको कहते हैं ।

जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुरगला हु ततो दु ।

धर्मतियं एकेकं लोगपदेसप्यमा कालो ॥ ५८७ ॥

जीवा अनन्तसंख्या अनन्तगुणाः पुद्गला हि ततम्तु ।

धर्मत्रिकेकैकं लोकप्रदेशप्रमः कालः ॥ ९८७ ॥

अर्थ—जीव द्रव्य अनन्त हैं। उसमें अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। धर्म अर्धम आकाश ये एक २ द्रव्य हैं। तथा लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं।

लोगागासपदेसे एकेके जेहिया हु एकेका ।

रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥ ५८८ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिता हि एकैके ।

रत्नानां राशिरित ते कालाणवो मन्तव्याः ॥ ९८८ ॥

अर्थ—वे कालाणु रत्नराशिकी तरह लोकाशके एक २ प्रदेशमें एक २ स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिये। **भावार्थ**—निस्तरह रत्नोंकी राशि भिन्न २ स्थित रहती है उसी तरह प्रत्येक कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर भिन्न २ स्थित है। इसी लिये जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं।

ववहारो पुण कालो पोगलदव्वादणंतगुणमेत्तो ।

तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंखा ॥ ५८९ ॥

व्यवहारः पुनः कालः पुद्गलद्रव्यादनन्तगुणमात्रः ।

ततः अनन्तगुणिता आकाशप्रदेशपरिसंख्या ॥ ९८९ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके प्रमाणसे अनन्तगुणा व्यवहारकालका प्रमाण है। तथा व्यवहार कालके प्रमाणसे अनन्तगुणी आकाशके प्रदेशोंकी संख्या है।

लोगागासपदेसा धम्माधम्मेगजीवग गदेसा ।

सरिसा हु पदेसो पुण परमाणु अवट्टिदं खेत्तं ॥ ५९० ॥

लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवगप्रदेशाः ।

सट्टशा हि प्रदेशः पुनः परमाणवस्थितं क्षेत्रम् ॥ ९९० ॥

अर्थ—धर्म, अर्थम, एक जीवद्रव्य, तथा लोकाकाश, इनकी प्रदेशमें व्यवहार समान है। जितने क्षेत्रको एक पुद्गलका परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रको प्रदेश कहते हैं। स्थानस्वरूपाधिकारका वर्णन करते हैं।

सव्वमरुवी दव्वं अवट्टिदं अचलिआ पदेसा वि ।

रुवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥ ५९१ ॥

सर्वमरुपि द्रव्यमवस्थितमचलिताः प्रदेशा अपि ।

रुपिणो जीवाश्चलिताश्चिकित्या भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ९९१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अरुपी द्रव्य जहां स्थित हैं वहां ही सदा स्थित रहते हैं, तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते। किन्तु रुपी (संसारी) जीवद्रव्य चल हैं, तथा इनके प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं। **भावार्थ**—धर्म, अर्थम आकाश काल और मुक्त जीव ये

अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते, तथा एक स्थान पर ही रहते हुए भी इनके प्रदेश कभी सकम्प नहीं होते । किन्तु संसारी जीवोंके प्रदेश तीन प्रभारके होते हैं । चल भी होते हैं, अचल भी होते हैं, तथा चलाचल भी होते हैं । विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रदेश चल ही होते हैं । अयोगकेवलियोंके प्रदेश अचल ही होने हैं । और शेष जीवोंके प्रदेश चलाचल होते हैं ।

पोगलदव्वमिह अणु संखेज्ञादी हवंति चलिदा हु ।
चरिममहक्खंधमिम य चलाचला हांति हु पदेसा ॥ ५९२ ॥

पुद्गलद्वयेऽग्नवः संस्थातादग्ने भवति चलिता हि ।

चरममहास्कन्धे च चलाचला भवन्ति हि प्रदेशः ॥ ९९२ ॥

अर्थ—पुद्गलद्वयमें परमाणु तथा संस्थात असंस्थात आदि अणुके जितने स्कन्ध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अन्तिम महास्कन्ध चलाचल है; क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल हैं और कोई परमाणु अचल हैं ।

परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्वयके तेईस भेदोंको दो गायाओंमें गिनाते हैं ।

अणुसंखासंखेज्ञाणंता य अगेजागेहिं अंतरिया ।

आहारतेजभासामणकम्मद्या धुवक्खंधा ॥ ५९३ ॥

सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा ।

बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥ ५९४ ॥

अणुसंस्थासंस्थातानन्ताश्च अग्राहकमिरन्तरितः ।

आहारतेजोभासामनःकर्मणा ध्रुवस्कन्धाः ॥ ९९३ ॥

सान्तरनिरन्तरया च शून्या प्रत्येकदेहधुवशून्याः ।

वादरणिगोदशून्याः सूक्ष्मनिगोदा नभो महास्कन्धाः ॥ ९९४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्वयके तेईस भेद हैं । अणुवर्गणा, संस्थाताणुवर्गणा, असंस्थाताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राहवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राद्वर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राद्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राहवर्गणा, कर्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरणिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा ।

इन वर्गणाओंके जनन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद तथा इनका अस्पन्दहुत्व बताते हैं ।

परमाणुवग्गणमिम ण अवरुक्तसं च सेसगे अतिथि ।

गेज्ञामहक्खंधाणं वरमहियं सेसगं गुणियं ॥ ५९५ ॥

परमाणुर्वर्गणायां नावरोत्कृष्टं च शेषके अस्ति ।

ग्राह्यमहास्कन्धानां वरमधिकं शेषकं गुणितम् ॥ १९९ ॥

अर्थ— तेर्वेस प्रकारकी वर्गणाओंमें से अणुर्वर्गणामें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । शेष वाईस जातिकी वर्गणाओंमें जघन्य उत्कृष्ट भेद है । तथा इन वाईस जातिकी वर्गणाओंमें भी आहारवर्गण, तैजसवर्गण, भाषावर्गण, मनोवर्गण, कार्मणवर्गण, ये पांच ग्राह्य वर्गण और एक महास्कन्ध वर्गण इन छह वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद प्रतिभागकी अपेक्षासे हैं । किन्तु शेष सोलह जातिकी वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद गुणकारकी अपेक्षासे हैं ।

पांच ग्राह्यवर्गणाओंका तथा अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभागका प्रमाण बताते हैं ।

सिद्धाण्ठिमभागो पडिमागो गेज्ञगाण जेडुङ् ।

पलासंखेज्जदियं अंतिमखंधस्स जेडुङ् ॥ ५९६ ॥

मिद्धानन्तिमभागः प्रतिभागो ग्राह्याणां ज्येष्ठार्थम् ।

पल्यासंस्लेयमन्तिमस्कन्धस्य ज्येष्ठार्थम् ॥ ५९६ ॥

अर्थ— पांच ग्राह्यवर्गण आंका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभागका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमें भाग है । और अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभागका प्रमाण पल्यके असंख्यातमें भाग है । भावार्थ—सिद्धराशिके अनन्तमें भागका अपने २ जघन्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अपने २ जघन्यमें मिलानेसे पांच ग्राह्य वर्गणाओंके अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है । और अन्तिम महास्कन्धके जघन्य भेदमें पल्यके असंख्यातमें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको जघन्यके प्रमाणमें मिलानेसे महास्कन्धके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है ।

संखेजासंखेजे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते ।

चत्तारि अगेजेसु वि सिद्धाण्ठमाणंतिमो भागो ॥ ५९७ ॥

संस्त्यातासंस्त्यातायां गुणकारः स तु भवति हि अनन्तायाम् ।

नतसूपु अग्राह्याम्बपि सिद्धानामनन्तिमो भागः ॥ ५९७ ॥

अर्थ— संस्त्यातासंस्त्यातायां गुणकारका प्रमाण अपने २ उत्कृष्टमें अपने २ जघन्यका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है । इस गुणकारके साथ अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है । और अनन्ताणुर्वर्गण तथा चार अग्राह्यवर्गणाओंके गुणकारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमें भागमात्र है । इस गुणकारके साथ अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है ।

जीवादोणंतगुणो ध्रुवादितिणं असंखभागो द ।
पल्लस्स तदो तत्तो असंखलोगवहिदो मिच्छां ॥ ५९८ ॥

जीवादन्तगुणो ध्रुवादितिसृष्टामसंख्यभागस्तु ।

पल्यस्य ततस्ततः असंख्यलोकावहिता मिश्या ॥ ५९९ ॥

अर्थ—ध्रुवर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, इन तीन वर्गाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये गुणकारक प्रमाण जीवराशिसे अनन्तगुणा है। तथा प्रत्येकशरीर वर्ग-णाका गुणकार पल्यके असंख्यातमे भाग है। और ध्रुवशून्यवर्गणाका गुणकार, मिश्याद्वायि जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है। इस गुणकारके साथ जनन्य भेदका गुणा करनेसे उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है।

सेढीं सूईं पछा जगपदरा संखभागगुणगारा ।

अष्टपृष्ठावरादो उक्स्से होंति णियमेण ॥ ५१९ ॥

त्रिणीं सूचीं पल्यजगत्प्रतरासंख्यभागगुणकाराः ।

आत्मात्मनोवरादुक्षेऽभवन्ति नियमेन ॥ ५१९ ॥

अर्थ—बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा इन चार वर्ग-णाओंके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकालनेके लिये गुणकारका प्रमाण क्रमसे जगच्छ्रेणीका असंख्यातमा भाग, सूक्ष्मयुक्ता असंख्यातमा भाग, पल्यका असंख्यातमा भाग, जगत्प्रतरका असंख्यातमा भाग है। अपने २ गुणकारके प्रमाणसे अपने २ जनन्यका गुणा करनेसे अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है। भावार्थ—यहां पर पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंका एक-पङ्किकी अपेक्षा वर्णन किया है। जिनको नानापङ्किकी अपेक्षा इन वर्गणाओंका स्वरूप जानना हो वे बड़ी टीकामें देख लें। किसी भी वर्तमान एक कालमें उक्त तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन २ सी वर्गणा कितनी २ पाई जाती हैं, इस अपेक्षाको लेकर जो वर्णन किया जाता है उसको नाना पङ्किकी अपेक्षा वर्णन कहते हैं।

हेद्विमउक्स्सं पुण रूवहियं उवरिमं जहणं सु ।

इदि तेवीसवियप्पा पुगलदव्वा हु जिणदिव्वा ॥ ६०० ॥

अघस्तनोत्कृष्टं पुनः रूपाधिकमुपरिमं जनन्यं खलु ।

इति त्रयोविंशतिविकल्पानि पुद्गलद्रव्याणि हि जिनदिष्टानि ॥ ६०० ॥

अर्थ—तेईस वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणाको छोड़कर शेष चार्दस वर्गणाओंमें नीचेकी वर्गणके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे आगे की वर्गणके जनन्य भेदका प्रमाण होता है। जैसे संख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे असंख्याताणुवर्गणाका जनन्य भेद होता है। और असंख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदमें एक मिलानेसे

अनन्ताणुवर्गीणाका जगत्य भेद होता है । इसी तरह आगे भी समझना । इसी क्रमसे पुद्गल-द्रव्यके वाईस भेद होते हैं; किन्तु एक अणुवर्गीणाको मिलानेसे पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद होते हैं यह जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

प्रकारान्तसे हेनेगाले पुद्गलद्रव्यके छह भेदोंके वृष्टान्त दिखाते हैं ।

पुढ़वी जलं च छाया चउरिंदियविषयकम्परमाणु ।
छविवहभेयं भणियं पोगगलदब्बं जिणवरेहिं ॥ ६०१ ॥

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्दियविषयकर्मपरमाणवः ।

पड़िधभेदं भणितं पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यको जिनेन्द्र देवने छह प्रकारका बताया है । जैसे १ पृथ्वी २ जल ३ छाया, ४ नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंका विषय, ५ कर्म, ६ परमाणु ।

इन छह भेदोंकी क्या २ संज्ञा है यह बताते हैं ।

बादरबादर बादर बादरसुहमं च सुहमस्थूलं च ।

सुहमं च सुहमसुहमं च धरादियं होदि छब्बेयं ॥ ६०२ ॥

बादरबादरं बादरं बादरसूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च ।

सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति पद्मेदम् ॥ ६०२ ॥

अर्थ—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म, इस तरह पुद्गलद्रव्यके छह भेद हैं, जैसे उक्त पृथ्वी आदि । भावार्थ—जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादरबादर कहते हैं, पृथ्वी का छष्ट पाषाण आदि । जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादर कहते हैं जैसे जल तैल आदि । जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण कुछ भी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको बादरसूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप, चांदनी आदि । नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषयभूत पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं, जैसे शब्द गन्ध रस आदि । जिसका किसी इन्द्रियके द्वारा प्रहण न हो सके उस पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्म कहते हैं, जैसे कर्म । जो स्कन्धरूप नहीं हैं ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओंको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं ।

खंधं सयलसमत्थं तस्स य अङ्गं भणाति देसोत्ति ।

अङ्गङ्गं च पदेसो अविभागी चेव परमाणु ॥ ६०३ ॥

स्कन्धं सकलसमर्थं तस्य चार्घं भणन्ति देशमिति ।

अङ्गङ्गं च प्रदेशमविभागिनं चैव परमाणुम् ॥ ६०३ ॥

अर्थ—जो सर्वीशमें पूर्ण है उसको स्कन्ध कहते हैं । उसके आधेको देश और आधेके आधेको प्रदेश कहते हैं । जो अविभागी है उसको परमाणु कहते हैं ।

॥ इति स्थानस्वरूपाधिकारः ॥

कमप्राप्त फलाधिकारको कहते हैं ।

गदिठाणोगगहकिरियासाधणभूरं खु होदि धम्मतियं ।

वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु ॥ ६०४ ॥

गतिस्थानावगाहकियासाधनभूतं खलु भवति धर्मत्रयम् ।

वर्तनाकियासाधनभूतो नियमेन कालस्तु ॥ ६०४ ॥

अर्थ—गति, स्थिति, अवगाह, इन कियाओंके साधन कमसे धर्म, अधर्म, आकाश-द्रव्य हैं । और वर्तना क्रियाका साधन काल द्रव्य है । भावार्थ—सेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्रासिं-की कारणभूत जीव पुद्गलकी पर्यायविशेषको गति कहते हैं । इस गतिक्रियाका साधन (उदासीन निमित्त) धर्मद्रव्य है । जैसे जलमें मच्छियोंकी गतिक्रिया जलके निमित्तसे होती है । गतिविरुद्ध पर्यायको स्थिति कहते हैं । यह पर्याय जीव पुद्गलकी होती है । तथा यह स्थिति-क्रिया अधर्मद्रव्यके निमित्तसे ही होती है । कहीं पर भी रहेनेको अवगाह कहते हैं । यह अवगाहक्रिया अकाशद्रव्यके निमित्तसे ही होती है । तथा प्रत्येक पदार्थकी वर्तना क्रिया कालद्रव्यके निमित्तसे होती है । (शड्का) सूक्ष्म पुद्गलादिक भी एक दूसरेको अवकाश देते हैं, इसलिये अवगाहहेतुत्व आकाशका ही असाधारण लक्षण वयों कहा ? (समाधान) यद्यपि सूक्ष्म पुद्गलादिक एक दूसरेको अवगाह देते हैं तथापि ये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह नहीं दे सकते । समस्त द्रव्योंको अवगाह देनेकी सामर्थ्य आकाशमें ही है । इसलिये आकाशकाही अवगाहहेतुत्व यह असाधारण लक्षण युक्त है । यद्यपि अलोकाकाश किसी द्रव्यको अवगाह नहीं देता, तथापि उसका अवगाह देनेका स्वभाव वहां पर भी है । किन्तु धर्मद्रव्यका निमित्त न मिलनेसे जीवादि अवगाह्य पदार्थ अलोकाकाशमें गमन नहीं करते इसलिये अलोकाकाश किसीको अवगाह नहीं देता ।

जीव और पुद्गलका उपकार (फल) बताते हैं ।

अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वडंति पुग्गलाणि पुणो ।

देहादीणिवत्तनकारणभूदा दु णियमेण ॥ ६०५ ॥

अन्योन्योपकारेण च जीवा वर्तन्ते पुद्गलः पुनः ।

देहादिनिर्वर्तनकारणभूता हि नियमेन ॥ ६०९ ॥

अर्थ—जीव परस्परमें उपकार करते हैं । जैसे मेवक स्वामीकी हितसिद्धिमें प्रवृत्त होता है, और स्वामी सेवकको धनादि देकर संतुष्ट करता है । तथा पुद्गल शरीरादि उत्पन्न

करनेमें कारण है । भावार्थ—शरीर इन्द्रिय मन शासोच्चुस आदिके द्वारा पुद्गलद्वय जीवका उपकार करता है । तथा पुद्गलद्वय जीवका उपकार करता है यही नहीं किन्तु परस्परमें भी उपकार करता है । जैसे शास्त्रका उपकार गत्ता वेष्टन करते हैं । यहां पर चकारका ग्रहण किया है इसलिये निस तरह परस्परमें या एक दूसरेको जीव पुद्गल उपकार करते हैं उस ही तरह अपकार भी करते हैं ।

इसी अर्थको दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं ।

आहारवग्गणादो तिणिणि सरीराणि होंति उस्सासो ।

णिस्सासोवि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं ॥ ६०६ ॥

आहारवर्गणातः त्रीणि शरीराणि भवन्ति उच्छ्रुतमः ।

निश्चामोपि च तेजोवर्गणास्कन्धातु तेजोऽङ्गम् ॥ ६०६ ॥

अर्थ—तेर्दम जातिकी वर्गणोंमें आहारवर्गणके द्वारा औदृशिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर और शामोऽङ्गम होते हैं । तथा तेजोवर्गणारूप स्कन्धके द्वारा तैजस शरीर बनता है ।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो ।

अटुविहकमद्वयं होदिति जिणोहिं णिहिदुं ॥ ६०७ ॥

भाषामनोवर्गणातः कमेण भाषा मनश्च कार्मणतः ।

अष्टविष्वकर्मद्वयं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ—भाषावर्गणाके द्वारा चार प्रकारका वचन, मनोवर्गणाके द्वारा हृदयस्थानमें अष्टदल कमलके आकार द्रव्यमन, तथा कार्मण वर्गणाके द्वारा आठ प्रकारके कर्म बनते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

अविभागी पुद्गल परमाणु स्कन्धरूपमें किस तरह परिणत होती हैं, इसका कारण बताते हैं ।

णिद्वत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी ।

संखेजासंखेजजाणंतविहा णिद्वणुक्खगुणा ॥ ६०८ ॥

स्तिन्धत्वं रूक्षत्वं वन्धस्य च कारणं तु एकादयः ।

संख्यासंख्यायानन्तविधा स्तिन्धरूक्षगुणाः ॥ ६०८ ॥

अर्थ—बन्धका कारण स्तिन्धत्व या रूक्षत्व है । इस स्तिन्धत्व या रूक्षत्व गुणके एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं । भावार्थ—एक किसी गुणविशेषकी स्तिन्धत्व और रूक्षत्व ये दो पर्याय हैं । ये ही बन्धकी कारण हैं । इन पर्यायोंके अविभागप्रतिच्छेदोंकी (शक्तिके निरंश अंश) अपेक्षा एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं ।

जैसे स्त्रिय पर्यायके एक अंश दो अंश तीन अंश इत्यादि एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंश होते हैं और इन्हींकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंततक भेद होते हैं । उस ही तरह रूक्षत्व पर्यायके भी एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंशोंकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंत तक भेद होते हैं । अथवा, बन्ध कमसे कम दो परमाणुओंमें होता है । सो ये दोनों परमाणु स्त्रिय हों अथवा रूक्ष हों या एक स्त्रिय एक रूक्ष हो परन्तु बंध हो सकता है । जिस तरह दो परमाणुओंमें बन्ध होता है उस ही तरह संख्यात असंख्यात अनंत परमाणुओंमें भी बन्ध होता है; क्योंकि बन्धका कारण स्त्रियरूक्षत्व है ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

एगगुणं तु जहणणं णिद्वत्तं चिगुणतिगुणसंखेज्जाऽ ।

संखेज्जाणंतगुणं होदि तहा रुक्षभावं च ॥ ६०९ ॥

एकगुणं तु जघन्यं स्त्रियत्वं द्विगुणतिगुणसंख्येयाऽ ।

संख्येयानन्तगुणं भवति तथा रुक्षभावं च ॥ ६०९ ॥

अर्थ—स्त्रियत्वका जो एक निरंकु अंश है उसकोही जघन्य कहते हैं । इसके आगे स्त्रियत्वके दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं । इस ही तरह रूक्षत्वके भी एक अंशको जघन्य कहते हैं । और इसके आगे दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं ।

एवं गुणसंजुत्ता परमाणु आदिवग्गणमिति रिया ।

जोगदुगाणं बंधे दोण्हं बंधो हवे णियमा ॥ ६१० ॥

एवं गुणसंयुक्ताः परमाणव आदिरीणायां स्थिताः ।

योग्याद्रिक्योः बंधे द्रोर्यबन्धो भवेत्रियमात् ॥ ६१० ॥

अर्थ—इस प्रकार स्त्रिय या रूक्ष गुणसे युक्त परमाणु अणुर्वर्गणामें ही हैं । इसके आगे दो आदि परमाणुओंका बन्ध होता है, परन्तु यह दोका बन्ध भी तब ही होता है जब कि दोनों नियमसे बन्धके योग्य हों ।

जब कि सामान्यसे बन्धका कारण स्त्रियरूक्षत्व बतादिया तब उसमें योग्यता और अयोग्यता क्या है? यह बताते हैं ।

णिद्वणिद्वा ण बज्ज्ञांति रुक्खरुक्खा य पोगला ।

णिद्वलुक्खा य बज्ज्ञांति रुवारुवी य पोगला ॥ ६११ ॥

स्त्रियस्त्रिया न बज्ज्ञन्ते रुक्खरुक्खाश्च पुद्रलाः ।

स्त्रियरूक्षत्वाश्च बज्ज्ञन्ते रुप्यरुपिण्यश्च पुद्रलाः ॥ ६११ ॥

अर्थ—स्त्रिय स्त्रिय पुद्रलका और रूक्ष रूक्ष पुद्रलका परस्परमें बन्ध नहीं होता ।
गो. २९

किन्तु स्निग्ध रूक्ष और रूपी अरूपी पुद्लोका परस्परमें बन्ध होता है। भावार्थ—यथापि यहां पर यह कहा है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका बन्ध नहीं होता। तथापि यह कथन सामान्य है; क्योंकि आगे चलकर विशेष कथनके द्वारा स्वयं ग्रन्थकार इस बातको स्पष्ट कर देंगे कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है। और इस ही लिये यहां-पर रूपी अरूपीका बन्ध होता है ऐसा कहा है।

रूपी अरूपी संज्ञा किसकी है यह बताते हैं ।

णिन्द्रिदरोलीमज्ज्व विसरिसजादिस्स समगुणं एकः ।

रूविति होादि संणां सेसाणं ता अरूविति ॥ ६१२ ॥

स्निग्धेतरावलीमध्ये विसदृशजातेः समगुण एकः ।

रूपीति भवति संज्ञा शेषाणां ते अरूपिण इति ॥ ६१२ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणिमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है उसकी रूपी संज्ञा है। और समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है। भावार्थ—जब कि विसदृश जातिके एक समगुणकी ही रूपी संज्ञा है और शेषकी अरूपी, और रूपी अरूपीका बन्ध होता है, तब यह सिद्ध है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है। स्निग्धकी अपेक्षा रूक्ष और रूक्षकी अपेक्षा स्निग्ध विसदृश होता है।

रूपी अरूपीका उदाहरण दिखाते हैं ।

दोगुणणिन्द्राणुस्स य दोगुणलुक्खाणुं हवे रूवी ।

इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे ॥ ६१३ ॥

द्विगुणस्निग्धाणोश्च द्विगुणरुक्खाणुको भवेत् रूपी ।

एकत्रिगुणादिः अरूपी रुक्खस्यापि तद्व इति जानीहि ॥ ६१३ ॥

अर्थ—स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दोगुण युक्त परमाणु रूपी है शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं। इस ही तरह रूक्षका भी समझना चाहिये। भावार्थ—रूक्षके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणु रूपी है और शेष एक तीन आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं।

णिन्द्रस्स णिन्द्रेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।

णिन्द्रस्स लुक्खेण लुक्खेज्ज बंधो जहणवज्जे विसमे समे वा ॥ ६१४ ॥

स्निग्धस्य स्निग्धेन व्यधिकेन रूक्षस्य रुक्खेण व्यधिकेन ।

स्निग्धस्य रुक्खेण भवेद्वन्मो जघन्यवज्ये विपमे समे वा ॥ ६१४ ॥

अर्थ—एक स्निग्ध परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध

होता है । एक रुक्ष परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रुक्ष परमाणुके साथ बन्ध होता है । एक स्त्रिघ्य परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रुक्ष परमाणुके साथ भी बन्ध होता है । सम विषम दोनोंका बन्ध होता है; किन्तु जघन्यगुणवालेका बन्ध नहीं होता । **भावार्थ**—एक गुणवालेका तीनगुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । शेष स्त्रिघ्य या रुक्ष दोनों जातिके परमाणुओंका समधारा या विषमधारामें दो गुण अधिक होनेपर बन्ध होता है । दो चार छह आठ दश इत्यादि जहां पर दोके ऊपर दो दो अंशोंकी अधिकता हो उसको समधारा कहते हैं । तीन पांच सात नौ ग्यारह इत्यादि जहां पर तीनके ऊपर दो दो अंशोंकी वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं । इन दोनों धाराओंमें जघन्य गुणको छोड़कर दो गुण अधिकका ही बन्ध होता है औरका नहीं ।

णिद्विदरे समविसमा दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति ।

उभयेवि य समविसमा सरिसिदरा होंति पत्तेयं ॥ ६१५ ॥

स्त्रिघेतरयोः समविषमा द्वित्रिकादयः व्युत्तरा भवन्ति ।

उभयेऽपि च समविषमाः सदृशेतरे भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ६१९ ॥

अंर्थ—स्त्रिघ्य और रुक्ष दोनोंमेंही दोगुणके ऊपर जहां दो २ की वृद्धि हो वहां समधारा होती है । और जहां तीन गुणके ऊपर दो २ की वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं । सो स्त्रिघ्य और रुक्ष दोनोंमेंही दोनों ही धारा होती हैं । तथा प्रत्येक धारामें रुपी और अरुपी होते हैं ।

इस ही अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं ।

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसपांतरदुगगाण बंधो दु ।

णिद्वे लुक्खे वि तहावि जहण्णुभयेवि सवत्थ ॥ ६१६ ॥

द्वित्रिकप्रभवद्वयु तरगतेष्वनन्तरद्विक्योः बन्धस्तु ।

स्त्रिघ्ये रुक्षे पि तथापि जघन्योभयेऽपि सर्वत्र ॥ ६१६ ॥

अर्थ—स्त्रिघ्य या रुक्ष गुणमें समधारामें दो अंशोंके आगे दो दो अंशोंकी वृद्धि होती है । और विषमधारामें तीनके आगे दो २ की वृद्धि होती है । सो इन दोनोंमें ही अनन्तरद्विकका बन्ध होता है । जैसे दो गुणवाले स्त्रिघ्य या रुक्षका चारगुणवाले स्त्रिघ्य या रुक्षके साथ, तथा तीनगुणवाले स्त्रिघ्य या रुक्षका पांच गुणवाले स्त्रिघ्य या रुक्षके साथ बन्ध होता है । इसी तरह आगे भी समझना चाहिये । किन्तु जघन्यका बन्ध नहीं होता । दूसरी सब जगह स्त्रिघ्य और रुक्षमें बंध होता है । **भावार्थ**—स्त्रिघ्य या रुक्ष गुणसे युक्त जिन दो पुढ़लोंमें बन्ध होता है उनको स्त्रिघ्य या रुक्ष गुणके अंशोंमें दो अंशोंका अंतर होना चाहिये । जैसे दो चार, तीन पांच, चार छह, पांच सात इत्यादि । इस तरह दो अंश अधिक

रहनेपर सर्वत्र बंध होता है । इस नियमके अनुसार एकगुणवाले और तीनगुणवालेका भी बंध होना चाहिये, किन्तु सो नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जघन्य गुणवालेका बंध नहीं होता । अतएव एक गुणवालेका तीन गुणवालेके साथ बंध नहीं होता; किन्तु तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ बंध हो सकता है; क्योंकि तीन गुणवाला जघन्यगुणवाला नहीं है, एक-गुणवालेको ही जघन्य गुणवाला कहते हैं ।

**णिद्विदरवरगुणाण् सपरद्वाणेवि षेदि बंधदुँ ।
बहिरंतरंगद्वृहि गुणंतरं संगदे एदि ॥ ६१७ ॥**

स्त्रिघेतरवरगुणाणः स्वपरस्थानेऽपि नैति बन्धार्थम् ।

बहिरंतरङ्गद्वृहेतुभिर्गुणान्तरं संगते एति ॥ ६१७ ॥

अर्थ—स्त्रिघ या रूक्षका जघन्य गुणवाला परमाणु स्वस्थान या परस्थान कहीं भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । किन्तु बाद्य और अन्तरङ्ग कारणके निर्मित्तसे किसी दूसरे गुणवाला—अंशवाला होने पर बन्धको 'प्राप्त होते हैं । **भावार्थ—**स्त्रिघ या रूक्ष गुणका जब एक अंश—अविभागप्रतिच्छेद—रूप परिणमन होता है तब उसका न स्वस्थानमें बंध होता है और न परस्थानमें बंध होता है । किन्तु बाद्य अभ्यन्तर कारणके निर्मित्तसे जब जघन्य स्थानको छोड़कर अधिक अंशरूप परिणमन होजाय तब वे ही स्त्रिघ रूक्ष गुण बंधको प्राप्त हो सकते हैं ।

**णिद्विदरगुणा अहिया हीनं परिणामयंति बंधमिम् ।
संखेजासंखेजाणंतपदेशाण संधाणं ॥ ६१८ ॥**

स्त्रिघेतरगुणा अधिका हीनं परिणामयंति बन्धे ।

संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—संख्यात असंख्यात अनंतप्रदेशवाले स्कन्धोमें स्त्रिघ या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कन्ध अपने से हीनगुणवाले परमाणु या स्कन्धोंको अपनेरूप परणमाते हैं । जैसे एक हजार स्त्रिघ या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कन्धको एक हजार दो अंशवाला स्त्रिघ या रूक्ष परमाणु या स्कन्ध परणमाता है । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

॥ इति फलाधिकारः ॥

इस तरह सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्योंका वर्णन करके अब पंचास्तिकायका वर्णन करते हैं ।

दधवं छक्मकालं पंचत्थीकायसणिदं होदि ।

काले पदेसपचयो जम्हा णत्थिति णिद्विदुँ ॥ ६१९ ॥

द्रव्यं षष्ठ्मकालं पञ्चास्तिकायसंज्ञितं भवति ।

काले प्रेदेशप्रचयो यस्मात् नास्तीति ॥६१९॥

अर्थ— कालमें प्रेदेशप्रचय नहीं है इसलिये कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं । **भावार्थ—** जो सदरूप हो उसको अस्ति कहते हैं । और जिनके प्रदेश अनेक हों उनको काय कहते हैं । काय दो प्रकारके होते हैं, एक मुख्य दूसरा उपचरित । जो अखण्डप्रदेशी हैं उन द्रव्योंको मुख्य काय कहते हैं । जैसे जीव धर्म अधर्म आकाश । जिसके प्रेदेश तो स्थिण्डित हों; किन्तु खिंग रूक्ष गुणके निमित्तसे परस्परमें बन्ध होकर जिनमें एकत्व होगया हो, अथवा बन्ध होकर एकत्व होनेकी जिसमें सम्भावना हो उसको उपचरित काय कहते हैं, जैसे पुद्रल । किन्तु कालद्रव्य स्वयं अनेकप्रदेशी न होनेसे मुख्य काय भी नहीं हैं । और खिंग रूक्ष गुण न होनेसे बंध होकर एकत्वकी भी उसमें सम्भावना नहीं है, इसलिये वह (काल) उपचरित काय भी नहीं है । अतः काल-द्रव्यको छोड़कर शेष जीव पुद्रल धर्म अधर्म आकाश इन पांच द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं । और कालद्रव्यको कायरूप नहीं किन्तु अस्तिरूप कहते हैं ।

नव पदार्थोंको बताते हैं ।

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपाद्वदुग्म ।

आस्वसंवरणिज्जरवंधा मोक्षो य हाँतिति ॥ ६२० ॥

नव च पदार्थी जीवाजीवाः तेषां च पुण्णपाद्विक्रम ।

आस्वसंवरनिर्जराचन्वा मोक्षश्च भवन्तीति ॥ ६२० ॥

अर्थ— मूलमें जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं । इन हीके सम्बन्धसे पुण्य और पाप ये दो पदार्थ होते हैं । इसलिये चारपदार्थ हुए । तथा पुण्यपापके आस्व बंध संवर निर्जरा मोक्ष पांच पदार्थ होते हैं । इसलिये सब मिलाकर नव पदार्थ होते हैं । **मावार्थ—** जिसमें ज्ञानदर्शनरूप चेतना पाई जाय उसको जीव कहते हैं । जिसमें चेतना न हो उसको अजीव कहते हैं । शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं । कर्मोंके आनेके द्वारको, या मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दको, अथवा बन्धके कारणको आस्व कहते हैं । अनेक पदार्थोंमें एकत्वबुद्धिके उत्पादक सम्बन्धविशेषको अथवा आत्मा और कर्मके एकसेत्रावगाहरूप सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं । आस्वके निरोधको संवर कहते हैं । बद्ध कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं । आत्मासे समस्त कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं । ये ही नव पदार्थ हैं ।

जीवदुग्म उच्चां जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा ।

वदसहिदावि य पावा तत्त्ववरीया हवंतिति ॥ ६२१ ॥

जीवद्विकमुक्तार्थं जीवाः पुण्या हि सम्यक्त्वगुणसहितः ।

ब्रतसहिता अपि च पापास्तद्विपरीता भवन्तीति ॥ ६२१ ॥

अर्थ—जीव और अजीवका अर्थ पहले बतानुके हैं । जीवके भी दो भेद हैं, एक पुण्य और दूसरा पाप । जो सम्यक्त्वगुणसे या ब्रतसे युक्त हैं उनको पुण्य जीव कहते हैं । और इससे जो विपरीत हैं उनको पाप जीव कहते हैं ।

गुणस्थानकमकी अपेक्षासे जीवराशिकी संख्या बताते हैं ।

मिच्छाद्वाटी पावा णंताणंता य सासाणगुणावि ।

पल्लासंखेज्जदिमा अणअणद्रुदयमिच्छगुणा ॥ ६२२ ॥

मिथ्याद्वयः पापा अनन्तानन्ताश्च सासाणगुणा अपि ।

पल्यासंख्येया अनान्यतरोदयमिथ्यात्वगुणाः ॥ ६२२ ॥

अर्थ—मिथ्याद्वष्टि पाप जीव हैं ये अनंतानंत हैं; क्योंकि द्वितीयादि तेरह गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण व्याप्तेमें अवशिष्ट समस्त संसारी जीवराशि मिथ्याद्वष्टि ही है । तथा सासादन गुणस्थानवाले जीव पल्यके असंख्यातमे भाग हैं । और ये भी पाप जीव ही हैं; क्योंकि अनंतानुवंधी नार कपायोंमेंसे किसी एक कपायका इसके उदय हो-रहा है । इसलिये यह मिथ्यात्व गुणको प्राप्त है । भावार्थ—सासादन गुणस्थानवालेका पहले यह लक्षण कह आये हैं कि “ किसी एक अनंतानुवंधी कपायके उदयसे जो सम्यक्त्वरूपी रूपरूपतरसे तो गिरपड़ा है; किन्तु मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख है—अर्थात् अभी-तक जिसने मिथ्यात्वभूमिको ग्रहण नहीं किया है, किन्तु एक समयसे लेकर छह आवली-तकके कालमें नियमसे वह उस मिथ्यात्व भूमिको ग्रहण करलेगा ऐसे जीवको सासादन-गुणस्थानवाला कहते हैं । ” अतः इस गुणस्थानवाले जीवोंको पुण्य जीव नहीं कह सकते; क्योंकि अनंतानुवंधी कपायके उदयसे इनका सम्यक्त्वगुण भी नष्ट हो चुका है और इनके किसी प्रकारका ब्रत भी नहीं है । किन्तु नियमसे ये मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये इनको मिथ्याद्वष्टि-पाप जीव ही कहते हैं । इन जीवोंकी संख्या पल्यके असंख्यातमे भाग है । और मिथ्याद्वष्टि जीवोंकी संख्या अनंतानंत है ।

मिच्छा सावयसासाणमिस्साविरदा दुवारणंता य ।

पल्लासंखेज्जदिममसंख्यगुणं संखसंख्यगुणं ॥ ६२३ ॥

मिथ्याः श्रावकसासनमिश्राविरता द्विवारानन्ताश्च ।

पल्यासंख्येयमसंख्यगुणं संख्यासंख्यगुणम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—मिथ्याद्वष्टि अनंतानंत हैं । श्रावक पल्यके असंख्यातमे भाग हैं । सासादन गुण-स्थानवाले श्रावकोंसे असंख्यातगुणे हैं । मिश्र सासादनवालोंसे संख्यातगुणे हैं । अन्तस-

म्याद्विषि मिश्रजीवोंसे असंख्यातगुणे हैं । इनमें अन्तके चार स्थानोंमें कल २ अधिक समझना चाहिये । **भावार्थ**—मनुष्य और तिर्थीच इन दो गतियोंमें ही देशरांयम् गुणस्थान होता है । इनमें तेरह करोड़ मनुष्य और पल्यके असंख्यातमे भाग तिर्थीन हैं । सासादन गुणस्थान चारों गतियोंमें होता है । इनमें बावन करोड़ मनुष्य और श्रावकोंसे असंख्यातगुणे इतर तीन गतिके जीव हैं । मिश्रगुणस्थान भी चारों गतियोंमें होता है इनमें एकसौ चार करोड़ मनुष्य और सासादनवालोंसे संख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं । तथा अबत गुणस्थान भी चारों गतियोंमें होता है । इनमें सातसौ करोड़ मनुष्य हैं और मिश्रवालोंसे असंख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं ।

तिरधियसयणवणउदी छण्णउदी अध्पमत्त वे कोडी ।

पंचेव य तेणउदी णवटुविसयच्छउत्तरं पमदे ॥ ६२४ ॥

न्यविकशतनवनवतिः पणवतिः अप्रमत्ते द्वे कोटी ।

पञ्चैव च त्रिनवतिः नवाष्टद्विशतपदुत्तरं प्रमत्ते ॥ ६२४ ॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पांच करोड़ तिनवें लाख अठानवे हजार दो सौ छह है (९९३९८२०६) । अप्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण दो करोड़ छ्यानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (२९६९९१०३) है ।

तिसयं भण्णति कोई चउरुत्तरमत्थपचयं कोई ।

उवसामगपरिमाणं खवगाणं जाण तद्गुणं ॥ ६२५ ॥

विशतं भण्णति केनित् चतुरुत्तरमत्थपचयं केनित् ।

उपशामकपरिमाणं क्षपकाणं जानीहि तद्गुणम् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणिवाले आठवें नौमे दशमे भारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण कोई आचार्य तीनसौ कहते हैं । कोई तीनसौ चार कहते हैं । कोई दो सौ निन्यानवे कहते हैं । क्षपकश्रेणिवाले आठमे नौमे दशमे बारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण उपशम श्रेणिवालोंसे दूना है ।

उपशमश्रेणिवाले तीनसौ चार जीवोंका निरंतर आठ समयोंमें विभाग करते हैं ।

सोलसयं चउवीसं तीसं छन्नीसं तह य बादालं ।

अडदालं चउवण्णं चउवण्णं होंति उवसमगे ॥ ६२६ ॥

बोडशकं चतुर्विशतिः त्रिशत् पृथ्विशत् तथा च द्वाचत्वारिंशत् ।

अष्टचत्वारिंशत् चतुःपञ्चशत् चतुःपञ्चशत् भवन्ति उपशमके ॥ ६२६ ॥

अर्थ—निरंतर आठ समयर्पयन्त उपशमश्रेणि मांडनेवाले जीवोंमें अविक्से अधिक प्रथम समयमें १६, द्वितीय समयमें २४, तृतीय समयमें ३०, चतुर्थ समयमें ३६, पांचमे समयमें ४२, छठे समयमें ४८, सातमें ९४, और आठमें ९४, जीव होते हैं ।

वत्तीसं अडवालं सद्वी वावत्तरी य तुलसीदी ।
छण्णउदी अहुत्तरसयमटुत्तरसयं च खवगेसु ॥ ६२७ ॥

द्वात्रिशदृचत्वारिंशत् पष्ठः द्वासप्ततिश्च चतुरशीतिः ।

पण्णतिः अयोत्तरशतमष्टोत्तरशतं च क्षपकेपु ॥ ६२७ ॥

अर्थ— अंतरायरहित आठ समयर्पयन्त क्षपकश्रेणि माडनेवाले जीव अधिकसे अधिक, उपर्युक्त आठ समयोंमें होनेवाले उपशमश्रेणि वालोंसे ढूने होते हैं । इनमेंसे प्रथम समयमें १२, दूसरे समयमें ४८, तीसरे समयमें ६०, चतुर्थ समयमें ७२, पांचमे समयमें ८४, छठे समयमें ९६, सातमे समयमें १०८, आठमे समयमें १०८ होते हैं ।

अद्वैत सयसहस्रा अट्टाणउदी तहा सहस्राणं ।
संखा जोगिनिणाणं पंचसयवित्तरं वंदे ॥ ६२८ ॥

अद्वैत शतसहस्राणि अष्टानवतिस्तथा सहस्राणम् ।

संख्या योगिनिनानां पंचशतव्युत्तरं वन्दे ॥ ६२८ ॥

अर्थ— सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो है । इनकी मैं सदाकाल बन्दना करता हूँ । भावार्थ—निरंतर आठ समयोंमें एकत्रित होनेवाले सयोगी जिनकी संख्या दूसरे आचार्यकी अपेक्षासे इस प्रकार कही है कि “ छसु सुद्रसमयेसु तिणिं तिणिं जीवा केवलमुप्याययंति, दोसु समयेसु दो दो जीवा केवल मुप्याययंति एवमटूसमयसंचिद-जीवा चावीसा हवंति ” अर्थात् आठ समयोंमेंसे छह समयोंमें प्रतिसमय तीन तीन जीव केवल-ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, और दो समयोंमें दो दो जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं । इस तरह आठ समयोंमें वाईस सयोगी जिन होते हैं ।

जब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें छह महीनाका अंतराल होता है तब अन्तराल न पड़ नेसे निरंतर आठ समयोंमें वाईस केवली होते हैं । इसके विशेष कथनमें छहप्रकारका त्रैराशिक होता है । प्रथम यह कि जब छह महीना आठ समयमात्र कालमें वाईस केवली होते हैं । तब आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो केवली कितने कालमें होंगे । इसका चालीस हजार आठसौ इकतालीसको छह महीना आठ समयोंमें गुणा करनेपर जो कालका प्रमाण लब्ध आवे वही उत्तर होगा । दूसरा छह महीना आठ समयोंमें निरंतर केवलज्ञान उत्पन्न होनेका काल आठ समय है तब पूर्वोक्त प्रमाण कालमें कितने समय होंगे । इसका उत्तर तीन लाख छवीस हजार सात सौ अट्टाईस है । तथा दूसरे आचार्योंके मतकी अपेक्षा आठ समयोंमें वाईस या चवालीस या अठासी या एकसौ छिहत्तर जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं तब पूर्वोक्त समयप्रमाणमें या उसके आधे में या चतुर्थशर्यामें या अष्टमांशामें कितने जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करेंगे । इन चार प्रकारके त्रैराशिकोंका उत्तर आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो होता है ।

क्षपक तथा उपशमक जीवोंकी युगपत् सम्भवती विशेष संख्या^१ तो तोन गाथाओंमें कहते हैं ।

होंति खवा इगिसमये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य ।

उक्कस्सेणहुत्तरसयप्पमा सगदा य चुदा ॥ ६२९ ॥

पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा ।

दसछकवीसदसवीसटुवावीसं जहाकमसो ॥ ६३० ॥

जेट्टावरबहुमज्जिमओगाहणगा हु चारि अट्टेव ।

जुगवं हवंति खवगा उवसमगा अन्द्रमेदेसि ॥ ६३१ ॥

भवन्ति क्षपका एकसमये बोधितबुद्धाश्च पुरुषवेदाश्च ।

उत्कुष्टेनाण्टेत्तरशतप्रमा: स्वर्गतश्च च्युताः ॥ ६२९ ॥

प्रत्येकबुद्धतीर्थकरबीपुनपुंसकमनोविज्ञानयुताः ।

दशषट्कविंशतिदशर्विंशत्यष्टिविंशो यथाकमशः ॥ ६३० ॥

जेष्ठावरबहुमध्यमावगाहा द्वौ चत्वारोऽष्टैव ।

युगपत् भवन्ति क्षपका उपशमका अर्धमेतेषाय ॥ ६३१ ॥

अर्थ—युगपत्—एक समयमें क्षपकश्रेणिवाले जीव अधिकसे अधिक होते हैं तो कितने होते हैं ? उसका हिसाव इस प्रकार है कि बोधितबुद्ध एकसौ आठ, पुरुषवेदी एकसौ आठ, स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि माइनेवाले एकसौ आठ, प्रत्येकबुद्धि क्रद्धिके धारक दश, तीर्थकर छह, खविदी वीस, नपुंसकवेदी दश, मनःपर्यवज्ञानी वीस, अवधिज्ञानी अट्टूइस, मुक्त होनेके योग्य शारीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक दो, जघन्य अवगाहनाके धारक चार, समस्त अवगाहनाओंके मध्यवर्ती अवगाहनाके धारक आठ । ये सब मिलकर चारसौ बत्तीस होते हैं । उपशमश्रेणिवाले इसके आधे (२१६) होते हैं । **भावार्थ—**पहले तो गुणस्थानमें एकत्रित होनेवाले जीवोंकी संख्या बताई थी, और यहां पर श्रेणिमें युगपत् सम्भवती जीवोंकी उत्कृष्ट संख्या बताई है ।

सर्व संयमी जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

सच्चादी अट्टुंता छण्णवमज्ज्ञा य संजदा सव्वे ।

अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥ ६३२ ॥

सप्ताद्योऽष्टान्ताः पण्णवमध्याश्च संयताः सर्वे ।

अञ्जलिमैलिकहस्तिकरणशुद्ध्या नैमस्यामि ॥ ६३२ ॥

१ तान् इत्याहारः ।

गो. ३०

अर्थ—छटे गुणस्थानसे लेकर चौदहमे गुणस्थानतकके सर्व संयमियोंका प्रमाण तीन कम नव करोड़ है (१९९९९९९७) । इनको मैं हाथ जोड़कर शिर नवाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ । भावार्थ—प्रमत्तवाले जीव (९९३९८२०६) अप्रमत्तवाले (२०६९९१०३) उपशमश्रेणीवाले चारो गुणस्थानवर्ती (११९६) क्षपक-श्रेणीवाले चार गुणस्थानवर्ती (२३९२) सयोगी जिन (८९८९०२) इन सबका जोड़ (१९९९९९९९९) होता है सो इसको सर्वसंयमियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर शेष अयोगी जीवोंका प्रमाण (९९८) रहता है । इसको संयमियोंके प्रमाणमें जोड़नेसे संयमियोंका कुल-प्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है ।

चारो गतिसम्बन्धी मिश्याद्युषि सासादन मिश्र और अविरत इनकी संख्याके साधकभूत पल्यके भागहारक विशेष वर्णन करते हैं ।

ओघासंजदमिस्यसासणसम्माणभागहारा जे ।

रुअणावलियासंखेजेणिह भजिय तत्थ णिक्खिते ॥ ६३३ ॥

देवाण अवहारा होति असंखेण ताणि अवहरिय ।

तत्थेव य पक्खिखते सोहम्मीसाण अवहारा ॥ ६३४ ॥

ओत्रा असंयतमिथकसासनसमीक्षां भागहारा ये ।

रुपोनावलिकासंख्यातेनह भक्त्वा तत्र निक्षिसे ॥ ६३५ ॥

देवानामवहारा भवन्ति असंख्येन तानवहृत्य ।

तत्रैव च प्रक्षिप्ते सौधर्मीशानावहारः ॥ ६३५ ॥

अर्थ—गुणस्थानसंख्यामें असंयत मिश्र सासादनके भागहारोंका जो प्रमाण बताया है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । तथा देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे मौर्धर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । भावार्थ—जहां जहांका जितना २ भागहारका प्रमाण बताया है उस २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने २ ही वहां २ जीव समझने चाहिये । पहले गुणस्थानसंख्यामें असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण एकवार असंख्यत कहाथा, इसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है, इस देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देवगतिसम्बन्धी असंयत-गुणस्थानवर्ती जीव हैं । तथा देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको उस

भागहारमें मिलानेसे सौर्यम् ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है। इस भागहारका पल्यमें भाग देनेमें जो लब्ध आवे उतना सौर्यम् ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयत गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण है। इसी तरह मिश्र और सासादनके भागहारका प्रमाण भी समझना चाहिये।

सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारका प्रमाण भताते हैं।

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूपसंगुणिदे ।

उवारि असंजद्विमिस्यथसासणसम्माण अवहारा ॥ ६३५ ॥

सौधर्मेशानहारमसंख्येन च मंस्यरूपसंगुणिते ।

उपरि असंयतमिश्रकसामनसमीचामवहारः ॥ ६३६ ॥

अर्थ—सौर्यम् ईशान स्वर्गके सासादन गुणस्थानमें जो भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा मिश्र गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। तथा मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादन गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है।।

इस गुणितक्रमकी व्यापिको बताते हैं।

सोहम्मादासारं जोऽस्तिवणभवणतिरियपुढवीसु ।

अविरदमिस्ते संखं संखासंखगुण सासणे देसे ॥ ६३६ ॥

सौधर्मादासहस्तारं ज्योतिषिवनभवनतिर्यकृथ्यापु ।

अविरतमिश्रितसंख्यं संख्यासंख्यगुणं सासने देशे ॥ ६३६ ॥

अर्थ—सौर्यम् स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्गपर्यन्त, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, तिर्यच, सातों नरकपृथ्वी, इनके अविरत और मिश्र गुणस्थानमें असंख्यातका गुणकम है। और सासादन गुणस्थानमें संख्यातका तथा देशसंयम गुणस्थानमें असंख्यातका गुणकम समझना चाहिये। **भावार्थ—**सौर्यम् ईशान स्वर्गके आगे सानत्कुमार माहेन्द्रके असंयत मिश्र सासादन गुणस्थानके भागहारोंका प्रमाण बता नुके हैं। इसमें सासादन गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा ब्रह्म ब्रह्मोत्तरके असंयत गुणस्थानका भागहार है। इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तरसम्बन्धी सासादनके भागहारसे असंख्यातगुणा लांतव कापिष्ठके असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भागहारका प्रमाण है। और इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। इसी क्रमके अनुसार शुक्र महाशुक्रसे लेकर सातमी पृथ्वीतके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारोंका प्रमाण समझना चाहिये। विशेष-

१ यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है।

पता यह है कि देशसंयम गुणस्थान स्थानोंमें तथा नरकोंमें नहीं होता; किन्तु तिर्यङ्गोंमें होता है। इसलिये तिर्यङ्गोंमें जो सासादनके भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा तिर्यङ्गोंके देशव्रत गुणस्थानका भागहार है। तथा तिर्यङ्गोंके देशसंयम गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है वही प्रथम नरकके असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। किन्तु देशव्रतके भागहारका प्रमाण स्वर्ग तथा नरकमें नहीं है।

आनतादिकोंमें गुणितक्रमकी व्यापिको तीन गायाओंद्वारा बताते हैं।

चरमधरासाणहरा आणदसम्माण आरणप्पहुदि ।

अंतिमगवेचंतं सम्माणमसंखसंखगुणहारा ॥ ६३७ ॥

चरमधरासानहारादानतसमीनामरणप्रभृति ।

अंतिमग्रैवेयकान्तं समीनामसंखसंखगुणहारः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सप्तम पृथ्वीके सासादनसम्बन्धी भागहारसे आनत प्राणतके असंयतका भाग-हार असंख्यातगुणा है। तथा इसके आगे आरण अच्युतसे लेकर नौमे ग्रैवेयकपर्यंत दश स्थानोंमें असंयतका भागहार क्रमसे संख्यातगुणा २ है।

ततो ताणुताणं वामाणमणुद्दिसाण विजयादि ।

सम्माणं संखगुणो आणदमिस्से असंखगणो ॥ ६३८ ॥

ततस्तेषामुक्तानां वामानामनुदिशानां विजयादि—।

समीनां संख्यगुण आनतमिथ्रे असंख्यगुणः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—इसके अनंतर आनत प्राणतसे लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंतके मिथ्यादृष्टि जीवोंका भागहार क्रमसे अंतिम ग्रैवेयक सम्बन्धी असंयतके भागहारसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है। इस अंतिम ग्रैवेयक सम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके भागहारसे क्रमपूर्वक संख्यातगुणा संख्यात-गुणा नव अनुदिश और विजय वैजयंत जयंत अपराजितके असंयतोंका भागहार है। विजयादिकसम्बन्धी असंयतके भागहारसे आनत प्राणत सम्बन्धी मिश्रका भागहार असंख्या-तगुणा है।

ततो संखेजगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो ।

उत्तद्वाणे कमसो पणछस्त्तद्वारसंदिही ॥ ६३९ ॥

ततः संख्येयगुणः सासनसमीनां भवति संख्यगुणः ।

उत्तस्थाने कमशः पञ्चपृथृसाट्टतुःसंदिहिः ॥ ६३९ ॥

१-२-३—इन स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच अंक छह अंक तथा सातका अंक है। इस बातको आगे के गायामें कहेंगे।

अर्थ—आनत प्राणतमम्बन्धी मिश्रके भागहारसे, आरण अच्युतसे लेकर नवम व्रैंते-यक पर्यंत दश स्थानोंमें मिश्रसम्बन्धी भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यान्वयुणा संम्यातगुणा है । यहांपर संख्यातकी सहनानी आठका अंक है । अंतिम व्रैंतेयकम्बन्धी मिश्रके भागहारसे आनत प्राणतसे लेकर नवम व्रैंतेयकपर्यंत स्पारह स्थानोंमें सासादनसम्बद्धकी भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा २ है । यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है । इन पूर्वोक्त पांच स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच. छह, सात, आठ, और चारके अंक हैं ।

सगसगअवहारेहि॒ पल्ल॑ भजिदे॒ हवंति॒ सगरासी॑ ।

सगसगगुणपडिवण्णे॑ सगसगरासीसु॑ अवणिदे॒ वामा॒ ॥ ६४० ॥

स्वकस्वकावहौः॑ पल्ये॒ मक्ते॒ भवन्ति॒ स्वकराशयः॑ ।

स्वकस्वकगुणप्रतिपत्तेषु॑ स्वकस्वकराशिषु॑ अपनीतेषु॑ वामाः॑ ॥ ६४० ॥

अर्थ—अपने २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे अपनी २ राशिके जीवोंका प्रमाण निकलता है । तथा अपनी २ सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रतका प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण रहता है । **भावार्थ—**यहां पर मनुष्योंके भागहारका प्रमाण नहीं बताया है, तथा देशव्रत गुणस्थान मनुष्य और निर्यंत्र इन दोनों हीके होता है, इसलिये तिथ्योंकी ही सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रत गुण-स्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे मिथ्यादृष्टि तिथ्यं जीवोंका प्रमाण होता है; किन्तु देव और नारकियोंकी सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र और सासादन गुणस्थानवाले जीवोंका ही प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण होता है । परन्तु जहां पर मिथ्यादृष्टि आदि जीव सम्बव हों वहां पर ही इनका (मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंका) प्रमाण निकालना चाहिये, अन्यत्र नहीं; क्योंकि व्रैंतेयकसे ऊपरके सब देव असंयत ही होते हैं ।

मनुष्यगतिमें॑ गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

तेरसकोडी॑ देसे॒ बावण्णं॑ सासणे॒ मुणेद्ववा॑ ।

मिस्सावि॑ य॒ तद्विगुणा॑ असंजदा॑ सत्तकोडिसयं॑ ॥ ६४१ ॥

त्रयोदशकोट्यो॑ देशे॒ द्वापश्चाशत्॑ सासने॒ मन्तव्याः॑ ।

मिश्रा॑ अपि॒ च॒ तद्विगुणा॑ असंयताः॑ ससकोट्यिशतम्॑ ॥ ६४१ ॥

अर्थ—देससंयम गुणस्थानमें तेरह करोड़, सासादनमें बावन करोड़, मिश्रमें एकसौ चार करोड़, असंयतमें सात करोड़ मनुष्य हैं । प्रमत्तादि गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पूर्व ही बता चुके हैं । इस प्रकार यह गुणस्थानोंमें मनुष्य जीवोंका प्रमाण है ।

जीविदरे कर्मचये पुण्यं पावोत्ति होदि पुण्यं तु ।
सुहपयडीण दद्वं पावं असुहाण दद्वं तु ॥ ६४२ ॥

जीवितरस्मिन् कर्मचये पुण्यं पापमिति भवति पुण्यं तु ।

शुभप्रकृतीनां द्रव्यं पापमशुभप्रकृतीनां द्रव्यं तु ॥ ६४२ ॥

अर्थ—जीव पदार्थमें सामान्यसे मिश्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले जीव पाप हैं । और मिश्र गुणस्थानवाले पुण्य और पापके मिश्ररूप हैं । तथा असंयतसे लेकर सब ही पुण्य जीव हैं । इसके अनेक अजीव पदार्थका वर्णन करते हैं । अजीव पदार्थमें कार्मण स्कन्धके दो भेद हैं । एक पुण्य दूसरा पाप । शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य और अशुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं । **भावार्थ—**कार्मण स्कन्धमें सातावेदनीय, नरकायुको छोड़कर शेष तीन आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, इन शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य कहते हैं । इनके सिवाय वातिकमी समस्त प्रकृति और असातवेदनीय, नरक आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, इन प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहने हैं ।

आसवसंवरदद्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादद्वं ।

तत्तो असंखगुणिदं उक्ससं होदि णियमेन ॥ ६४३ ॥

आसवसंवरदद्वं समयपबद्धं तु निर्जरादद्वयम् ।

ततोऽसंखगुणितमृक्षादं भवति नियमेन ॥ ६४३ ॥

अर्थ—आसव और संवरका द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्धप्रमाण है । और उत्कृष्ट निर्जरा-द्रव्य समयप्रबद्धसे असंख्यातगुणा है । **भावार्थ—**एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण कर्मपुद्धलका ही आसव होता है, इसलिये आसवको समयप्रबद्धप्रमाण कहा है । और आसवके निरोधरूप संवर है । सो यह संवर भी एकसमयमें उतने ही द्रव्यका होगा, इसलिये द्रव्य-संवरको भी समयप्रबद्ध प्रमाण कहा है । गुणश्रेणिनिर्जरामें असंख्यात समयप्रबद्धोंकी निर्जरा एक ही समयमें हो जाती है, इसलिये उत्कृष्ट निर्जरादद्वयको असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण कहा है ।

बन्धो समयपबद्धो किंचृणदिवद्वृमेत्तगुणहाणि ।

मोक्खो य होदि एवं सद्विद्ववा दु तच्चद्वा ॥ ६४४ ॥

बन्धः समयप्रबद्धः किञ्चिद्वद्वर्धमात्रगुणहाणिः ।

मोक्ख भवत्येवं श्रद्धातन्यास्त तत्त्वार्थोः ॥ ६४४ ॥

अर्थ—बन्धद्रव्य समयप्रबद्धप्रमाण है; क्योंकि एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण ही कर्म-प्रकृतियोंका बंध होता है । तथा मोक्खद्रव्यका प्रमाण व्यर्थगुणहाणिगुणितसमयप्रबद्ध प्रमाण

१ पुण्य और पाप प्रकृतियोंकी भिन्न २ संख्या कर्मकाण्डमें देखना चाहिये ।

है; क्योंकि अयोगि गुणस्थानके अन्तमें जितनी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है उतना ही मोक्षद्रव्यका प्रमाण है । तथा यहां पर (अयोगि गुणस्थानके अंत समयमें) कर्मोंकी सत्ता द्रव्यधर्मगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है । इसलिये मोक्षद्रव्यका प्रमाण भी द्रव्यार्थगुणहानिगुणित-समयप्रबद्धप्रमाण ही है । इस प्रकार इन सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना चाहिये । भावार्थ—पूर्वमें जो छह द्रव्य पञ्चास्तिकाय नव पदार्थोंका स्वरूप चतुर्या है उसके अनुसार “ही उनका श्रद्धान करना चाहिये; क्योंकि इनके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं ।

सम्यक्त्वके भेदोंके गिनानेके पहले क्षायिक सम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं ।

खीणे दंसणमोहे जं सद्वहणं सुणिम्मलं होई ।

तं खाद्यसम्मतं पिञ्चं कम्मक्षवणहेदु ॥ ६४५ ॥

क्षीणे दर्शनमोहे यच्छ्रद्धानं सुनिर्भलं भवति ।

तत्क्षायिकसम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ ६४९ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षीण होजाने पर जो निर्भल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व नित्य और कर्मोंके क्षय होनेका कारण है । **भावार्थ—**यद्यपि दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्वमित्र सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन ही भेद हैं । तथापि अनंतानुरूपी कथाय भी दर्शन गुणको विपरीत करता है इसलिये इसको भी दर्शन-मोहनीय कहते हैं । इसी लिये आचार्योंने पञ्चास्त्यार्थीमें कहा है कि ‘सत्तें द्विष्ठोहनम्’ । अतएव इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होजानेसे दर्शन गुणकी जो अत्यन्त निर्भल अवस्था होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । इसके प्रतिपक्षी कर्मका एकदेश भी अवशिष्ट नहीं रहा है इस ही लिये यह दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह सांत नहीं है । तथा इसके होनेपर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है इसलिये यह कर्मक्षयका हेतु है । इसी अभिप्रायका बोधक दूसरा क्षेपक गाया भी है । वह इसप्रकार है कि—

दंसणमोहे खविदे सिज्जादि एकेव तदियतुरियभवे ।

णादिकदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥ १ ॥

दर्शनमोहे सप्तिसि द्वयति एकस्मिन्नेव तृतीयतुरीयभवे ।

नातिक्रामति तुरीयभवं न विनश्यति शेषसम्यक्त्वं व ॥ १ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होजाने पर उस ही भवमें या तीसरे चौथे भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होता है, किन्तु चौथे भवका उल्लंघन नहीं करता, तथा दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह यह सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता । **भावार्थ—**क्षायिक सम्यक्त्व न होने पर या तो उस ही भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होजाता है । या देवायुक्त बंध होगया हो तो तीसरे भवमें सिद्ध होता है । यदि सम्यक्त्वानके पहले मिथ्यात्व अवस्थामें मनुष्य या

तिर्थं आयुका बंध होगया हो तो चौथे भवर्में सिद्ध होता है; किन्तु चतुर्थ भवका अतिक्रमण नहीं करता । यह सम्यक्त्व साधनं है ।

क्षायिकसम्यक्त्वका विशेषस्वरूप बताते हैं ।

वयणेहि॒ वि॒ हेदूहि॒ वि॒ इंदियभयआणएहि॒ रुवेहि॒ ।

वीभच्छजुंच्छाहि॒ य॒ तेलोक्ण वि॒ ण॒ चालेज्ञो॒ ॥ ६४६ ॥

वचनैरपि॒ हेतुभिरपि॒ इन्द्रियभयानै॒ रूपैः॒ ।

बीभत्स्युनुगुप्ताभिश्चैलोक्येनापि॒ न॒ चाल्यः॒ ॥ ६४६ ॥

अर्थ— श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले आकारोंसे यद्वा ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर उत्पन्न होनेवाली ग्लानिसे किं बहुना तीन लोक्से भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चालायमान नहीं होता । **भावार्थ—** क्षायिक सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगमसे विशद् श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते । तथा वह भयोत्पादक आकार या ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर भी भ्रष्ट नहीं होता । यदि कदाचित् तीन लोकं उपस्थित होकर भी उसको अपने श्रद्धानसे भ्रष्ट करना चाहें तो भी वह भ्रष्ट नहीं होता ।

यह सम्यदर्शन किसके तथा कहां पर उत्पन्न होता है यह बताते हैं ।

दंसणमोहक्षवणापटुवगो॒ कम्भभूमिजादो॒ हु॒ ।

मणुसो॒ केवलिमूले॒ णिटुवगो॒ हो॒ दि॒ सव्वत्थ॒ ॥ ६४७ ॥

दर्शनमोहक्षपणाप्रस्थापकः॒ कर्मभूमिजातो॒ हि॒ ।

मनुष्यः॒ केवलिमूले॒ निष्ठापको॒ भवति॒ सर्वत्र॒ ॥ ६४७ ॥

अर्थ— दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका प्रारम्भ केवलीके मूलमें कर्मभूमिका उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही करता है, तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है । **भावार्थ—** दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें (निकट) ही होता है, तथा उसका (प्रारम्भका) करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है । यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होनेके प्रथम ही मरण होजाय तो उसकी (क्षणकी) समाप्ति चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें हो सकती है ।

वेदकसम्यक्त्वका॒ स्वरूप॒ बताते हैं ।

दंसणमोहुदयादो॒ उपज्जइ॒ जं॒ पयत्थसद्वहण॒ ।

चलमलिणमगाढं॒ तं॒ वेदयसम्मतमिदि॒ जाणे॒ ॥ ६४८ ॥

दर्शनमोहोदयादुत्पत्यते॒ यत्॒ पदार्थश्रद्धानम्॒ ।

चलमलिणमगाढं॒ तद्॒ वेदकसम्यक्त्वमिति॒ जानीहि॒ ॥ ६४८ ॥

अर्थ— सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो नल मलिन अगाढ़रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं । **भावार्थ—** मिश्यात्व भिन्न और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अभवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो जूँकने पर; किन्तु अवशिष्ट सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होते हुए पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं । यहां पर भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयननित चलता मलिनता और अगाढ़ता ये तीन दोष होते हैं । इन तीनोंका लक्षण पहले कहनुके हैं ।

तीन गाथाओंमें उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप और सामग्रीका वर्णन करते हैं ।

दंसणमोहुवसमदो उपज्जइ जं पयत्थसद्हणं ।

उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ॥ ६४९ ॥

दर्शनमोहोपशमादुत्पद्यते यत्पदीथश्रद्धानम् ।

उपशमसम्यक्त्वमिदं प्रसन्नमलपङ्कतोयसम् ॥ ६४९ ॥

अर्थ— उक्त सम्यक्त्वविरोधिनी सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व इस तरहका निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थोंके निर्मित्से कीचड़ आदि मलके नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है । **भावार्थ—** उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं; क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मोंका उदय दोनों ही स्थानपर नहीं है । किन्तु विशेषता इतनी ही है कि क्षायिक सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होगया है, और उपशम सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता है । जैसे किसी जलमें निर्मली आदिके द्वारा उपरसे निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं । ये दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं । अन्तर यही है कि एकके नीचे कीचड़ है दूसरीके नीचे कीचड़ नहीं है ।

स्य उवसमियविसोही देसणपाउगकरणलद्धी य ।

चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मते ॥ ६५० ॥

क्षायोपशमिकविशुद्धी देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च ।

चत्तसोऽपि सामान्याः करणं पुरन्वेति सम्यक्त्वे ॥ ६५० ॥

अर्थ— क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण, ये पांच लब्धियहैं । इनमें चार तो सामान्य हैं; किन्तु करण-लब्धि विशेष है । इसके होनेपर सम्यक्त्व या चारित्र नियमसे होता है । **भावार्थ—** लब्धि शब्दका अर्थ प्राप्ति है । प्रकृतमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होना इसको लब्धि कहते हैं । उसके उक्त पांच भेद हैं । सम्यक्त्वके योग्य कर्मोंके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं । निर्मलता-विशेषको विशुद्धि कहते हैं । योग्य उपदेशको देशना कहते हैं । पञ्चेन्द्रियविस्वरूप

योग्यतोके मिलनेको प्रायोग्यलिंग कहते हैं । अथःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंको करणलिंग कहते हैं । इन तीनों करणोंका स्वरूप पहले कह चुके हैं । इन पांच लिंगोंमेंसे आदिकी चार लिंग तो सामान्य हैं—अर्थात् भव्य अभव्य दोनोंके होती हैं, किन्तु करण लिंग असाधारण है—इसके हेने पर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र होता है । नव तक करणलिंग नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता ।

उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य सामग्रीको बताकर उसको ग्रहण करनेकेलिये योग्य जीव कैसा होना चाहिये यह बताते हैं ।

चदुगदिभव्यो सण्णी पञ्चतो सुज्ञगो य सागारो ।

जागारो सल्लेसो सलद्विगो सम्मुवगमई ॥ ६५१ ॥

चतुर्गांति भव्यः संज्ञी पर्याप्तः शुद्धकश्च साकारः ।

जागरुकः सल्लेश्यः सलद्विकः सम्यक्त्वमुवगच्छ्रुतिः ॥ ६५१ ॥

अर्थ—जो जीव चार गतियोंमेंसे किमी एक गतिका धारक, तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धियुक्त, जागृत, उपर्योगयुक्त, और शुभ लेश्यका धारक होकर करणलिंगरूप परिणामोंका धारक होता है वह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।

चत्तारिं खेत्ताइं आउगव्यधंण होदि सम्मतं ।

अणुवदमहव्यदाइं ण लहड़ देवाउगं मोन्तुं ॥ ६५२ ॥

चत्वार्यपि क्षेत्राणि आयुष्कवन्देन भवति सम्यक्त्वम् ।

अणुवतमहावतानि न लभते देवायुक्तं मुक्त्वा ॥ ६५२ ॥

अर्थ—चारों गतिसम्मन्त्री आयुष्कर्मका वंश होनेन पर भी सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु देवायुक्तो ओढ़कर शेष आयुका वंश होने पर अणुवत और महावत नहीं होते । **भावार्थ—**चारों गतिमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवके चार प्रकारकी आयुर्मेंसे किसी भी आयुका वंश होने पर भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है—इसमें कोई बाधा नहीं है । किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण होनेके अनन्तर अणुवत या महावत उसी जीवके हो सकते हैं जिसके चार आयुर्मेंसे केवल देवायुका वंश हुआ हो, अथवा किसी भी आयुका वंश न हुआ हो । नरकायु तिर्यगायु मनुष्यायुका वंश करनेवाले सम्यग्दृष्टिके अणुवत या महावत नहीं होते ।

सम्यक्त्वमार्गणके दूसरे भेदोंको गिनाते हैं ।

ण य मिळ्ठत्तं पत्तो सम्मतादो य जो य षरिवाडिदो ।

सो सासपोत्ति जेयो पंचमभावेण संजुतो ॥ ६५३ ॥

न च मिथ्यात्वं प्राप्तः सम्यक्त्वतश्च यश्च परिपतिः ।

स सासन इति ज्ञेयः पंचमभावेन संयुक्तः ॥ ६५३ ॥

अर्थ— जो जीव सम्यक्त्वसे तो ज्युत हो गया है किन्तु मिथ्या को प्राप्त नहीं हुआ है उसको सासन कहते हैं। यह जीत पांचमे पारणामिक भावांसे युक्त होता है। **भावार्थ—** सासनरूप परिणामोंका होना भी सम्यक्त्वगुणका एक विपरिणाम है, इसांमें यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है। अत एत यहां पर इसका वर्णन किया है; व्याप्तिके सम्यक्त्वमार्गणमें सामान्यसे सम्भवके समस्त भेदोंका वर्णन करना चाहिये। इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा पारणामिक भाव होते हैं, तथा अनन्तानुरूपी आदिकी अपेक्षा औद्यिकादि भाव होते हैं,। और इसका विशेष स्वरूप गुणस्थानविकारमें कह नुके हैं इसलिये यहां नहीं कहते हैं।

मिथ्यगुणस्थानका स्वरूप चताते हैं।

सद्वहणासद्वहणं जस्त य जीवस्स होइ तच्चेषु ।

विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छोत्ति णायद्यो ॥ ६५४ ॥

श्रद्धानाश्रद्धानं यस्य च जीवस्य भवति तत्त्वेषु ।

विरताविरतेन समः सम्यग्मित्य इति ज्ञातव्यः ॥ ६५४ ॥

अर्थ— विरताविरतकी तरह जिस जीवके तत्त्वके विषयमें श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों हों उसको सम्यग्मित्यादिति समझना चाहिये। **भावार्थ—** जिसतरह विरत और अविरत दोनों प्रकारके परिणामोंके जोड़की अपेक्षा विरताविरत नामका पांचमा गुणस्थान होता है, उसी तरह श्रद्धान और अश्रद्धानरूप परिणामोंके जोड़की अपेक्षा सम्यग्मित्यात्व नामका तीसरा गुणस्थान होता है। यह भी सम्यक्त्वमार्गण का एक भेद है।

मिच्छाइद्वी जीवो उवद्विं पवयणं ण सद्वहदि ।

सद्वहदि असब्दाभावं उवद्विं वा अणुवद्विं ॥ ६५५ ॥

मिथ्याद्विर्त्तिं उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धाति ।

श्रद्धाति असद्वात्मपुष्पदिष्टं वा अनुपदिष्टम् ॥ ६५५ ॥

अर्थ— जो जीव जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आस आगम पदार्थका श्रद्धान नहीं करता; किन्तु कुगुरुओंके कहे हुए या विना कहे हुए भी मिथ्या पदार्थका श्रद्धान करता है उसको मिथ्याद्विति कहते हैं। **भावार्थ—** मिथ्यात्म-दर्शनमोहनीके उद्यग्में वो प्रकारके विपरिणाम होते हैं। एक ग्रहीत विपरीत श्रद्धान दूसरा अग्रहीत विपरीत श्रद्धान। जो कुगुरुओंके उपदेशमें विपरीत श्रद्धान होता है उसको ग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। और जो विना उपदेशके ही विपरीत श्रद्धान हो उसको अग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके विपरिणामोंको मिथ्यात्म इस सामान्य शब्दमें कहते हैं। तथा यह मिथ्यात्म सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है। इसलिये इसी गाथाको एकवार गुणस्थानविकारमें आने पर भी यहां दूसरीवार कहा है।

सम्यक्त्वमार्गणमें तीन गथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं ।

वासपुधत्ते खइया संखेजा जह हवंति सोहम्मे ।
तो संखपल्लिदिये केवदिया एवमणुपादे ॥ ६५६ ॥
वर्षपृथक्त्वे क्षायिकाः संखयेया यदि भवन्ति सौधर्म्मे ।
तर्हि संख्यपल्यस्थितिके कति एवमनुपाते ॥ ६५६ ॥

अर्थ—क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म ईशान स्वर्गमें पृथक्त्व वर्षमें संख्यात उत्पन्न होते हैं तो संख्यात पल्यकी स्थितिमें कितने जीव उत्पन्न होंगे ? इसका वैराशिक करनेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण निकलता है ; क्योंकि क्षायिकसम्यग्दृष्टि बहुधा कल्पवासी देव होते हैं और कल्पवासी देव बहुत करके सौधर्म ईशान स्वर्गमें ही हैं । **भावार्थ—**फलाशी संख्यातका और इच्छाराशी संख्यात पल्यका परस्पर गुण कक्षे प्रमाण राशि पृथक्त्ववर्षका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

इस प्रकार वैराशिक करनेसे लब्धप्रमाण कितना आया यह बताते हैं ।

संखावलिहिदपला खइया तत्तो य वेदमुवसमगा ।
आवलिअसंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो ॥ ६५७ ॥

संख्यावलिहितपल्या क्षायिकसतश्च वेदमुपशमकाः ।

आवल्यसंख्यगुणिता असंख्यगुणहीनकाः कमशः ॥ ६५७ ॥

अर्थ—संख्यात आवलीसे भक्त पल्यप्रमाण क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं । क्षायिक सम्यग्दृष्टिके प्रमाणका आवलीके असंख्यातमे भागसे गुण करने पर जो प्रमाण हो उतना ही वेदकस-म्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है । तथा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंके प्रमाणसे असंख्यातगुण हीन उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

सासादन मिश्र और मिश्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

पल्लासंखेजदिमा सासणमिच्छा य संखगुणिदा हु ।
मिस्सा तेहिं विहीणो संसारी वामपरिमाणं ॥ ६५८ ॥

पल्यासंख्यातः सासनमिद्याश्च संख्यगुणिता हि ।

मिश्रास्त्रैविहीनः संसारी वामपरिमाणम् ॥ ६५८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण सासादनमिद्यादृष्टि जीव हैं । और इनसे संख्यातगुणे मिश्र जीव हैं । तथा संसारी जीवराशीमेंसे क्षायिक औपशमिक क्षायोपशमिक सासादन मिश्र इन पांच प्रकारके जीवोंका प्रमाण घटनेसे जो शेष रहे उतना ही मिश्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति सम्यक्त्वमार्गणाभिकारः ॥

क्रमप्राप्त संज्ञिमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

णोइंदियआवरणस्त्रोवसमं तज्ज्वोहणं सणा ।

सा जस्स सो दु सणी इदरो सेसिंदिअवबोहो ॥ ६५१ ॥

नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्तज्ज्वोधनं संज्ञा ।

सा यस्य स तु संज्ञी इतरः शेषन्दियावचोवः ॥ ६५२ ॥

अर्थ—नोइन्द्रियावरण कर्मके भग्नोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं । और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथा-सम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं । **भावार्थ—**जीव दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी । जिनके लिखि या उपयोगरूप मन पायाजाय उनको संज्ञी कहते हैं । और जिनके मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं । इन असंज्ञी जीवोंके यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान ही होता है ।

संज्ञी असंज्ञीकी पहचानकेलिये चिह्नोंका वर्णन करते हैं ।

सिक्खांकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।

जो जीवो सो सणी तविवरीओ असणी दु ॥ ६६० ॥

शिक्षाकियोपदेशालापग्राही मनोऽवलम्बेन ।

यो जीवः स संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी तु ॥ ६६० ॥

अर्थ—हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं । इच्छापूर्वक हाथ पैरके चलानेको किया कहते हैं । वचन अथवा चाचुक आदिके द्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं । और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं ।

जो जीव इन शिक्षादिको मनके अवलम्बनसे ग्रहण=धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । और जिन जीवोंमें यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी कहते हैं ।

मीमंसादि जो पुष्टं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।

सिक्खादि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ ६६१ ॥

मीमांसियः पूर्वं कार्यमकार्यं च तत्त्वमितरच्च ।

शिक्षते नामा एति च समनाः अमनाश्च विपरीतः ॥ ६६१ ॥

अर्थ—जो जीव प्रवृत्ति करनेके पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार करै, तथा तत्त्व और अतत्त्वका स्वरूप समझ सके, और उसका जो नाम रखा गया हो उस नामके द्वारा बुलाने पर आसके, उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं । और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं ।

संज्ञीमार्गणागत जीवोंकी संस्थाको बताते हैं ।

देवेहिं सादिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं ।

तेणूणो संसारी सब्वेसिमसणिनजीवाणं ॥ ६६२ ॥

देवैः सातिरेको राशिः संज्ञिनां भवति परिमाणम् ।

तेनोनः संसारी सर्वेषामसंज्ञिजीवानाम् ॥ ६६३ ॥

अर्थ—देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक संज्ञी जीवोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण संसारी जीव राशिमें से संज्ञी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति संहितामार्गणाधिकारः ॥

→≡≡≡≡≡←

ऋग्मप्राप्त आहारमार्गणाका वर्णन करते हैं ।

उदयावण्णसरीरोदयेण तदेहवयणचित्ताणं ।

णोकम्मवगणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६६२ ॥

उदयापवशरीरोदयेन तदेहवचनचित्तानाम् ।

नोकर्मवर्गणानां ग्रहणमाहारकं नाम ॥ ६६३ ॥

अर्थ—शरीरनामा नामकर्मके उदयसे देह वचन और द्रव्य मनरूप बननेके योग्य नोकर्मवर्गणाका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ।

निरुक्तिपूर्वक आहारका अर्थ लिखते हैं ।

आहरदि सरीराणं तिण्हं एयद्रवगणाओ य ।

भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥ ६६४ ॥

आहरति शरीराणां त्रयाणामेकतर्कर्गणाश्च ।

भासमनसेनियतं तस्मादाहारके भणितः ॥ ६६४ ॥

अर्थ—आदौरिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरके योग्य कर्गणाओंको तथा वचन और मनके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य जीवसमाप्त तथा कालमें जीव आहरण=ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं ।

जीव दो प्रकारके होते हैं एक आहारक दूसरे अनाहारक । आहारक जीव कौन २ होते हैं और अनाहारक जीव कौन २ होते हैं यह बताते हैं ।

विग्रहगदिमावणा केवलिणो समुग्धदो अजोगी य ।

सिद्धाय अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ ६६५ ॥

विग्रहगतिमापनाः केवलिनः समुद्धाता अयोगिनश्च ।

सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ६६५ ॥

अर्थ— विग्रहगतिको प्राप्त हेनेवाले चारों गतिमन्त्रन्धी जीव, प्रतर योर लोकपूर्ण समुद्रात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्त भिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं । और इनको छोड़कर शेष जीव आहारक होते हैं ।

समुद्रात, कितने प्रकारका होता है यह बताते हैं ।

वेयणकसायवेगुविवियो य मरणंतिशो समुग्घादो ।

तेजाहारो छट्ठो यत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

वेदनाकपायवैगूर्विकाश मारणान्तिकः समुद्रातः ।

तेज आहारः षष्ठः सप्तमः केवलिनां तु ॥ ६६६ ॥

अर्थ— समुद्रातके सात भेद हैं । वेदना, कपाय, वैकियिक, मारणान्तिक, तैनस, आहारक, केवल । इनका स्वरूप लेश्यार्मणाके क्षेत्राधिकारमें कहा जानुका है इस लिये यहां पर नहीं कहा है ।

समुद्रातका स्वरूप बताते हैं ।

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।

पिण्डमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥

मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिंडस्य ।

निर्गमनं देहाद्वति समुद्रातनाम तु ॥ ६६७ ॥

अर्थ— मूल शरीरको न छोड़कर तैनस कार्मण रूप उत्तर देहके साथ ३ जीवप्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलेको समुद्रात कहते हैं ।

आहारमारणंति य दुगं पि पिण्यमेण एगदिसिगं तु ।

दसदिंसि गदा हु सेसा पञ्च समुग्घादया होति ॥ ६६८ ॥

आहारमारणान्तिकद्विकमपि नियमेन एकदिशिकं तु ।

दशदिशि गता हि शेषाः पञ्चसमुद्रातका भवन्ति ॥ ६६८ ॥

अर्थ— उक्त सात प्रकारके समुद्रातोंमें आहार और मारणान्तिक ये दो समुद्रात तो एक ही दिशामें गमन करते हैं; किन्तु बाकीके पांच समुद्रात दर्शों दिशाओंमें गमन करते हैं ।

आहारक और अनाहारकके कालका प्रमाण बताते हैं ।

अंगुलअसंख्यभागो कालो आहारयस्स उक्कस्सो ।

कम्मद्विम अणाहारो उक्कस्सं तिष्णि समया हु ॥ ६६९ ॥

अङ्कुलासंख्यभागः कालः आहारकस्योत्कृष्टः ।

कार्मणे अनाहारः उत्कृष्टः त्रयः समया हि ॥ ६६९ ॥

अर्थ— आहारक का उत्कृष्ट काल मूल्यगुलके असंख्यातमें भागप्रमाण है । कार्मण शरीरमें अनाहारका उत्कृष्ट काल तीन समयका है, और जनन्य काल एक समयका है । तथा आहारका जनन्य काल तीन समय कम धारके अठारहमें भाग प्रमाण है, क्योंकि विग्रहगति-सम्बन्धी तीन समयोंके घटाने पर क्षुद्र भवका काल इतना ही अवशेष रहता है ।

आहारमार्गाणसम्बन्धी जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

कम्मद्यकायजोगी होदि अणाहारयाण परिमाणं ।
तद्विरहिदसंसारो सब्वो आहारपरिमाणं ॥ ६७० ॥

कार्मणकाययोगी भवति अनाहारकाणां परिमाणम् ।
तद्विरहितसंसारी सर्व आहारपरिमाणम् ॥ ६७० ॥

अर्थ— कार्मणकाययोगी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अनाहारक जीवोंका प्रमाण है । और संसारी जीवराशिमेंसे कार्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही आहारक जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति आहारमार्गाणाधिकारः ॥

कमप्राप्त उपयोगाधिकारका वर्णन करते हैं ।

वस्तुणिमित्तं भावो जादो जीवस्स जो दु उवजोगो ।
सो दुविहो णायवो सायारो चेव णायारो ॥ ६७१ ॥

वस्तुनिमित्तं भावो जातो जीवस्य यस्तूपयोगः ।
स द्विविशो ज्ञातव्यः साकारश्वैवानाकारः ॥ ६७१ ॥

अर्थ— जीवका जो भाव वस्तुको (ज्ञेयको) ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं । इसके दो भेद हैं एक साकार (सविकल्प) दूसरा निराकार (निर्विकल्प) । दोनोंप्रकारके उपयोगोंके उत्तरभेदोंको बताते हुए यह उपयोग जीवका लक्षण है यह बताते हैं ।

णाणं पंचविहंपि य अणाणतियं च सागरुवजोगो ।
चदुर्दंसणमणगारो सब्वे तलुक्खणा जीवा ॥ ६७२ ॥

ज्ञानं पंचविधमपि च अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः ।
चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तलुक्खणा जीवाः ॥ ६७२ ॥

अर्थ— पांच प्रकारका सम्यज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान ये साकार उपयोग है । चार प्रकारका दर्शन अनाकार उपयोग है । यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवोंका लक्षण है ।

साकार उपयोगमें कुछ विशेषताको बताते हैं ।

मदिसुद ओहिमणेहिंय सगसगविसये विसेसविणाणं ।

अंतोमुहुत्कालो उवजोगो सो दु सायारो ॥ ६७३ ॥

मतिश्रुतावधिमनोभिश्च स्वकस्वकविपये विशेषविज्ञानम् ।

अन्तर्मुहूर्तकाल उपयोगः स तु साकारः ॥ ६७३ ॥

अर्थ—मति श्रुत अवधि और मनःपर्य इनकेद्वारा अपने २ विषयका अन्तर्मुहूर्तका-लर्यन्त जो विशेषज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं । **भावार्थ—**साकार उपयोगके पांच भेद हैं । मति श्रुत अवधि मनःपर्य और केवल । इनमेंसे आदिके चार ही उपयोग छद्ग्रस्थ जीवोंके होते हैं । उपयोग नेतनाका एक परिणमन है । तथा एक वस्तुके ग्रहणरूप नेतनाका यह परिणमन छद्ग्रस्थ जीवके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रह सकता है । इस साकार उपयोगमें यही विशेषता है कि यह वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करता है ।

अनाकार उपयोगका स्वरूप बताते हैं ।

इन्द्रियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं ।

अंतोमुहुत्कालो उवजोगो सो अणायारो ॥ ६७४ ॥

इन्द्रियमनोऽवधिना वा अर्थे अविशेष्य यद्ग्रहणम् ।

अन्तर्मुहूर्तकालः उपयोगः स अनाकारः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—इन्द्रिय मन और अवधिकेद्वारा अन्तर्मुहूर्तकालतक पदार्थोंका जो सामान्यरूपसे ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं । **भावार्थ—**दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु-दर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन । इनमेंसे आदिके तीन ही दर्शन छद्ग्रस्थ जीवोंके होते हैं । नेत्रकेद्वारा पदार्थका जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं । और नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मनकेद्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं । अवधिज्ञानके पहले इन्द्रिय और मनकी सहायतके बिना आत्म-मात्रसे जो रूपी पदार्थविषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं । यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोगकी तरह छद्ग्रस्थ जीवोंके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्ततक ही होता है ।

उपयोगाविकारमें जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

णाणुवजोगजुदाणं परिमाणं णाणमग्गणं व हवे ।

दंसणुवजोगियाणं दंसणमग्गण व उत्तकमो ॥ ६७५ ॥

ज्ञानोपयोगयुतानां परिमाणं ज्ञानमार्गणावद्वेत् ।

दर्शनोपयोगिनां दर्शनमार्गणावदुक्तक्रमः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगवाले जीवोंका प्रमाण ज्ञानमार्गणावाले जीवोंकी तरह समझना चाहिये । और दर्शनोपयोगवालोंका प्रमाण दर्शनमार्गणावालोंकी तरह समझना चाहिये । इनमें कुछ विशेषता नहीं है ।

॥ इति उपयोगाधिकारः ॥

उक्त प्रकारसे वीस प्रखण्डाओंका वर्णन करके अब अन्तर्भौवाधिकारका वर्णन करते हैं ।

गुणजीवा पञ्चती पाणा सणा य मग्गणुवजोगो ।

जोग्गा पञ्चविदव्वा ओधादेसेसु पत्तेयं ॥ ६७६ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणोपयोगौ ।

योग्गाः प्रखण्डव्या ओधादेशयोः प्रत्येकम् ॥ ६७६ ॥

अर्थ—उक्त वीस प्रखण्डाओंमें गुणस्थान और मार्गणास्थानमें यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान जीवसमाप्ति पर्याप्ति प्राण संज्ञा मार्गणा उयोगका निरूपण करना चाहिये भावार्थ—इस अधिकारमें यह बताते हैं कि किस २ मार्गणामें या गुणस्थानमें शेष किस २ प्रखण्डाका अन्तर्भौव होता है । परन्तु इस अन्तर्भौवका निरूपण यथायोग्य होना चाहिये ।

किस २ मार्गणामें कौन २ गुणस्थान होते हैं ? उत्तरः—

चउपण चोद्दस चउरो णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे ।

तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणद्वाणं ॥ ६७७ ॥

चत्वारि पञ्च चतुर्दश चत्वारि निरयादिषु चतुर्दश तु पञ्चाक्षे ।

त्रसकाये शेषेन्दियकाये मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—गतिमार्गणाकी अपेक्षासे कमसे नरकगतिमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं, और तिर्यग्मतिमें पांच, मनुष्यगतिमें चौदह, तथा देवगतिमें नरकगतिके समान चार गुणस्थान होते हैं । इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवोंके चौदह गुणस्थान और शेष एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त जीवोंके केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । कायमार्गणाकी अपेक्षा त्रसकायके चौदह और शेष स्थावर कायके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । **भावार्थ—**यहां पर यह बताया है कि अमुक २ गति इन्द्रिय या कायवाले जीवोंके अमुक २ गुणस्थान होता है । इसी तरह जीवसमादिकोंको भी यथायोग्य समझना चाहिये । जैसे कि नरक और देवगतिमें पर्याप्ति और निर्वृत्यपर्याप्ति ये दो जीवसमाप्त होते हैं । तिर्यग्मतिमें चौदह तथा मनुष्यगतिमें संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्ति अपर्याप्त ये दो जीवसमाप्त

होते हैं। इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रिय जीवोंके बादर पर्याप्त अपर्याप्त सूप पर्याप्त अपर्याप्त गे चार जीवसमाप्त होते हैं। द्वीन्द्रिय श्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंके अपने २ पर्याप्त अपर्याप्त इस-तरह दो २ जीवसमान होते हैं। पञ्चन्द्रियमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमाप्त होते हैं। कायमार्गणाकी अपेक्षा स्थावरकायमें एकेन्द्रियके समान भाग जीवसमाप्त होते हैं। और त्रसकायमें शेष दश जीवसमाप्त होते हैं।

मञ्जिष्मचउमणः त्रयणे मणिणप्पद्विदिं दु जाव खीणोत्ति ।
सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ॥ ६७८ ॥

मध्यमत्तुर्मनोवचनयोः संज्ञेप्रभूतिस्तु यावत् क्षीण इति ।

शेषाणां योगीति च अनुभयवचनं तु विकलतः ॥ ६७८ ॥

अर्थ——असत्यमन उभयमन असत्य वचन उभय वचन इन चार योगोंके स्वामी संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायपर्यंत चारह मुणस्थानवाले जीव हैं। और सत्यमन अनुभयमन सत्यवचन इनके स्वामी औंदिके तेरह मुणस्थानवाले जीव हैं। अनुभय वचनयोग विकलत्रयसे लेकर सयोगीपर्यन्त होता है। अनुभय वचनको ओड़कर शेष तीन प्रकारका वचन और चार प्रकारका मन, इनमें एक संज्ञी पर्याप्त ही जीवसमाप्त है। और अनुभय वचनमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय श्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच जीवसमाप्त होते हैं।

ओरालं पञ्चते थावरकायादि जाव जोगोत्ति ।
तमिस्समपञ्चते चदुगुणठाणेषु णियमेण ॥ ६७९ ॥

औरालं पर्याप्ते स्थावरकायादि यावत् योगीति ।

तनिश्चपर्याप्ते चतुर्मुणस्थानेषु नियमेण ॥ ६७९ ॥

अर्थ——औदारिककाययोग, स्थावर एकेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगी पर्यन्त होता है। और औदारिक मिथ्रकाययोग नियमसे चार अपर्याप्त मुणस्थानोंमें ही होता है। औदारिक काययोगमें पर्याप्त सात जीवसमाप्त होते हैं, और मिथ्रयोगमें अपर्याप्त सात जीवसमाप्त हैं।

अपर्याप्त चार मुणस्थानोंको गिनाते हैं।

मिच्छे सासणसम्मे पुंवेदयदे कवाडजोगिमि ।
णरतिरियेवि य दोणिणवि हांतिति जिणेहिं णिदिङ्दु ॥ ६८० ॥

मिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वे पुंवेदायने कपाटयोगिनि ।
णरतिरश्चोरपि च द्वावपि भवन्ताति जिनैर्नदिष्ट्यम् ॥ ६८० ॥

१ गुणस्थानोंका कम गुणस्थानाधिकारसे समझना। २ इनमें एक सयोगीको मिलनेसे आठ जीवसमाप्त होते हैं।

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, पुरुषवेदके उदयसंयुक्त असंयत, तथा कपाटसमुद्भात करनेवाले सयोगकेवली, इन चार स्थानोंमें ही औदारिकमिश्रकाययोग होता है । तथा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों ही मनुष्य और तिर्यकोंके ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

वेगुद्वं पञ्चते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु ।

सुरणिरयचउटुणो मिस्से णहि मिस्सजोगो हु ॥ ६८१ ॥

वैगूर्वं पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रं तु ।

सुरनिरयचतुःस्थाने मिश्रे नहि मिश्रयोगो हि ॥ ६८१ ॥

अर्थ—मिथ्याद्विषे लेकर असंयतपर्याप्त चारों ही गुणस्थानवाले देव और नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें वैकियिक काययोग होता है, और अपर्याप्त अवस्थामें वैकियिकमिश्रयोग होता है; किन्तु यह मिश्रयोग चार गुणस्थानोंमेंसे मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता; क्योंकि कोई भी मिश्रयोग मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता । वैकियिक योगमें एक संज्ञीपर्याप्त ही जीवसमाप्त है और मिश्रयोगमें एक संज्ञी निरूप्तपर्याप्त जीवसमाप्त है ।

आहारो पञ्चते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु ।

अंतोमुहूर्तकाले छटुणुणे होदि आहारो ॥ ६८२ ॥

आहारः पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रस्तु ।

अन्तमुहूर्तकाले पष्ठुणुणे भवति आहारः ॥ ६८२ ॥

अर्थ—आहारककाययोग पर्याप्त अवस्थामें होता है, और आहारकमिश्रयोग अपर्याप्त अवस्थामें होता है । ये दोनों ही योग छड़े गुणस्थानवाले मुनिके ही होते हैं । और इनके उत्कृष्ट और जन्मन्य कालका प्रमाण अंतमुहूर्त ही है भावार्थ—यहांपर जो पर्याप्तता या अपर्याप्तता कही है वह आहारक शरीरकी अपेक्षासे कही है, औदारिक शरीरकी अपेक्षासे नहीं कही है; क्योंकि औदारिकशरीरसम्बन्धी अपर्याप्तता छड़े गुणस्थानमें नहीं होती ।

ओरालियमिस्सं वा चउगुणठाणेषु होदि कम्मद्वयं ।

चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे ॥ ६८३ ॥

औरालिकमिश्रो वा चतुर्गुणस्थानेषु भवति कार्मणम् ।

चतुर्गतिविग्रहकाले योगिनश्च प्रतरलोकपूरणके ॥ ६८३ ॥

अर्थ—औदारिक मिश्रयोगकी तरह कार्मण योग भी चार गुणस्थानोंमें और चारों विग्रहगतियोंके कालमें होता है, विशेषता केवल इतनी है कि औदारिकमिश्रयोगको जो सयोगके बलिगुणस्थानमें बताया है सो कपाटसमुद्भात समयमें बताया है, और कार्मणयोगको प्रतर और लेकपूरण समुद्भात समयमें बताया है । यहां पर औदारिकमिश्रकी तरह जीवसमाप्त भी आठ होते हैं ।

थावरकायप्पहुदीं संदो सेसा असणिणआदी य ।

अणियद्विस्त य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिंदेहं ॥ ६८४ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः षणः शेषा असंश्यादयश्च ।

अनिवृत्तेश्च प्रथमो भाग इति जिनैनिर्दिष्टम् ॥ ६८४ ॥

अर्थ—वेदमार्गणके तीन भेद हैं, खी, पुरा, नपुंसक । इसमें नपुंसक वेद स्थावर-काय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति धरणके पहले सबैद भाग पर्यन्त रहता है । अत एव इसमें गुणस्थान नव और जीवसमाप्त चौदह होते हैं । शेष खी और पुरुषवेद असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके सबैद भाग तक होते हैं । यहां पर गुणस्थान तो पहलेकी तरह नव ही है; किन्तु जीवसमाप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके पर्याप्त अपर्याप्त और संज्ञीके पर्याप्त अपर्याप्त इसतरह नार ही होते हैं ।

थावरकायप्पहुदीं अणियद्विचितिचउत्थभागोत्ति ।

कोहतियं लोहो पुण सुहमसुरागोत्ति विणेयो ॥ ६८५ ॥

स्थावरकायप्रभृति अनिवृत्तिद्विचित्रतुर्थभाग इति ।

क्रोधत्रिकं लोभः पुनः सूक्ष्मसराग इति विज्ञेयः ॥ ६८५ ॥

अर्थ—कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोध मान माया ये तीन कपाय स्थावरकायमिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति करणके दूसरे तीसरे चौथे भाग तक कमसे रहते हैं । और लोभकषाय दशमे सूक्ष्मसम्पाराय गुणस्थान तक रहता है । अतएव आदिके तीन कपायोंमें गुणस्थान नव और लोभकषायमें दश होते हैं; किन्तु जीवसमाप्त दोनों जगह चौदह २ ही होते हैं । :

थावरकायप्पहुदीं मादिसुदअणणाणयं विभंगो दु ।

सण्णीपुणप्पहुदीं सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥ ६८६ ॥

स्थावरकायप्रभृति मतिश्रुताज्ञानकं विभड्गस्तु ।

संज्ञिपूर्णप्रभृति सासनसम्यगिति ज्ञातव्यः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—कुमति और कुश्रुत ज्ञान स्थावरकाय-मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासादन गुणस्थान तक होते हैं । विभड्गज्ञान संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासादनपर्यन्त होता है । कुमति कुश्रुत ज्ञानमें गुणस्थान दो और जीवसमाप्त चौदह होते हैं । विभड्गमें गुणस्थान दो और जीवसमाप्त एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है ।

सण्णाणतिगं आविरदसम्मादीं छट्टगादि मणपञ्जो ।

खीणकसायं जाव दु केवलणाणं जिणे सिद्धे ॥ ६८७ ॥

सदज्ञानात्रिकमविरतसम्यगादि षष्ठकादिमनःपर्ययः ।

क्षीणकसायं यावत्तु केवलज्ञानं जिने सिद्धे ॥ ६८७ ॥

अर्थ—आदिके तीन सम्बन्धान (मति श्रुत अवधि) अब्रतसम्बन्धाण्डिसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं । मनःपर्ययज्ञान छड़े गुणस्थानसे लेकर चारहमे गुणस्थान तक होता है । और केवलज्ञान तेरहमे चौदहमे गुणस्थानमें तथा सिद्धोंके होता है । **भावार्थ—**आदिके तीन सम्बन्धानमें गुणस्थान नव और जीवसमाप्त संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । मनःपर्यय ज्ञानमें गुणस्थान सात और जीवसमाप्त एक संज्ञीपर्याप्त ही है । यहां पर यह शंका नहीं हो सकती कि आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षा अपर्याप्तता भी सम्भव है इसलिये यहां दो जीवसमाप्त कहने चाहिये ? क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानवालेके नियमसे आहारक-ऋद्धि नहीं होती । केवलज्ञानकी अपेक्षा गुणस्थान दो (सयोगी, अयोगी) और जीवसमाप्त भी संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । सयोगकेवलियों के समुद्रात समयमें अपर्याप्तता भी होती है यह पहले कहनुके हैं । गुणस्थानोंसे रहित सिद्धोंके भी केवलज्ञान होता है ।

**अयदोत्ति हु अविरमणं देसे देसो पमत्त इदरे य ।
परिहारो सामाइयछेदो छटुादि थूलोत्ति ॥ ६८८ ॥
सुहमो सुहमकसाये संते खीणे जिणे जहकखादं ।
संजममगणभेदा सिद्धे णत्थित्ति णिदिद्धुं ॥ ६८९ ॥**

अगत इति अविरमणं देशो देशः प्रमत्तेरगम्निं च ।
परिहारः सामायिकश्छेदः षष्ठादिः स्थूल इति ॥ ६८८ ॥
सूक्ष्मः सूक्ष्मकपाये शान्ते क्षणे जिणे यथास्थातम् ।
संयममार्गणभेदाः सिद्धे न सन्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—संयममार्गणमें अमंयमको भी गिनाया है, इसलिये यह (असंयम) मिथ्याद्विषे लेकर अब्रतसम्बन्धाण्डितक होता है । अतः यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमाप्त चौदह होते हैं । देशसंयम पांचमे गुणस्थानमें ही होता है । अतः यहां पर गुणस्थान एक और जीवसमाप्त भी एक संज्ञी पर्याप्त ही होता है । परिहारविशुद्धि संयम छड़े सातमे गुणस्थानमें ही होता है, यहांपर भी जीवसमाप्त एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है; क्योंकि परिहारविशुद्धिवाला आहारक नहीं होता । सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छड़ेसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होता है । इसलिये यहांपर गुणस्थान चार और जीवसमाप्त दो होते हैं । सूक्ष्मसांपराय संयम दशमे गुणस्थानमें ही होता है । अतः यहांपर गुणस्थान और जीवसमाप्त एक २ ही है । यथास्थान संयम उपशांतकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवलियोंके होता है । यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमाप्त संज्ञी पर्याप्त तथा केवल-समुद्रातकी अपेक्षा अपर्याप्त ये दो होते हैं । सिद्ध गुणस्थान और मार्गणाओंसे रहित हैं अतः उनके कोई भी संयम नहीं होता ।

कमप्राप्त दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा यथासम्भव गुणस्थान और जीवसमाप्त धृति करते हैं।

चउरक्खथावरविरद्दसम्माइट्टी दु खीणमोहोत्ते ।

चक्खुअचक्खु ओही जिणासिंद्र केवलं होदि ॥ ६०० ॥

चतुरक्षस्थावराविरतसम्यग्दिष्टु खीणमोह राति ।

कक्षुत्तक्षुरवधिः जिनगिद्दे केवलं भवति ॥ ६०० ॥

अर्थ—दर्शनके चार दर्शन हैं। चक्षुदर्शन अचक्खुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन यह पहले बतानुके हैं। इनमें पहला चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है। और अचक्खुदर्शन भी स्थावरकायमें लेकर क्षीणमोहपर्यन्त ही होता है। तथा अवधिदर्शन अव्रतसम्यग्दियसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है। केवलदर्शन सयोगकेवल और अगोगकेवल इन दो गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके होता है। **भावार्थ—**चक्षुदर्शनमें गुणस्थान बारह और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके असंज्ञी मंजीसम्बन्धी अपर्याप्त पर्याप्तकी अपेक्षा जीवसमाप्त लग्ह होते हैं। अचक्खुदर्शनमें गुणस्थान बारह और जीवसमाप्त चौदह होते हैं। अवधिदर्शनमें गुणस्थान नवै और जीवसमाप्त मंजी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं। केवलदर्शनमें गुणस्थान दो और जीवसमाप्त भी दो होते हैं। विशेषता यह है कि यह (केवलदर्शन) गुणस्थानातीत सिद्धोंके भी होता है।

लेश्याकी अपेक्षासे गुणस्थान और जीवसमाप्तोंका वर्णन करते हैं।

थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा ।

सण्णीदो अप्रमत्तो जाव दु सुहतिणिलेस्साओ ॥ ६११ ॥

स्थावरकायप्रभृति अविरतसम्यगिति अशुभत्रिकलेश्याः ।

संज्ञितः अप्रमत्तो यावत् शुभास्तिस्यो लेश्याः ॥ ६११ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेदोंको पहले बतानुके हैं। उनमें आदिकी कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्या स्थावरकायमें लेकर चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त होती हैं। और अनंती पीत पद्म शुक्र ये तीन शुभलेश्या संज्ञी मिथ्यादियसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती हैं। **भावार्थ—**अशुभ लेश्याओंमें गुणस्थान चार और जीवसमाप्त चौदह होते हैं, तथा शुभलेश्याओंमें गुणस्थान सात और जीवसमाप्त दो होते हैं।

इस कथनसे शुक्ललेश्या भी सातमे गुणस्थानतक ही सिद्ध होती है, अतः शुक्ललेश्याके विषयमें अपवादात्मक विशेष कथन करते हैं।

णवरि य मुक्का लेस्सा सजोगिचरिमोत्ति होदि णियमेण ।

१ क्योंकि यह समीचीन अवधिज्ञानकी अपेक्षामें कथन है। जो मिथ्या अवधि है उसको विभंग कहते हैं। विभंगके पहले दर्शन नहीं होता।

गयजोगिम्मि वि सिद्धे लेस्सा णत्थिच्चि णिद्विदुं ॥ ६९२ ॥

नवरि च शुक्ला लेश्या सयोगिन्चरम इति भवति नियमेन ।

गतयोगेऽपि च सिद्धे लेश्या नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६९२ ॥

अर्थ—शुक्ललेश्यामें यह विशेषता है कि वह संती पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग-केवल गुणस्थानपर्यन्त होती है। और इसमें जीवसमाप्त दो ही होते हैं। इसके ऊपर चौदहमें गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा सिद्धोंके कोई भी लेश्या नहीं होती, यह परमागममें कहा है।

थावरकायप्पहुदी अजोगि चरिमोत्ति होति भवसिद्धा ।

मिच्छाइट्टिद्वाणे अभवसिद्धा हवंतिति ॥ ६९३ ॥

स्थावरकायप्रभृति अयोगिन्चरम इति भवन्ति भवसिद्धाः ।

मिथ्यादृष्टिस्थाने अभवसिद्धा भवन्तीति ॥ ६९३ ॥

अर्थ—भव्यसिद्ध स्थावरकाय—मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगिपर्यंत होते हैं। और अभव्य-सिद्ध मिथ्यादृष्टिस्थानमें ही रहते हैं। **भावार्थ—**भव्यत्वमार्गणाके दो भेद हैं, एक भव्य और दूसरे अभव्य—इहीको भव्यसिद्ध अभव्यसिद्ध भी कहते हैं। जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्त मिलनेपर सिद्धपर्यायकी तथा उसके साथन्मूल सम्यदर्शनादिसम्बन्धी शुद्धपर्यायकी प्राप्ति होसके जीवकी उस शक्तिविशेषको भव्यत्वशक्ति कहते हैं। जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्तके मिलने पर भी सम्यदर्शनादिककी तथा उनके कार्यरूप सिद्धपर्यायकी प्राप्ति न हो सके जीवकी उस शक्तिविशेषको अभव्यत्वशक्ति कहते हैं। भव्यजीवोंके चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमाप्त होते हैं। और अभव्य जीवोंके चौदह जीवसमाप्त और एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

मिच्छो सासणमिस्सो सगसगठाणम्मि होदि अयदादो ।

पदमुवसमवेदगसम्मतदुर्गं अध्यमत्तोत्ति ॥ ६९४ ॥

मिथ्यात्वं सासनमित्रौ स्वक्त्वकस्थाने भवति अयतात् ।

प्रथमोपशमवेदकसम्यक्त्वद्विक्प्रमत्त इति ॥ ६९४ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, सासन, मिश्र, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक। इनमें आदिके तीन सम्यक्त्व तो अपने २ गुणस्थानमें ही होते हैं। और प्रथमोपशम तथा वेदक ये दो सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातमें गुणस्थानतक होते हैं। **भावार्थ—**मिथ्यादर्शनका गुणस्थान एक प्रथम और जीवसमाप्त चौदह। सासादनका

गुणस्थान एक दूसरा जीवसमाप्त सात होते हैं । वे इस प्रकार हैं कि चार एकेन्द्रिय, तीनिद्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इनसम्बन्धी अपर्याप्त और एक संज्ञीपर्याप्त । मिश्रदर्शनका गुणस्थान एक तीसरा और जीवसमाप्त भी संज्ञी पर्याप्त यह एक ही होता है । उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं—एक प्रथमोपशम दूसरा द्वितीयोपशम । जो प्रतिपक्षी पांच ग्रा सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । और जो सम्यग्दर्शन तीन दर्शनमोहर्नीय प्रकृतियोंके उपशमके साथ २ चार अनंतानुबंधी कषायोंके विसंयोजनसे उत्पन्न होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इनमेंसे एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व तथा वेदैक सम्यक्त्व असंयतसे लेकर अप्रमत्पर्यंत होता है । प्रथमोपशमसम्यक्त्व अवस्थामें मरण नहीं होता । इसलिये जीवसमाप्त एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है । और वेदकसम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमाप्त होते हैं । क्योंकि प्रथम नरक और भवनत्रिकको छोड़कर शेष देव, भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यन्तोंमें अपर्याप्त अवस्थामें भी वेदक सम्यक्त्व रहता है ।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको कहते हैं ।

विदियुवसमसम्भात्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति ।

खद्गं सम्भं च तदा सिद्धोत्ति जिणेहिं णिद्विद्वं ॥ ६९५ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमविरतसम्यगद्विशात्मोहद्विति ।

क्षायिक सम्यक्त्वं च तथा सिद्धिति जिनैनर्दिष्टष्ट ॥ ६९६ ॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर उपशांतमोहर्पर्यन्त होता है । क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सिद्धपर्यन्त होता है । द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त और देव अपर्याप्त ये दो जीवसमाप्त होते हैं । क्षयिक सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमाप्त होते हैं । तथा यह सम्यक्त्व सिद्धोंके भी होता है; परन्तु वहांपर कोई भी जीवसमाप्त नहीं होता । भावार्थ—यहां पर चतुर्थ पंचम तथा पठ गुणस्थानमें जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बताया है उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातमें गुणस्थानमें ही उत्पन्न होता है; परन्तु वहांसे श्रेणिका आरोहण करके जब म्यारहमें गुणस्थानसे निचे गिरता है तब छह पांचमे चौथे गुणस्थानमें भी आता है इस अपेक्षासे इन गुणस्थानमें भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है ।

१ विदेषता इतनी है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सासाइन गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके संज्ञीपर्याप्त और देवअपर्याप्त ये दो ही जीवसमाप्त होते हैं । २ अनंतानुबंधीका अप्रलाप्यानादिष्प परिणमन होता ।

३ वेदकसम्यक्त्वका लक्षण पहले कह चुके हैं ।

संज्ञामार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओति होदि णियमेण ।

थावरकायप्पहुदी असणिणति हवे असण्णी हु ॥ ६९६ ॥

संज्ञी संज्ञिप्रभृतिः क्षीणकपाय इति भवति नियमेन ।

स्थावरकायप्रभृतिः असंज्ञीति भवेदंसंज्ञी हि ॥ ६९६ ॥

अर्थ—संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादाइसे लेकर क्षीणकायपर्यन्त होते हैं । इनमें गुणस्थान चारह और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । असंज्ञी जीव स्थावरकायेसे लेकर असंज्ञीपचेन्द्रियपर्यन्त होते हैं । इनमें गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही होता है, और जीवसमास संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंको छोड़कर शेष चारह होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी सजोगिगिचरिमोति होदि आहारी ।

कम्मइय अणाहारी अजोगिसिद्धे वि णायब्बो ॥ ६९७ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः सयोगिचरम इति भवति आहारी ।

कार्मण अनाहारी अयोगिसिद्धेऽपि ज्ञातव्यः ॥ ६९७ ॥

अर्थ—स्थावरकायमिथ्यादाइसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त आहारी होते हैं । और कार्मणकाययोगवाले तथा अयोगकेवली अनाहारक समझने चाहिये । भावार्थ—कार्मणकाययोग और अयोग केवल गुणस्थानवाले जीवोंको छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव आहारक होते हैं । आहारक जीवोंके आदिके तेरह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं । अनाहारक जीवोंके गुणस्थान पांच (मिथ्यादाइ सासादन असंयत सयोगी अयोगी) और जीवसमास सात अपर्याप्त और एक अयोगीसम्बन्धी पर्याप्त इसप्रकार आठ होते हैं ।

किस २ गुणस्थानमें कौन २ सा जीवसमास होता है यह प्रतिकरते हैं ।

मिच्छे चोद्दस जीवा सासण अयदे पमत्तविरदे य ।

सणिणदुगं सेसगुणे सण्णीपुण्णो दु खीणोति ॥ ६९८ ॥

मिथ्यात्वे चतुर्दश जीवाः सासनायते प्रमत्तविरते च ।

संज्ञिद्विकं शेषगुणे संज्ञिपूर्णस्तु क्षीण इति ॥ ६९८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें चौदह जीवसमास हैं । सासादन असंयत प्रमत्तविरत चकारसे सयोगकेवली इनमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । शेष गुणस्थानमें संज्ञीपर्याप्त एक ही जीवसमास होता है ।

मार्गणास्थानमें जीवसमासोंको संक्षेपसे दिखाते हैं ।

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसेसु जाण दो दो दु ।

मग्गणठाणससेवं नेयाणि समासठाणाणि ॥ ६९९ ॥

तिर्यग्मातौ चतुर्दश भवन्ति शेषेषु जानीहि द्वौ द्वौ तु ।
मार्गणास्थानस्यैवं ज्ञेयानि समासस्थानानि ॥ ६९९ ॥

अर्थ— मार्गणास्थानके जीवसमांसोंको संलेपमे इसप्रकार समझना चाहिए कि तिर्यग्म-
तिमार्गणामें तो चौदह जीवसमास होते हैं । और शेष समस्त गतियोंमें दो यो ही जीवस-
मास होते हैं ।

गुणस्थानोंमें पर्याप्ति और प्राणोंको बताते हैं ।

पञ्चती पाणावि य सुगमा भाविंद्रियं ण जोगिम्हि ।

तहि वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ ॥ ७०० ॥

पर्याप्तयः प्राणा अपि च सुगमा भावेन्द्रियं न योगिनि ।

तस्मिन् वागुच्छ्वासायुष्ककायत्रिकद्विमयोगिन आयुः ॥ ७०० ॥

अर्थ— पर्याप्ति और प्राण ये सुगम हैं, इसलिये यहां पर इनका पृथक् उल्लेख नहीं
करते; क्योंकि वारहमे गुणस्थानतक सब ही पर्याप्ति और सब ही प्राण होते हैं । तेहरमे
गुणस्थानमें भवेन्द्रिय नहीं होती; किन्तु द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा छहों पर्याप्ति होती हैं ।
परन्तु प्राण यहांपर चार ही होते हैं—वचन शासोच्छ्वास आयु कायबल । इसी गुणस्थानमें
वचनबलका अभाव होनेसे तीन और शासोच्छ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रहते हैं ।
चौदहमे गुणस्थानमें काययोगका भी अभाव होजानेसे केवल आयु प्राण ही रहता है ।

क्रमप्राप्त संज्ञाओंको गुणस्थानोंमें बताते हैं ।

छट्टोत्ति पठमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्षा ।

पुच्छो पठमणियद्वी सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ ॥ ७०१ ॥

पष्ठ इति प्रथमसंज्ञा सकार्या शेषाश्च कारणापेक्षाः ।

अपूर्वः प्रथमानिवृत्तिः सूक्ष्म इति क्रमेण शैषाः ॥ ७०१ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तपर्यन्त आहार भय मैथुन और परिग्रह ये
चारों ही संज्ञा कार्यरूप होती हैं । किन्तु इसके ऊपर अप्रमत्त आदिकमें जो तीन आदिक
संज्ञा होती हैं वे सब कारणकी अपेक्षासे होती हैं । छट्टे गुणस्थानमें आहारसंज्ञाकी व्युच्छित्ति
होजाती है । शेष तीन संज्ञा कारणकी अपेक्षासे अपूर्वकरणपर्यन्त होती हैं । यहांपर
(अपूर्वकरणमें) भयसंज्ञाकी भी व्युच्छित्ति होजाती है । शेष दो संज्ञा अनिवृत्तिकरणके
सबेदभागपर्यन्त होती हैं । यहां पर मैथुनसंज्ञाका विच्छेद होनेसे सूक्ष्मसांपरायमें एक परिग्रह
संज्ञा ही होती है । इस परिग्रह संज्ञाका भी यहां विच्छेद होजानेसे ऊपर उपशातकपाय
आदि गुणस्थानोंमें कोई भी संज्ञा नहीं होती ।

**मग्गण उवजोगावि य सुगमा पुष्वं परूविदत्तादो ।
गदिआदिसु मिच्छादी परूविदे रूविदा हाँति ॥ ७०२ ॥**

मार्गण उपयोगा अपि च सुगमाः पूर्वं प्रस्तुपितत्वात् ।

गत्यादिपु मिथ्यात्वादौ प्रस्तुपिते रूपिता भवन्ति ॥ ७०३ ॥

अर्थ—पहले मार्गणास्थानकमें गुणस्थान और जीवसमासादिका निरूपण करनुके हैं इसलिये यहां गुणस्थानके प्रकरणमें मार्गणा और उपयोगका निरूपण करना सुगम है । **मार्गार्थ—**मार्गणा और उपयोग किसतरह सुगम हैं यह सेसेपमें यहां पर स्थित करते हैं । मिथ्यादिष्टि गुणस्थानमें नरकादि चारों ही गति पर्याप्त और अपर्याप्त होती हैं । सासादन गुणस्थानमें नरकमातिको छोड़कर शेष तीनों गति पर्याप्त अपर्याप्त होती हैं । और नरक गति पर्याप्त ही है । मिश्रगुणस्थानमें चारों ही गति पर्याप्त ही होती हैं । असंयत गुणस्थानमें प्रथम नरक पर्याप्त भी है अपर्याप्त भी है । शेष छहों नरक पर्याप्त ही हैं । तिर्थमातिमें भोगभूमिज तिर्थन पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं । कर्मभूमिज तिर्थन पर्याप्त ही होते हैं । मनुष्यगतिमें भोगभूमिज मनुष्य और कर्मभूमिज मनुष्य भी पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं । देववातिमें भवनत्रिक पर्याप्त ही होते हैं । और वैमानिक देव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं । देशसंयत गुणस्थानमें कर्मभूमिज तिर्थन और मनुष्य ये दो ही और पर्याप्त ही होते हैं । प्रमत्तगुणस्थानमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । किन्तु आहारक शरीरकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं । अप्रमत्तसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । सयोगकेवलियोंमें पर्याप्त तथा समुद्रातकी अपेक्षा अपर्याप्त भी मनुष्य होते हैं । अयोगकेवलियोंमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । इन्द्रियमार्गणके पांच भेद हैं । ये पांचों ही मिथ्यादिष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं । सासादनमें पांचों अपर्याप्त होते हैं; और पचेन्द्रिय पर्याप्त भी होता है अर्थात् अपर्याप्त अवस्थामें पांचों ही इन्द्रियवालोंके सासादन गुणस्थान होता है; किन्तु पर्याप्त अवस्थामें पचेन्द्रियके ही सासादन गुणस्थान होता है । मिश्रगुणस्थानमें पचेन्द्रिय पर्याप्त ही है । असंयतमें पचेन्द्रिय पर्याप्त वा अपर्याप्त होते हैं । देशसंयतसे लेकर अयोगीपर्यन्त सर्वगुणस्थानोंमें पचेन्द्रिय पर्याप्त ही होते हैं; किन्तु छहों गुणस्थानमें आहारकी अपेक्षा और सयोगीमें समुद्रातकी अपेक्षा अपर्याप्त पचेन्द्रिय भी होता है । कायके छह भेद हैं । पांच स्थावर और एक त्रस । ये छहों मिथ्यात्वमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं । सासादनमें बादर-गृष्णी जल वनस्पती तथा द्रीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरन्द्रिय असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त ही होते हैं और संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं । मिश्रगुणस्थानसे लेकर अयोगीतक संज्ञी त्रसकाय पर्याप्त ही होता है; किन्तु असंयत गुणस्थानमें तथा

आहारकी अपेक्षा प्रमत्तमें और समुद्रातकी अपेक्षा सयोगीमें संज्ञा-तकाय अपर्याप्त भी होता है । भावयोग आत्माकी शक्तिरूप है यह पहले कहनुके हैं । मन-वचन-कायके निमित्तसे जीवप्रदेशोंके नंचल होनेको द्रव्य योग कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, मन वचन काय । इसमें मन और वचनके चार ३ भेद हैं—सत्य असत्य उमय अनुभय । काययोगके सात भेद हैं—औदारिक वैकियिक आहारक और इन तीनोंकेमिश्र तथा कार्माण । इस प्रकार योगके पन्द्रह भेद होते हैं । इनमेंमें कितने २ योग होते हैं यह बतानेकेलिये आचार्य सूत्र करते हैं—

तिसु तेरं दस मिस्से सत्तसु णव छटुयम्मि एयारा ।

जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥ ७०३ ॥

त्रिपु त्रयोदश दश मिथ्रे सप्तसु नव पष्टे एकादशा ।

योगिनि सप्त योगा अयोगिस्थानं भवेत् शून्यम् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—मिश्यादृष्टि सासादन असंयत इन तीन गुणस्थानोंमें उक्त पन्द्रह योगोंमेंसे आहारक आहारकमिश्रों छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं । मिश्रगुणस्थानमें उक्त तेरह-योगोंमेंसे औदारिकमिश्र वैकियिकमिश्र कार्माण इन तीनोंके घटजानेसे शेष दश योग होते हैं । इसके ऊपर छठे गुणस्थानको छोड़कर सात गुणस्थानोंमें नव योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैकियिक योग और भी घट जाता है । किन्तु छठे गुणस्थानमें स्थारह योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैकियिक योग घटता है और आहारक आहारकमिश्र ये दो योग मिलते हैं । सयोगकेवलीमें सातयोग होते हैं; वे ये हैं—सत्यमनोयोग अनुभयमनोयोग सत्यवचनयोग अनुभयवचनयोग औदारिक औदारिकमिश्र कार्माण । अयोगकेवलीके कोई भी योग नहीं होता । **भावार्थ—**इस सूत्रमें प्रत्येक गुणस्थानमें कितने २ योग होते हैं उनको बताकर अब वेदादिक मार्गणाओंको बताते हैं । वेदके तीन भेद हैं, खी पुरुष नपुंसक । ये तीनों ही वेद अनिवृत्ति करणके स्वेद भागपर्यन्त होते हैं—आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होते । कषायके चार भेद हैं । कोष मान माय लोभ—इनमें प्रत्येकके अनंतानुबन्धी आदि चार २ भेद होते हैं । इस प्रकार कषायके सोलह भेद होते हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थानमें अनंतानुबन्धी आदि चारों कषायका उदय रहता है । मिश्र और असंयतमें अनंतानुबन्धीको छोड़कर शेष तीन कपाय रहते हैं । देशसंयतमें प्रत्यास्थान और संज्वलन ये दो ही कषाय रहते हैं । प्रमत्तादिक अनिवृत्तिकरणके दूसरे भागपर्यन्त संज्वलन कषाय रहता है । तीसरे भागमें संज्वलनके मान माय लोभ ये तीन ही भेद रहते हैं—कोष नहीं रहता । चौथे भागतक माया और लोभ, तथा पांचमे भागतक बादर लोभ रहता है । दशमे गुणस्थान तक सूक्ष्मलोभ रहता है । इसके ऊपर सर्व गुणस्थान कषायरहित

ही हैं । ज्ञानके आठ भेद हैं, कुमति कुश्रुत, विषंग, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल । इनमें आदिके तीन मिथ्या और अंतके पांच ज्ञान सम्यक् होते हैं । मिथ्याद्विषि सासादनमें आदिके तीन ज्ञान होते हैं । मिश्रमें भी आदिके तीन ही ज्ञान होते हैं, परन्तु वे विपरीत या समीचीन नहीं होते; किन्तु मिश्ररूप होते हैं । असंयत देशसंयतमें सम्यज्ञानोंमेंसे आदिके तीन होते हैं । प्रमत्तादिक क्षीणकषायपर्यन्त आदिके चार सम्यज्ञान होते हैं । सयोगी अयोगीमें केवल केवलज्ञान ही होता है । संयमका सामान्यकी अपेक्षा एक सामायिक; किन्तु विशेष अपेक्षा सात भेद हैं । असंयम देशसंयम सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय यथास्थात । इनमें आदिके चार गुणस्थानोंमें असंयम और पांचमे गुणस्थानमें देशसंयम होता है । प्रमत्त अप्रमत्तमें सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन संयम होते हैं । आठमे नवमें सामायिक छेदोपस्थापना दो ही संयम होते हैं । दशमे गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय होता है । इसके ऊपर सब गुणस्थानोंमें यथास्थात संयम ही होता है । दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु अचक्षु अवधि केवल । मिश्रपर्यन्त तीन गुणस्थानोंमें चक्षु अचक्षु दो दर्शन होते हैं । असंयतादि क्षीणकषाय पर्यन्त चक्षु अचक्षु अवधि ये तीन दर्शन होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलदर्शन ही होता है । लेश्याके छह भेद हैं, कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्र । इनमें आदिकी तीन अशुभ और अंतकी तीन शुभ हैं । आदिके चार गुणस्थानोंमें छहों लेश्या होती हैं । देशसंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त तीन शुभ लेश्या होती हैं । इसके ऊपर सयोगी पर्यन्त शुल्क लेश्या ही होती है । और अयोगी गुणस्थान लेश्यारहित है । भव्यमार्गणके दो भेद हैं, भव्य अभव्य । मिथ्याद्विषि गुणस्थानमें भव्य अभव्य दोनों होते हैं । सासादनादि क्षीणकषायपर्यन्त भव्य ही होते हैं । सयोगी और अयोगी भव्य अभव्य दोनोंसे रहित हैं । सम्यक्त्वके छह भेद हैं, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक । मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व, सासादनमें सासादन, मिश्रमें मिश्र सम्यक्त्व होता है । असंयतसे अप्रमत्ततक उपशम वेदक क्षायिक तीनों सम्यक्त्व होते हैं । उसके ऊपर उपशमश्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि उपशांतकषायतक उपशम और क्षायिक दो सम्यक्त्व होते हैं । क्षपक श्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि समस्त गुणस्थानोंमें तथा सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है । संज्ञीमार्गणके दो भेद हैं—एक संज्ञी दूसरा असंज्ञी । प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें संज्ञी असंज्ञी दोनों ही मार्गण होती हैं । इसके आगे सासादन आदि क्षीणकषायपर्यन्त संज्ञी मार्गण ही होती है । सयोगी अयोगीके मन नहीं होता अतः कोई भी संज्ञा नहीं होती । आहारमार्गणके भी दो भेद हैं—एक आहार दूसरा अनाहार । मिथ्याद्विषि सासादन असंयत सयोगी इनमें आहार अनाहार दोनों ही होते हैं । अयोगकेवली अनाहार ही होते हैं । शेष नव गुणस्थानोंमें आहार ही होता है ।

गुणस्थानोंमें मार्गणाओंको बताकर अब उपयोगको बताते हैं ।

दोषहं पञ्च य छञ्चेव दोषु मिस्सम्भि होति वांमेस्सा ।

सत्त्वजोगा सत्त्वसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥ ७०४ ॥

द्रयोः पञ्च च छट् चैव द्रयोमित्रे भवन्ति व्यामिश्राः ।

सप्तसोपयोगाः सप्तसु द्वौ चैव जिने च सिद्धे न ॥ ७०४ ॥

अर्थ—दो गुणस्थानोंमें पांच, और दोमें छह, मिश्रमें मिश्ररूप छह, सात गुणस्थानोंमें सात, जिन, और सिद्धोंके दो उपयोग होते हैं । **भावार्थ—**उपयोगके मूलमें दो भेद हैं, एक ज्ञान दूसरा दर्शन । ज्ञानके आठ भेद हैं, इनके नाम पहले वता चुके हैं । दर्शनके चार भेद हैं इनके भी नाम पहले गिना चुके हैं । इसतरह उपयोगके बारह भेद हैं । इनमेंसे मिश्याल्व और सासाधनमें आदिके तीन ज्ञान और आदिके दो दर्शन ये पांच उपयोग होते हैं । असंयत और देशसंयतमें मति श्रुत अवधि तथा चक्षु अचक्षु अवधिदर्शन ये छह उपयोग होते हैं । मिश्र गुणस्थानमें ये ही छह उपयोग मिश्ररूप होते हैं । प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें मनःपर्ययसहित सात उपयोग होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो ही उपयोग होते हैं ।

इसप्रकार गुणस्थानोंमें वीसप्ररूपणनिरूपणनामा इक्कीसमा अधिकार समाप्त हुआ ।

—○○•○○—

इष्टेदेको नमस्कार करते हुए आलपाधिकारको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

गोयमथेरं पणमिय ओघादेसेसु वीसभेदाणं ।

जोजणिकाकाणालावं वोच्छामि जहाकमं सुणह ॥ ७०५ ॥

गौतमस्थविरं प्रणम्य ओघादेशयोः विशभेदानाम् ।

योजनिकानामालापं वक्ष्यामि यथाक्रमं शृणुत ॥ ७०६ ॥

अर्थ—सिद्धोंको वा वर्धमान—तीर्थकरको यद्वा गौतमगणधरस्वामीको अथवा साधुसमूहको नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणाओंके योजनिकारूप वीस भेदोंके आलापको क्रमसे कहता हूँ सो सुनो ।

ओष्ठे चोदसठाणे सिद्धे वीसदिविहाणमालावा ।

वेदकषायविभिणे अणियद्विपञ्चमागे य ॥ ७०६ ॥

ओष्ठे चतुर्दशस्थाने सिद्धे विशतिविधानमालापाः ।

वेदकषायविभिन्ने अनिवृत्तिपञ्चमागे न ॥ ७०६ ॥

अर्थ—चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानोंमें उक्त वीस प्ररूपणाओंके सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त ये तीन आलाप होते हैं । वेद और कषायकी अपेक्षासे अनिवृत्तिकरणके पांच भागोंमें पांच आलाप भिन्न २ समझने चाहिये ।

गुणस्थानोंमें आलापोंको बताते हैं ।

ओधे मिच्छुदुगेवि य अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि ।

तिष्णेव य आलावा सेसेसिको हवे णियमा ॥ ७०७ ॥

ओधे मिश्यालाद्विड़के पि च अयतप्रमत्तयोः सयोगिस्थाने ।

त्रय एवनालापाः शेषेष्वेको भवेत् नियमात् ॥ ७०७ ॥

अर्थ—मिश्यात्व सासादन असंयत प्रमत्त सयोगकेवली इन गुणस्थानोंमें तीनों आलाप होते हैं । शेष गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही अलाप होता है ।

इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

सामण्णं पञ्जत्तमपञ्जत्तं चेदि तिष्णिं आलावा ।

दुविष्पमपञ्जत्तं लङ्घीणिवत्तगं चेदि ॥ ७०८ ॥

सामान्यः पर्याप्तः अपर्याप्तेति त्रय आलापाः ।

द्विविकल्पोऽपर्याप्तो लविर्निवृत्तिकश्चेति ॥ ७०८ ॥

अर्थ—आलापके तीन भेद हैं—सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त । अपर्याप्तके दो भेद हैं—एक लङ्घयपर्याप्त दूसरा निवृत्त्यपर्याप्त ।

दुविहं पि अपञ्जत्तं ओधे मिच्छेव होदि णियमेण ।

सासणअयदपमत्ते णिवत्तिअपुण्णगो होदि ॥ ७०९ ॥

द्विविशेष्पर्याप्त ओधे मिश्यात्व एव भवति नियमेन ।

सासादनायतप्रमत्तेषु निवृत्त्यपूर्णको भवति ॥ ७०९ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके अपर्याप्त आलाप समस्त गुणस्थानोंमेंसे मिश्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं । सासादन असंयत प्रमत्त इनमें निवृत्त्यपर्याप्त आलाप होता है । माधार्थ—अपर्याप्तके जो दो भेद गिनाये हैं उनमेंसे प्रथम गुणस्थानमें दोनों और सासादन असंयत प्रमत्त इनमें एक निवृत्त्यपर्याप्त ही होता है; किन्तु सामान्य और पर्याप्त ये दोनों आलाप सर्वत्र पांचों गुणस्थानोंमें होते हैं ।

जोगं पडि जोगिजिणे होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु ।

अवसेसणवट्टाणे पञ्जत्तालावगो एको ॥ ७१० ॥

योगं प्रति योगिजिने भवति हि नियमादपूर्णकत्वं तु ।

अवशेषनवस्थाने पर्याप्तालापक एकः ॥ ७१० ॥

अर्थ—सयोगकेवलियोंमें योगकी (समुद्रातकी) अपेक्षासे नियमसे अपर्याप्तकता होती है; इसलिये उक्त पांच गुणस्थानोंमें तीन २ आलाप और शेष नव गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

कमप्राप्त चौदह मार्गेणा ओमे आलापेंका वर्णन करते हैं ।

सत्तण्हं पुढवीणं ओषे मिच्छेय तिर्णिण आलावा ।

पठमाविरदेवि तहा सेसाणं पुण्णगालावो ॥ ७११ ॥

सप्तानां पृथिवीनामोषे मिश्वात्वे च त्रय आलापाः ।

प्रथमाविरतेषि तथा शेषाणां पूर्णकालापाः ॥ ७११ ॥

अर्थ— सातो ही पृथिवीमें गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं । तथा प्रथमा पृथिवीके अविरत गुणस्थानमें भी तीन आलाप होते हैं । शेष पृथिवी-योंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । भावार्थ—प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवीयोंमें सासादन मिश्र असंयत ये तीन गुणस्थान पर्याप्त अक्षस्थानमें ही होते हैं । अतः इन छह पृथिवीसम्बन्धी तीन गुणस्थानोंमें और प्रथम पृथिवीके सासादन तथा मिश्रमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है, शेष स्थानोंमें तीनों ही आलाप होते हैं ।

तिरियचउक्ताणोषे मिच्छुदुगे अविरदे य तिर्णे व ।

णवरि य जोणिणि अयदे पुण्णो सेसेवि पुण्णो दु ॥ ७१२ ॥

तिर्णक्लन्तुष्काणामोषे मिथ्यात्वद्विके अविरते च त्रय एव ।

नवरि च योनिन्ययते पूर्णः शेषऽपि पूर्णस्तु ॥ ७१२ ॥

अर्थ— तिर्णच्च पांच प्रकारके होते हैं—सामान्य, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिमती, अपर्याप्त । इनमेंसे अंतके अपर्याप्तको छोड़कर शेष चार प्रकारके तिर्णोंके पांच गुणस्थान होते हैं । जिनमेंसे मिथ्यात्व सासादन असंयत इन गुणस्थानोंमें तीन २ आलाप होते हैं । इसमें भी इतनी विशेषता है कि योनिमती तिर्णके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है । शेष मिश्र और देशसंयतमें भी पर्याप्त ही आलाप होता है ।

तेरिच्छियलद्वियपज्ञते एको अपुण्ण आलावो ।

मूलोधं मणुसतिये मणुसिणिअयदम्हि पज्ञतो ॥ ७१३ ॥

तिर्णलब्धयपर्याप्ते एकः अपर्ण आलापः ।

मूलोन्मं मनुष्यत्रिके मानुष्ययते पर्याप्तः ॥ ७१३ ॥

अर्थ— लघुर्घ्यपर्याप्त तिर्णोंके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । मनुष्यके चार भेद हैं।—सामान्य, पर्याप्त, योनिमत्, अपर्याप्त । इनमेंसे अदिके तीन मनुष्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं^१ । उनमें गुणस्थानसामान्यके समान ही आलाप होते हैं । विशेषता इतनी

^१ यहाँ यह शंका नहीं हो सकती कि 'योनिमत मनुष्यके छड़े आदि गुणस्थान किष्ट तरह हो सकते हैं ?' क्योंकि जीवकाङ्गमें जीवके भावोंकी प्रधानतासे वर्णन है । अतएव यहभी भाववेदकी अपेक्षा कठन है ।

है कि असंयत गुणस्थानवर्ती मानुषीके एक पर्याप्त ही आलाप होता है भावार्थ—गुणस्थानोंमें जिस क्रमसे आलापोंका वर्णन किया है उस ही क्रमसे मनुष्यगतिमें भी आलापोंको समझना चाहिये; किन्तु विशेषता यह है कि योनिमत् मनुष्यके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है ।

**मणुसिणि पमत्तविरदे आहारदुगं तु णत्थि णियमेण ।
अवगदवेदे मणुसिणि सण्णा भूदगदिमासेज्ज ॥ ७१४ ॥**

मानुष्यां प्रमत्तविरते आहारद्विकं तु नास्ति नियमेन ।

अपगतवेदायां मानुष्यां संज्ञा भूतगतिमासाय ॥ ७१४ ॥

अर्थ— जो द्रव्यसे पुरुष है; किन्तु भावकी अपेक्षा खी है ऐसे प्रमत्तविरत जीवके आहारक शरीर और आहारक आङ्गोषाङ्ग नामकर्मका उद्य नियमसे नहीं होता । वेदरहित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले भावकी—मनुष्यके जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगतिन्यायकी अपेक्षामें कही है । **भावार्थ—** जिस तरह पहले कोई सेठ या परन्तु वर्तमानमें वह सेठ नहीं है तो भी पहलेकी अपेक्षासे उसको सेठ कहते हैं । इसी तरह वेदरहित जीवके यद्यपि वर्तमानमें मैथुनसंज्ञा नहीं है तथापि पहले थी इसलिये वहां पर मैथुनसंज्ञा कही जाती है । इस गाथामें जो तु शब्द पड़ा है उससे इतना विशेष समझना चाहिये कि खीवेद या नपुंसकवेदके उद्यमें मनःपर्यय ज्ञान और परिहारविद्विद्विसंयम भी नहीं होता । द्रव्यखीके पांच ही गुणस्थान होते हैं; किन्तु भावमानुषीके चौदहों गुणस्थान होसकते हैं । इसमें भी भाववेद नौमे गुणस्थानसे ऊपर नहीं रहता । तथा आहारक ऋद्धि और परिहारविद्विद्विसंयमवाले जीवोंके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता ।

**णरलद्विअपज्जते एको दु अपुणगो दु आलावो ।
लेस्साभेदविभिण्णा सत्त वियप्पा सुरठाणा ॥ ७१५ ॥**

नरलब्ध्यपर्याप्त एकस्तु अपूर्णकस्तु आलापः ।

लेश्याभेदविभिन्नानि सत्त विकल्पानि सुरस्थानानि ॥ ७१५ ॥

अर्थ— मनुष्यगतिमें जो लब्ध्यपर्याप्तक हैं उनके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । देवगतिमें लेश्याभेदकी अपेक्षासे सात निकल्प होते हैं । **भावार्थ—** देवगतिमें लेश्याकी अपेक्षासे सात भेदोंको पहले बतानुके हैं कि; भवनत्रिकमें तेजका जघन्य अंश, सौषमर्युगलमें तेजका मध्यमांश, सनत्कुमार युगलमें तेजका उत्कृष्ट अंश और पद्मका जघन्य अंश, ब्रह्मादिक छह स्वर्णोंमें पद्मका मध्यमांश, शतारयुगलमें पद्मका उत्कृष्ट और शुक्रका जघन्य अंश, आनतादिक तेरहमें शुक्रका मध्यमांश, अनुदिश और अनुत्तरमें शुक्रलेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है ।

सव्वसुराणं ओघे मिच्छदुगे अविरदे य तिष्णेव ।

णवरि य भवणतिकपित्थीणं च य अविरदे पुण्णो ॥ ७१६ ॥

सर्वसुगणामोभे मिथ्यात्वद्विक्र अविरतं च त्रय एव ।

नवरि च भवनत्रिकल्पत्रीणां न च अविरते पूर्णः ॥ ७१६ ॥

अर्थ— सम्मन देवोंके चार गुणस्थान सम्भव हैं । उनमेंसे मिथ्यात्व सामादन अविरत गुणस्थानमें तीन २ आलाप होते हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि भवनत्रिक देव और कल्पवासिनी देवी इनके असंगत गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

मिस्से पुण्णालाओ अणुद्विसाणुत्तरा हु ते सम्मा ।

अविरद तिष्णालावा अणुद्विसाणुत्तरे होंति ॥ ७१७ ॥

मिथ्रे पूर्णालापः अनुदिशानुत्तरा हि ते सम्यद्वचः ।

अविरते त्रय आलाप अनुदिशानुत्तरे भवनित ॥ ७१७ ॥

अर्थ— नव ग्रैयेकपर्यन्त सामान्यसे समस्त देवोंके मिथ्र गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । इनके ऊपर अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी सब देव सम्यद्वच ही होते हैं; अतः इन देवोंके अविरत गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं ।

क्रमप्राप्त इन्द्रियमर्गणामें आलापोंको बताते हैं ।

वादरसुहमेऽदियवितिचउर्दियअसणिणजीवाणं ।

ओघे पुण्णे तिष्णिण य अपुण्णगे पुण अपुण्णो हु ॥ ७१८ ॥

वादरसूहमेकेन्द्रियाद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवानाम् ।

ओघे पूर्णे त्रयश्च अपूर्णके पुनः अपूर्णस्तु ॥ ७१८ ॥

अर्थ— एकेन्द्रिय—चादर सूक्ष्म, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंमेंसे जिनके पर्याप्ति—नामकर्मका उदय है उनके तीन आलाप होते हैं । और जिनके अपर्याप्ति—नामकर्मका उदय होता है उनके लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ—** निर्वृत्यपर्याप्तके भी पर्याप्ति नामकर्मका ही उदय रहता है अतः उसके भी तीन ही आलाप होते हैं ।

सृणी ओघे मिच्छे गुणपडिवणे य मूलआलावा ।

लद्वियपुण्णे एकोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७१९ ॥

संज्ञयोभे मिथ्यात्वे गुणप्रतिपत्ते च मूलालापः ।

लब्ध्यपूर्णे एकः अपर्याप्तो भवति आलापः ॥ ७१९ ॥

अर्थ— संज्ञी जीवके जितने गुणस्थान होते हैं उनमेंसे मिथ्याद्वच या विशेष गुणस्थानको प्राप्त होनेवालेके मूलके समान ही आलाप समझने चाहिये । और लब्ध्यपर्याप्तके संज्ञीके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ—** संज्ञो जीवोंमेंसे तिर्यक्षके पांच ही

गुणस्थान होते हैं । इनमें से मिथ्यात्व सासादन असंयतमें तीन २ आलाप होते हैं । और मिश्र देशसंयतमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । दूसरे संज्ञी जीवोंमें सामान्य गुणस्थानोंमें जो आलाप कहे हैं उसी तरह समझना चाहिये । संज्ञी जीवोंमें नारकी और देवोंके चार तथा मनुष्योंके चौदहों गुणस्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त कायमार्गणाके आलापोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

भूआउतेउवाऊणिज्जचदुग्गदिणिगोदगे तिष्ठिण ।

ताणं थूलेदरसु वि पत्तेगे तदुभेदेवि ॥ ७२० ॥

तसजीवाणं ओषधे मिच्छादिगुणे वि ओषध आलाओ ।

लद्धिअपुण्णे एकोऽपञ्जतो होदि आलाओ ॥ ७२१ ॥

त्रसनोतायुनित्यन्तुर्वितिनिगोदके व्याः ।

तेषां स्थूलेतरयोरपि प्रत्येके तद्विभेदेवि ॥ ७२० ॥

त्रसजीवानामोषधे मिथ्यात्वादिगुणेऽपि ओषध आलापः ।

लब्ध्यपूर्णे एक अपर्याप्ते भवत्यालापः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद चतुर्गतिनिगोद इनके स्थूल और सूक्ष्म भेदोंमें तथा प्रत्येकके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दो भेदोंमें तीन २ आलाप होते हैं । त्रसजीवोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं । इनके आलापोंमें कुछ विशेषता नहीं है । गुणस्थानसामान्यके जिस तरह आलाप बताये हैं उसी तरह यहां भी समझने चाहिये । पृथिवीसे लेकर त्रसपर्यंत जितने भेद हैं उनमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है । योगमार्गणामें आलापोंको बताते हैं ।

एकारसजोगाणं पुण्णगदाणं सपुण्णनालाओ ।

मिस्सचउक्स्त्स पुणो सगएकअपुण्णनालाओ ॥ ७२२ ॥

एकादशयोगानां पूर्णगतानां स्वपूर्णलापः ।

मिश्रचतुष्कस्य पुनः स्वैककापूर्णलापः ॥ ७२२ ॥

अर्थ—चार मनोयोग चार वचनयोग सात काययोग इन फंद्रह योगोंमेंसे औदारिक मिश्र वैकिणिकमिश्र आहारकमिश्र कार्मण इन चार योगोंको छोड़कर शेष स्यारह योगोंमें अपना २ एक पर्याप्त आलाप होता है । और शेष उक्त चार योगोंमें अपना २ एक अपर्याप्त आलाप ही होता है ।

अवशिष्ट मार्गणाओंके आलापोंको संसेपमें कहते हैं ।

वेदादाहारोत्ति य सगुणद्वाराणामोषध आलाओ ।

णवरि य संदित्थीणं णत्थि हु आहारगाण दुगं ॥ ७२३ ॥

वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोच आलापः ।

नवरि च पष्टक्षीणां नास्ति हि आहारकानं द्विक्रम ॥ ७२३ ॥

अर्थ—वेदमार्गाणां से लेकर आहारमार्गाणापर्यन्त दशमार्गाणाओंमें अपने २ गुणस्थानके समान आलाप होते हैं । विशेषता इन्हीं है कि जो भावनयुक्त का भावत्वीकैर्दी हैं उनके आहारक—काययोग और आहारक—मिश्रकाययोग नहीं होता । **भावार्थ—**जिस २ मार्गाणामें जो २ गुणस्थान सम्बन्ध हैं और उनमें जो २ आलाप बताए हैं वे ही आलाप उन २ मार्गाणाओंमें होते हैं, इनको यथासम्भव लागलेना चाहिये । गुणस्थानोंके आलापोंको पहले बताकुके हैं अतः पुनः यहांपर लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा गद्धंदिया काया ।

जोगा वेदकसाया पाणजमा दंसणा लेस्सा ॥ ७२४ ॥

भव्वा सम्मत्तावि य सण्णी आहारगा य उवजोगा ।

जोगगा परूविद्व्वा ओघादेसेसु समुदायं ॥ ७२५ ॥

गुणजीवाः पर्यात्यः प्राणाः संज्ञाः गतीन्द्रियाणि कायाः ।

योगा वेदकसायाः ज्ञानयमा दर्शनानि लेश्याः ॥ ७२४ ॥

भव्वाः सम्यक्त्वान्यपि च संज्ञिनः आहारकाश्चोपयोगाः ।

योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः समुदायम् ॥ ७२५ ॥

अर्थ—चौदृह गुणस्थान, चौदृह जीवसमाप्त, छह पर्याप्ति, दश प्राण, चार संज्ञा, चार गति, पांच इन्द्रिय, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, चार कथाय, आठ ज्ञान, सात संयम, चार दर्शन, छह लेश्या, भव्यत्व अभव्यत्व, छह प्रकारके सम्यक्त्व, संज्ञित्व, असंज्ञित्व, आहारक अनाहरक, बारह प्रकारका उपयोग इन सबका यथायोग्य गुणस्थान और मार्गाणास्थानोंमें निरूपण करना चाहिये । **भावार्थ—**इन बीम स्थानोंमें कोई एक विवक्षित स्थान शेष स्थानोंमें कहां २ पर पाया जाता है इस बातका आगमके अविरुद्ध वर्णन करना चाहिये । जैसे चौदृह गुणस्थानोंमेंसे क्रौन्ह २ सा गुणस्थान जीवसमाप्तके चौदृह भेदोंमेंसे किस २ विवक्षित भेदमें पाया जाता है । अथवा जीवसमाप्त या पर्याप्तिका कोई एक विवक्षित भेदरूप स्थान किस २ गणस्थानोंमें पाया जाता है इसका वर्णन करना चाहिये । इसी प्रकार दूसरे स्थानोंमें भी समझना चाहिये ।

जीवसमाप्तमें कुछ विशेषता है उसको बताते हैं ।

ओघे आदेसे वा सण्णीपज्जन्तगा हवे जत्थ ।

तत्त य उणवीसंता इगिविंतिगुणिदा हवे ठाणा ॥ ७२६ ॥

ओषधे आदेशे वा संक्षिप्तर्थका भवेयुर्यत्र ।

तत्र चैकोनविशांता एकाद्वित्रिगुणिता भवेयुः स्थानानि ॥ ७२६ ॥

अर्थ—सामान्य (गुणस्थान) या विशेषस्थानमें (मार्गणास्थानमें) संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्यन्त मूलजीवसमांसोंका जहां निरूपण किया है वहां उत्तर जीवसमासस्थानके भेद उत्तीसपर्यन्त होते हैं । और इनका भी एक दो तीनके साथ गुणा करनेसे क्रमसे उत्तीस अड्डतीस और सत्तावन जीवसमासके भेद होते हैं । **भावार्थ—**गुणस्थान और मार्गणाओंमें जहां संक्षिप्तर्थन्त भेद बताये हैं, वहां ही जीवसमासके एकसे लेकर उत्तीसपर्यन्त भेद और पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा अड्डतीस भेद, तथा पर्याप्त निर्वृत्पर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त इन तीन भेदोंमें गुणा करनेकी अपेक्षा सत्तावन भेद भी समझने चाहिये । इमका विशेष स्वरूप जीवसमासाधिकारमें कहनुक हैं ।

“ गुणजीवे ”—त्यादि गाथाके द्वारा बताये हुए वीस भेदोंकी योजना करते हैं ।

वीरमुहकमलणिगग्यसयलसुयग्गहणपयउणसमत्थं ।

णमिऊणगायममहं सिद्धंतालावमणुवोच्छं ॥ ७२७ ॥

वीरमुखकमलणिगौतमसकलश्रुतग्रहणप्रकटनसमर्थम् ।

नल्वा गौतममहं सिद्धान्तालापमनुवश्ये ॥ ७२७ ॥

अर्थ—अंतिम तीर्थकर श्रीविष्वामालीके मुखकमलसे निर्गत समस्त श्रुतसिद्धान्तके ग्रहण करने और प्रकट करनेमें समर्थ श्रीगौतमस्वामीको नमस्कार करके मैं उस सिद्धान्तालापको कहूँगा जो कि वीर भगवान्के मुखकमलसे उपविष्ट श्रुतमें वर्णित समस्त पदार्थोंके प्रकट करनेमें समर्थ है । **भावार्थ—**जिस तरह श्रीगौतमस्वामी तीर्थंकर भगवान्के समस्त उपदेशको ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ हैं उसी तरह यह आलाप भी उनके (भगवान्के) समस्त श्रुतके ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ है । क्योंकि इस सिद्धान्तालापमें उन्हीं समस्त पदार्थोंका वर्णन है जिनको कि श्रीगौतमस्वामीने भगवान्के समस्त श्रुतकों ग्रहण करके प्रकट किया है ।

पहले गुणस्थान जीवसमास आदि वीस प्ररूपणाओंको बतानुके हैं उनमें तथा उनके उत्तर भेदोंमें क्रमसे एक २ के ऊपर यह आलाप आगमके अनुसार लगालेना चाहिये कि विवक्षित किसी एक प्ररूपणके साथ शेष प्ररूपणाओंमेंसे कौन २ सी प्ररूपणा अथवा उनका उत्तर भेद पाया जाता है । इनका विशेष स्वरूप देखनेकी जिनको इच्छा हो वे इसकी संस्कृत शीका अथवा बड़ी भाषाटीकामें देखें ।

इन आलापोंको लगाते समय जिन बारोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये उन विशेष बारोंको ही आचार्य यहां पर दिखाते हैं ।

**सब्वेसि सुहुमाणं काओदा सब्वविग्गहे सुक्का ।
सब्वो मिस्सो देहो कओदवण्णो हवे णियमा ॥ १ ॥**

सर्वेषां मूळमाणां कापोता: सर्वनिग्रहे शुक्काः ।

सर्वे मिथ्यो देहः कपोतवर्णो भवेत्त्वियमात् ॥ १ ॥

अर्थ— पृथिवीकायादि समस्त सूक्ष्मकी कपोत लेश्या ही होती है । तथा समस्त विग्रहगतिसम्बन्धी कार्मणशरीरकी शुक्क लेश्या होती है । तथा समय नित्र शरीर नियमसे कपोतवर्ण-वाला होता है । **भावार्थ—** अपर्याप्त आलापामें द्रव्यलेश्या कपेत और शुक्क ये दो ही होती हैं । इसके सिवाय और भी विशेषता है वह यह है कि मनुष्यरनना सम्बन्धी प्रमत्तादि गुणस्थानोंमें जो तीन वेद वत्तायें हैं वे द्रव्यवेदकी अपेक्षासे हैं । भाववेदकी अपेक्षासे एक पुरुष वेदही होता है । तथा व्याख्या नपुंसक वेदके उदयमें आहारक गोग मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम ये नहीं होते । नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें सासादन गुणस्थान नहीं होता । तथा किसी भी अपर्याप्त अवस्थामें मिश्र गुणस्थान नहीं होता । इत्यादि और भी जो ... नियम “ पुढ़वी आदि चउण्हं ” आदि पहले बताये हैं उनको तथा अन्यत्र भी कहे हुए नियमोंको आलाप लाते समय ध्यानमें रखना चाहिये ।

और भी कुछ नियमोंको गिनानत हैं ।

मणपञ्जवपरिहारो पठमुवसम्मत्त दोषिण आहारा ।

एदेषु एकपगदे णत्विति असेसयं जाणे ॥ ७२८ ॥

मनःपर्ययस्त्रिहारौ प्रयमोपशम्यक्त्वं द्रावाहारौ ।

एतेषु एकप्रकृते नास्तीति अशेषकं जानीहि ॥ ७२८ ॥

अर्थ— मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम प्रथमोपशम्यक्त्वं और आहारकद्रव्य इनमें किसी भी एकके हेनेपर शेष भेद नहीं होते ऐसा जानना चाहिये ।

विद्युवसमसम्मत्तं सेढादोदिष्टिण अविरदादीसु ।

सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जन्तगेव हवे ॥ ७२९ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं श्रेणितोऽक्तीर्णेऽविरतादिगु ।

स्वकस्तकलेश्यामृते देवापर्याप्तकं एव भवेत् ॥ ७२९ ॥

अर्थ— उपशमश्रेणिसे उत्तरकर अविरतादिक गुणस्थानोंको प्राप्त करनेवालोंमें जो अपनी २ लेश्याके अनुसार मरण करके देवपर्यायको प्राप्त करता है उसहीके अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है । **भावार्थ—** नारातिमेंसे एक देव अपर्याप्तको छोड़कर अन्य किसी भी गतिकी अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता ।

१ यह गाथा यत्पि लेश्या मार्गाणामें भी आचुकी है तथापि यहांपर भी इसको उपयोगी समझकर पुनः किल दिया है ।

गुणस्थनियोंका स्वरूप बताकर गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं ।

सिद्धाण्डं सिद्धगद्वयं केवलणाणं च दंसणं सवियं ।

सम्मतमणाहारं उवजोगाणकमपउत्ती ॥ ७३० ॥

सिद्धानां सिद्धगतिः केवलज्ञानं च दर्शनं क्षायिकम् ।

सम्प्रकृत्वमनाहारमुपयोगानामकमपवृत्तिः ॥ ७३० ॥

अर्थ—सिद्ध जीवोंके सिद्धगति केवलज्ञान क्षायिकदर्शन क्षायिकसम्प्रकृत्व अनाहार और उपयोगकी अकम प्रवृत्ति होती है । **भावार्थ—**छद्मस्थ जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शनकी तरह सिद्धोंके क्षायिक ज्ञान दर्शनरूप उपयोगकी कमसे प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु युगपत् होती है । तथा सिद्धोंके आहार नहीं होता—वे अनाहार होते हैं । क्योंकि उनसे कर्मका और नोकर्मका सर्वथा सम्बन्ध ही छलगता है । “ ऊकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ओजमणोनि य कमसो आहारो छठिभहो जेयो ” ॥ १ ॥ इस गाथाके अनुसार नोकर्म और कर्म भी आहार ही हैं, अतः सर्वथा अनाहार सिद्धोंके ही होता है ॥

गुणजीवठाणरहिया सण्णापञ्जत्तिपाणपरिहीणा ।

सेसनवमगगृणा सिद्धा सुद्धा सदा होति ॥ ७३१ ॥

गुणजीवस्थानरहिताः संज्ञापर्यासिप्राणपरिहीनाः ।

शेषनवमर्गणोनाः सिद्धाः शुद्धाः सदा भवन्ति ॥ ७३१ ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, चौदह गुणस्थान चौदह जीवसमाप्त चार संज्ञा छह पर्याप्ति दश प्राण इनसे रहित होते हैं । तथा इनके सिद्धगति ज्ञान दर्शन सम्प्रकृत्व और अनाहारको छोड़-कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जाती । और ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं; क्योंकि मुक्ति-प्राप्तिके बाद पुनः कर्मका बन्ध नहीं होता ।

अंतमें वीस भेदोंके जाननेके उपायको बताते हुए इसका फल दिखाते हैं ।

णिकखेदे एयत्थे णयप्पमाणे णिरुच्चिअणियोगे ।

मग्गइ वीसं भेदं सो जाणइ अप्पसङ्भावं ॥ ७३२ ॥

निःस्पे एकार्थं नयप्रमाणे निरुत्तच्यनयोगयोः ।

मार्गयति विशं भेदं स जानाति आत्मसद्वावृष्टं ॥ ७३२ ॥

अर्थ—जो भन्य उक्त गुणस्थानादिक वीस भेदोंको निक्षेप एकार्थ नय प्रमाण निरुक्ति अनुयोग आदिके द्वारा जानलेता है वही आत्मसद्वावको समझता है । **भावार्थ—**जिनके द्वारा पदार्थोंका समीचीन व्यवहार हो ऐसे उपायविशेषको निक्षेप कहते हैं । इसके चार भेद हैं, नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इनकेद्वारा जीवादि समस्त पदार्थोंका समीचीन व्यवहार होता है । जैसे किसी अर्ध विशेषकी अपेक्षा न करके किसीकी जीव यह

संज्ञा रखदी इसको जीवका नामनिक्षेप कहते हैं । किमी काष्ठ चित्र ॥ मूर्ति आदिम किमी जीवकी 'यह वही है' ऐसे संकल्परूपको स्यापननिक्षेप कहते हैं । स्यापनमें स्याप्यमान पदार्थकी ही तरह उमका आदर अनुग्रह होता है । भविष्यत् या भूतको नैत्यानन्तर कहना जैसे कोई देव मरकर मनुष्य होनेवाला है उमको देवयायमें मनुष्य रहना, अथवा मनुष्य होनेपर देव कहना यह द्रव्यनिक्षेपका विषय है । वर्तमान मनुष्यको मनुष्य कहना यह भाव-निक्षेपका विषय है । प्राणभूत साधारण लक्षणको एकार्थ कहते हैं । जैसे जीवका लक्षण दश प्राणेमेंसे यथासम्भव पाणोंका धारण करना या नेतना (जानना और देखना) है । यही जीवका एकार्थ है । वस्तुके अंशग्रहणको नय कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा आत्माकी एक जीवत्वशक्तिका ग्रहण करना । एक शक्तिके द्वारा समस्त वस्तुके ग्रहणको प्रमाण कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा संपूर्ण आत्माका ग्रहण करना । निस घातु और प्रत्ययके द्वारा निस अर्थमें जो शब्द निष्पत्र हुआ है उसके उसही प्रकारसे दिवानेको निरुक्ति कहते हैं । जैसे जीवति जीविष्यति अनीवीत् वा स जीवः—जो जीता है या जीतेगा या निया हो उसको जीव कहते हैं । जीवादिक पदार्थोंके जाननेके उपाय विशेषको अनुयोग कहते हैं । उसके छह भेद हैं । निर्देश (नाममात्र या स्वरूप अथवा लक्षणका कहना) स्वामित्व, साधन (उत्पत्तिके निमित्त) अधिकरण, स्थिति (कालकी मर्यादा) भेद । इन उपायोंमें जो उक्त वीसप्ररूपणां-ओंको जानलेता है वही आत्माके समीक्षीन स्वरूपको समझ सकता है ।

॥ इति आलापाधिकारः ॥



अन्तमें आशीर्वादस्वरूप गाथाको आचार्य कहते हैं ।

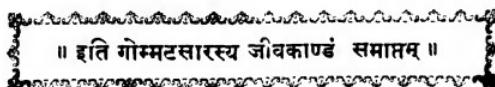
अज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरु ।

भुवणगुरु जस्त गुरु सो राओ गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

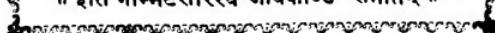
आर्यसेनगुणगणसमूहसंधार्यजितसेनगुरुः ।

भुवनगुरुर्यस्य गुरुः स राजा गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

अर्थ—श्रीआर्यसेन आचार्यके अनेक गुणगणको धारण करनेवाले और तीनलोकके गुरु श्रीअजितसेन आचार्य जिसके गुरु हैं वह श्री गोम्मट (चामुण्डराय) राजा जयवन्ता रहे ।



॥ इति गोम्मटसारस्य जीवकाण्डं समाप्तम् ॥



अकारादिके कमसे गाथासूची

गाथा.	पृ. नं.	गाथा.	पृ. नं.
अ. अद्यभीमदंसगेण	१५६११३५	अंतोमुहुनमेता	१०२१२६१
अंगुलअसंख ...	७०१९५९	अद्वरेत्स वरस	४७११८
अंगुलअसंख ...	१०११३३५	अपीदितिशतेऽ	४९१०८
अंगुलअसंख ...	१६३०३८५	अपीदितिशतेया	८३१२६४
अंगुलअसंख ...	३४३०३०	अप्पमोभय ...	११११२८८
अंगुलअसंख ...	१४९१३८५	अयोदेति छ ...	१५०५५३१
अंगुलअसंख ...	१५०१०४००	अयोदेति हु अवि	२५४१६८८
अंगुलअसंख ...	१५२१०४०८	अवद्वाक्षादुवरिम	१४५१३८३
अंगुलअसंख ...	२४३०६६९	अवद्वे अवश्व	४४१९०६
अंगुलअसंख ...	१५३१९५४	अवसपत्रिता ...	४५१९०९
अंगुलमावस्त्रिया	१५३११००३	अवसम्पुण्णी ...	४२१९९
अंगोवंगुदया ...	९३१२२८	अवरा पमाय ...	११११५७२
अञ्जमसेणगुण	२७३११३३	अवल्लरि इगि ...	४३१९०२
अञ्जवमलेच्छ ...	३५१८०	अवल्लीरीमि ...	१२४१३२२
अज्ञीवेषु य खदी	२०९१५६३	अवे वरसंख ...	४४१९०८
अदृत्सिसदलवा	२१३१५७४	अवोगमाहण ...	४३१९०३
अद्विक्रमम् ...	३०१६५	अवोगमाहण ...	१४४१३७९
अद्वैं कम्माणी	१६५१४५२	अवो जुताण्णो ...	२०३१५५९
अद्वारसछत्रीसं	१३५१३५७	अवोहिवेत ...	१४४१३७८
अद्वे सव्यसहस्रा	२३१३६२८	अवोहिवेत ...	१४४१३७९
अडकोडिएय ...	१३३१३५०	अवरं तु ओहि	१४४१३८०
अण्णाणतियै होदि	११११३००	अवरं द्व्यमुदा	१६५१५५०
अणोण्णुवयोगेण	२२३१६०५	अवरंसमुदा होति	१८६१५५९
अणुलोहं वेदतो	२४१६०	अवरंसमुदा मो	१८७१५२२
अणुलोहं वेदतो	१७११४७३	अवरं होदि अण्णंत	१४६१३८६
अणुसंखासंखे ...	२१११५९३	अवहीयतिं ...	१४६१३८९
अथवक्तरं च ...	१३२१३८७	अब्बाशादी अंतो	१५१२३७
अथादो अथेतर	१२११३१४	असहायणाण ...	२११६४
अथि अंतां जीवा	७७११९६	अमुराणमंदे	१५८१४२६
अंतरभावपत्र ...	१७७१४९१	अमुराणमंव ...	१५८१४२७
अंतरमवक्त्रसं	१९११५५२	अमुहाणं वर ...	१७११५००
अंतेमुहुतकार्ल	२३१५०	अहमिदा जह देवा	६६१९६३
अंतेमुहुतमेते	२४१५३	अहिमुहियमिय	११११३८५
अंतेमुहुतमेते	२११४९	अहियारो पाढुड्यं	१३०१३४७
अंतेमुहुतमेते	१११२५२		

रायचन्द्रनैनशास्त्रमालायाम्

गाथा.	पू. गा.	गाथा.	पू. गा.
आ		इच्छिदरासिच्छे	१५६१४९९
आउद्युसि ...	८२१२०२	ईंदियकाये ...	२१५
आगासं वजिता	२१६१५८२	ईंदियकायाऊणि	५४११३१
आणवणांद ...	१५११३०	ईंदियोर्दीय	१६४१४४१
आदिमछाण ...	१२५१३२६	ईंदियमणोहिणा	२४११६७४
आदिमसमत्त ...	१११९	इह जाहि बाहिया	५५११३३
आदेसे... ...	२१४	इ	
आभीयमामुर ...	११७१३०३	ईहणकरणेण ...	११११३०८
आमंतणि आण	१०१२२४	उक्कस्तिर्दि	९८१२४९
आयारे मृद्युडे	१३४१३५६	उक्कसंसंखेन	१२६१३२०
आवलिअसंखं	८१०२११	उत्तमअंगाहि	९४१२३६
आवलिअसंखभा	८१०२१२	उदयावणसी	२४६१६६३
आवलिअसंख ...	१५१०१३८२	उदये दु अपुण्ण	५०११२१
आवलिअसंख ...	१५०१०३९०	उदये दु वण्णक	७५११८४
आवलिअसंख ...	१५३१०१९६	उपायपुलगाणिय	१३११३४४
आवलिअसंख ...	१५११४२७	उवजोगो वण्ण	२०११५६४
आवलिअसंख ...	१६३१०४७	उववादगवनजेमु	३८११९२
आवलिअसंख ...	२१३१०७३	उववादमारणातिय	८०११९८
आवलिअसंख ...	१५५१०४०४	उववादा मुरगिरया	३८११०
आवागया हु ...	९८१२५०	उववादे अचित्तं	३७१८५
आसवंसंवर ...	२३८१६४३	उववादे सीदुतपर्ण	३७१८६
आहरदि अणेण	९५१२३८	उसममुहमाहरे	५८११४२
आहरदि सरीराण	२४६१६६४	उवसंते स्त्रीणे	१७११४७४
आहरस्तीरं ...	१५१११८	उवमंतरवीण	५११०
आहरदंसणं	५६११३४	उववादे पठम	१७३१०४८
आहरस्मुद्गेण	१५१२३४	उवहीणे तेतीसे	१९८१५५१
आहरस्यमुत्तर्य	१५१२३५	उवकं कं चउरंकं	१२४१३२४
आहरस्ययोजो ...	१०५१२२९	ए	
आहरस्यगणादो	२२४१६०६	एंदियपुढीण	१७६१४८७
आहरमारणं ...	२४७१६६७	एंदियस्सुकुसं	६८११६६
आहरो पञ्चो	२५२१६८२	एकट्वचय	१३४१३५३
	इ	एकाहि काल	२५१५६
इगिदुगपंच ...	१३१५१३१८	एक खलु अङ्के	१२५१३२८
इगिवुसे वनीरं	१०८१२७७	एकवकं चउ	१२११३१३
इगिवणं इगि ...	३११७९	एकदरयदि	१२११३३७
इगिवितिचपण	१११४३	एकं समयपबंदं	१११२५३
इगिवितिचखच	१११४४	एकारस जीवा	२६१०७२२
इगिवीसमोह ...	३०४७		

गाम्मटसारः ।

३

गाथा.	पु. गा.	गाथा.	पु. गा.
एगुणं तु ज	२५२१६०९	किमिरावनक	१११३८६
एगुणोदसरेरे	७९१९९४	कुमुणा ओ	३६१८२
एदग्नि गुणदणे	२३१५७	केवलणाणदि	२१५३
एदग्नि विभजते	१८९१२९७	केवलणाणाण	१५३५३८
ऐ भावा णियमा	६१९२	ख	
एयक्षरादु	१२८१३३५	खंड मयल	२२२१६०३
एयदविभिम	२१९१५७	खंडा अर्देखलोगा	१८१९९३
एयददो उव	१२८१३३६	खयउवरमिय...	२४११५०
एया य कोडिकोडी	१८१११६	खबगे य स्तीणमोहे	२१६५७
एयं तु दुद	८१९६	खोणे देसणमोहे	२३११५५
एवं असखलोग	१२८१२३७	खेतारो अमुह	११११०३
एवं उवरि लिणेओ	४६११९९	ग	
एवं गुणर्हजुत	२२५१६१०	गदिंदिवेम	५८१९४९
एवं तु समुग्धदे	१९६११५६	गदिउदयज	५६११४५
क		गच्छसमा तका	११११४७
कदकफलजुद	२७१६१	गतनममनगं ...	१३६१३६२
केदस्स व मूलस्स	१६१९८८	गदिटापोमगह	२९०१५६५
कप्पवहर	१८०१०३६७	गदिटापोमगह	२२३१६०४
कप्पुत्राणे	१६०१०४३२	गनभजीवाणं	३५१०४७
कम्मदियकाय	२४८१६७०	गनभण पुर्विथ	१०८१३७९
कम्मदियवसाणे	१५३१८०९	गाउयपुत्रत	११६१५४४
कम्मेव य कम्मभवे	१५१२८०	गुणजीवा ...	२१२
कम्मोरालिय	१०३१२६३	गुणजीवा पञ्चती	२५०१६७६
कम्मवण्णतर	१३२१३४८	गुणजीवा पञ्चती	२६५१७२४
काऊर्णीलंकिहं	१०१०१०७	गुणजीवाण ...	२७३१३२१
काऊ काऊ काऊ	१८११५२८	गुणपचाईगो ...	१४११३२१
काल्पिरेसेण	१५२१८०७	गृहीतिसंधि ...	७६१९६६
काले चउण्ण	१५३१८९९	गोवमथेरं ...	२६३१७०५
कालो छ्लेस्ता	११११५१०	घ	
कालोवि य वहएसो	२१११५१०	घणांयंगुलग्दम	६५१९६०
कालं असिय	२१११५७०	च	
किण्ठचउक्काणं	१८८१५२६	चउगइस्त्व ...	१२९१३२८
किण्ठतियाणं	१८९१५२७	चउ पण चोहम	२५०१६७७
किण्ठवर्सेण मुदा	१८८१५२३	चउत्तवयावर	२५४१६९०
किण्ठं सिलास	११२१८९९	चउत्तिपिंदं ...	१३३१३५२
किण्ठा णीला काऊ	१७३१८९२	चक्कू जं पया	१७४१८८३
किण्ठादिरासि	११२१५३६	चक्कूत्तोदं ...	७०११७०
किण्ठादिलेस्त	२०११५५५	चंडो ण मुनद	१८३११०८

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायाप्र।

गाथा.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
चतुरिवि स्ते	२४२१६५२	जाहिव जामु व	५८१९४०
चदुगदि भवो	२४२१६५१	जीवदुर्गं उत्तं	२२९१६२१
चदुगदिमदि	१६७१६६०	जीवा अंतसंखा	२१७१५८७
चंद्ररविंशतु	१३६१३६०	जीवा चौहसभे	१७२१४७७
चरमधरासाण	२३६१६२७	जीवाजीवं दब्वं	२०९१५६२
चरिमुक्तंकेण	१२७१२३२	जीवार्णं च य रासी	१२४१३२३
चारी भद्रे नोक्षो	१८८१५१५	जीवादोणंत ...	९८१२४८
चिर्तयमर्यन्नीतयं	१६११८३७	जीवादोणंतम् ...	२२११५९८
चिर्तयमर्यन्नीतयं	१६५१८८८	जीविदेव कम्म	२३८१६४२
चोद्दासमगण	१२९१३३९	जंगावरवहु ...	२३३१६३१
छ			
छाणाणं आ	१२८१४३७	जेरि ण संति	९६१२४२
छटोति पदम्	२१९१७०१	जेहि अणेया ...	३१७०
छद्वाकाराणं	२१५१५८०	जोइसियवाण ...	१०७१२७६
छद्वेषु य गामे	२०८१५६९	जोइसियंताणो	१६११४३६
छपयगील	१७८१४९४	जोइसियादो अहिया	१९३१५३९
छपंचारिय	४८११९५	जोगपउत्ती ...	१७६१४८९
छपंचणातवि	२०८१५६०	जोगं पड जोगि	२६४१७१०
छस्तय जोयण	६३११५५	जोगे चतुरक्षा	१७५१४८६
छस्तयपणासाई	१३७१३६५	जो गेव सच्चमोसो	८९१२२०
छादयदि सर्वं	१०६१२७३	जो तयवहादु ...	१४१३१
छेतूण्य परि-	१७०१४७०	ठ	
ज			
जगवदसम्मदि	८९१२२१	ठोणहिनि जोणीहि	३३१७४
जतस्त महं	२१०१५६६	ण	
जथेकमरह	७४११९२	णहक्साये ...	१९११५३२
जम्मं खलु सम्मु	३६११८३	णष्टप्पाए पडमा	५७११९८
जम्बूदीवे भरहो	७८११९४	णष्टासेसप्पादो	२०१४६
जम्हा उवरिम	२११४८	णय कुण्ड पक्षलवायं	१८८१५१६
जं सामाणं	१७८१८८१	णय जे भव्वा भव्वा	२०२१५५८
जह कंचणमग्गि	८११२०२	णय परिणमदि	२१११५६९
जहरवादसंजमो	१६९१५६७	णय पतियद ...	१८३१५१२
जह पुण्णापुण्णाई	४८११९७	णय मिच्छतं ...	२४२१६५३
जह भारवहे	८११२०१	णय सच्चमोस	८८१२१८
जाइजरामण	६२११५९	णरतिरियाणं ...	१८९१५२९
जाई अविणाभावी	७३११८०	णरतिरिय ...	११५१२५२
जाणै कज्जाकज्ज	१८८१५१४	णरमंति जदो	६०११४४६
जाणै तिकाल	११५१२९८	णरलदिअपन्नत	२६६१७१५
		णरलोएति य ...	१६६१४५५
		णवमी अणक्खर	१०१२२५

गोमटसारः ।

९

गाथा	पु. गा.	गाथा	पु. गा.
णव य पदत्वा	... २२१६२०	तनो लंतर १६१४३५
णवरि य दुस	... १००१२५८	तनो शंखन २३१६३९
णवरि विसेसं	... १२२१३१८	त्वेष्मंगुडम	... ७४१८५३
णवरि समुद्रा	... १९३१५४९	तदियकरो नन	... १७१४०
णवरि य सुका	... २५१६१९२	तदियकराय १७०१६८८
णवि ईदिय	... ७१३१७३	तलशीनमुग	... ६४१९५७
णाणं पंचविहै २४१६७२	तवधूणा चामो	... १४१९५५
णाणुवजोगजुदाणं	... २४१६७५	तविदियं कापाण	... १६६१४५३
णारथतिरिक्त्व	... ११३१२८८	तराचुउगाण	... ३११७९
णिक्कितु विदिय	... १६१३८	तराजीवणं २६१८७९
णिक्कर्वे एयथे	... २७२१७३२	तसराजिपुठाव	... ८२१२०५
णिचिदरथादु ३११८९	तस्यमयबद ९३१२४७
णिहापयले २५१५५	तस्युरि इगि	... ४४१९०४
णिहावन्चण	... १८३१५१०	तसहीणो गंतारी	... ७११९५५
णिहेसवण्णपरि	... १७३१४९०	तहि नग्ने मुद्र	... १०१४२६६
णिदत्ते लुक्खतं	... २२११६०८	तहि संसद्व १०५१२६८
णिदणिदा ण २२५१६११	ते मुद्रसलागा	... १०५१२६७
णिदस्त णिदेण	... २२६१६१४	ताणं समयपद्धा	... १७१२५५
णिदिदरोली २२६१६१२	तारिखरपराणम	... २५१५४
णिदिदरवण्य २२११६१७	तिगुणा सत्तगुणा	... ६११९५२
णिदिदरयुगा २५११६१८	तिणकारिसिंह	... १०११२७५
णिदिद्विदे सम २२७१६१५	तिणिसया ५११९२२
णिम्मूलवंश १८३११०७	तिणिसयंजाय	... ६११११५९
णियस्ते केवलि	... १४१२२५	तिणिसयसद्गि	... ६१११११९
णिरया किष्मा	... १७३१४९५	तिष्ठ दोष्ट दोष्ट	... १९११५३३
णिसेसवण्णीण २११६२	तिविपच पुण	... ७२११७९
णेरह्या खल	... ३११३	तिवकालिवस्य	... १६११४४०
णेविती जेव	... १०११२७८	तिरथियत्यय २३११६२४
णोईदियावरण	... २४११६५९	तिरियगाणाए २५११६११९
णोईदियति १६३१४४३	तिरियनउडा	... २६५१७११२
णो ईदियेमु वि	... १३१२९	निरिये अवर १५४१४२४
णो कम्मुराल्सं	... १४३१३७६	निरियति कुटिल	... ६०१७५७
त			
तज्जोगो सामण्ण	... १०३१२६२	निरियं भर्णति	... २३११६३५
तत्तो उवरि ८११४	निम तेऽ दम	... २६११७०३
तत्तो एगार ६५१९६७	तीसं वासो जमे	... १७११७७२
तत्तो कम्मिय	... १३३१३९६	तेऽनियाणं एवं	... १९११५५३
तत्तो ताणुताणं	... २३६१६३८	तेऽउ असेव	... १३४१५४७

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायाम्

गाथा.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
तेउसय सदा	१९६१५४५	देवीं अवहारा	२३४१६३४
तेझ तेझ तेझ	१९७१५३४	देवेहि सादिरेया	१०८१२७८
तेझ पठमे मुके	१८०१५८०	देवेहि सादिरेया	१०२१२६०
तेजा मरीरजेझ	१०११२५७	देवेहि सादिरेयो	२४६१६६२
तेनीसवेजाणाई	१३३१३५१	देसविरदे ...	३११३
तेरमकोडी देमे	२३४१६४१	दंसावहिवर	१५३१४१२
तेगिच्छ्यर्यद	२६५१७१३	दंसाविंश्वर	१४८१९९३
तेवि विसेमण	८६१२९३	दंसाहिमज्जा	१४८१३९४
तेमि च समामे	१२३१३७	दंसोहिस्य य	१४२१३७३
तो वासय अज्जय	१३४१३५६	दोमुणिगदाणु	२२६१६१३
थ			
थावरकायपुदी	२५४१६८४	दोष्टं पञ्चय	२६३१७०४
थावरकायप	२५३१५८५	दंतिगमव	२२७१६१६
थावरकायप	२५४१६८६	ध	
थावरकायप	२५३१६९१	धणुवीमददत	६८१९६७
थावरकायप	२५६१६९३	धममुग्ममग्मणा	५७१९३९
थावरकायप	२५६१६९३	धमाधमादीर्ण	२९९१५६७
थावरकायप	२५४१६९७	धुवअदुवल्ले	१५०१४०१
थावरसंख	७१११७४	धुक्कोमंभय	२७११९
थोव तिसु	१०८१२८०	धुवहारकम	१४५१३८४
द			
दवं खेतं कालं	१४३१३७१	धुवहारस्य य	१४६१३८७
दवं खेतं कालं	१६५१४४९	धूलिगच्छकट्टणे	११३१२९३
दवं छक्कमतलिय	२२४१६९९	न	
दस चोदमग	१३३१३८३	नीतुक्तसंस	१६८१५२४
दसविहसने	८८१२९९	प	
दस सणीयं	५५११३२	पञ्चक्षवाणुदयादो	१४१३०
दसणमोह	२४०१६४७	पञ्चक्षवाणेव	१३११३४५
दसणमोहुद	२४०१६४८	पञ्चक्षतिरिं	३८१९१
दसणमोहुव	२४११६४९	पञ्चतिहिच्छु	१७२१४७५
दसणमयसामाइय	१७२१४७६	पञ्चवि ईदिय	५४११२९९
दहिदमिव वा	१०१२२	पञ्चरसं पञ्च	१७३१४७८
दिणाच्छेद	८६१२१४	पञ्चरमिदो तिशुते	१७०१४७१
दिणाच्छेदेणवहिद	१५६१४२०	पञ्चवं होति णाणा	११६१२९९
दिवसो भिण	२१४१५७५	पञ्चतस्त्वय	५०११२०
दीब्बंति जदो	६१११५०	पञ्चतस्तीरस्स...	५२११२५
दुग्धातिगभवा हु	१६६१४५६	पञ्चतमणुस्ताणं	६५११५८
दुग्धारपादुडादो	१३०१३४१	पञ्चतीपद्धतिं	५०१११९
द्विर्हंपि अप	२६४१७०९	पञ्चाणावि	२५९१७००

गोमटसारः ।

गाथा.	प. गा.	गाथा.	प. गा.
पडिवादी दे-	१४८०३७४	पुणजत्त्वां	४२१९००
पडिवादी पुण	१६४०४४६	पुरिमिल्लांठ	१०६१२७०
पठमक्को अंत-	१३०३९	पुरमुगमोंग	१०६१२७२
पठमं पमदप्पमा-	१६०३७	पुरमहेदार	५२१२२९
पठमुवसमतहि-	१४११४४	पुर्वजलयन्	१३६१३६७
पणजुगले तस	३३०७६	पुल्वापुलापात्र	२६११८
पणाङ्गाल पण-	१३६१३६४	पुहपुहकामाय	१४१२९५
पणणउदिसया	०३२०३४६	पोगालद्वयिति	२९१५५२
पणवणिजा	१२०३०३३	पोगालद्वयाणं	२१६१५८
पणिदरसभोये -	५६०१३७	पोनजारुत्र-	३६१८
पणुवीस जोये-	१५०४४२५	फ	
पत्तेयुद्दितिथ-	१३३१६३०	फागरसमंध	६७०१६५
पमदादिचउ-	१७३१४७९		
पम्मस्य स दग्धा	१९७०४४७	बंधो गमयप-	२३४१६४४
पम्मुक्कस्तंसमुदा	१८६४५२०	बहुबहुविहं च	१११०३९
परमणितिप्रभमं	१६४०४४७	बहुभागे समभागो	७२१७८
परमाणुआदि	१७०१४८४	बहुवित्तिजादि	१२०१३१०
परमाणुवगणादो	२११०५५५	बहुविवहुप-	१७३१४४५
परमाणुहि अण-	५६१२४४	वादराऊ	१७८०४९६
परमावहिवर	१५५०४९८	वादरनेत्राऊ	९३१२३२
परमावहिस्स	१४८०३९२	वादरथुण्णातेऽ	१०११२५८
परमावहिस्स	१५००४१११	वादरबादर	२२११००२
परमोहिद्व	१५००४१११	वादरमुद्दमे	३२१७२
पश्चियं उव-	१९१२५१	वादरमूहमा	७२१७८
पश्चसमऊण	१५०३१४१०	वादरमूहम्	७११५८२
पश्चासंखयणं-	१६०१४६२	वादरसंजल-	७६९१४६५
पश्चासंखेज्व	४४१२०८	वादरसंजलण्	७६९१४६६
पश्चासंखेज्व-	१७३१४८०	वावीम सत्त	४३१११३
पश्चासंखेज्व	२४४१६५८	वालस्तसय	१३२१३४९
पश्चासंखेज्वा-	१०२१२५३	वालिरपोषेहि	१३११२३
पस्सीद ओही	१४०१३५	वितिपुण	४०१५६
पहिया जे छपु-	१८२०५०६	वितिवप्माण	७२१७०७
पुक्खररग्हणे	१२१०३१२	विदिवुसम	२७१७३९
पुगालविवाइ	८७१२१५	विहिनीहं चदुहि	७९११५७
पुढविदगागणि	५१११३४	वीजं जोणीमौ	७६१३८९
पुढवी आऊ तेक	७४११८१		
पुढवी आऊ तेक	८०११९९	भत्ते देवी चंदप्पह	८११२२२
पुढवी जलं च	२२२१६०९	भरहमि अद्व	१५११४०५

रायचन्द्रनैनशास्त्रमालायाम् ।

गाथा.		पृ. गा.	गाथा.		पृ. गा.
भवणतियाण	...	१५६।४२८	मिच्छाइटी जीवो	...	२४३।६५५
भवयचइगो	...	१४९।३७०	मिच्छाइटी पावा	...	२३०।६२३
भवयचइगो	...	१४९।३७२	मिच्छा सावय	...	२३०।६२२
भव्यतणस्त जोगा	...	२००।५५७	मिच्छे खुल	...	६१९
भव्यासमत्तावि	...	२६९।७२५	मिच्छे चोहस	...	२५८।६९८
भविया रिंदी	...	२०१।५५६	मिच्छे सासण	...	२५९।६८०
भावाण सामण	...	१७४।४८२	मिच्छोदयेण	...	७१९
भावादो छालसा	...	२००।५५४	मिच्छो सासण	...	५१९
भासमणवग-	...	२२४।६०७	मिच्छो सासण	...	२५६।६९४
भिष्मसमयहि	...	२६५२	मिस्मये सम्मिसं	...	११६।३०९
भूआउतेड	...	३२१७३	मिस्मं पुष्णालाओ	...	२६४।७१७
भूआउतेउवाऊ	...	२६८।७२०	मीमांसादि जो पुञ्चे	...	२४४।६६९
भोगा पृथग	...	१९०।५१०	मूलगपोरवीजा	...	७५।१५५
म					
मगणउबजोगा	...	२६०।०१०	मूलसर्वमङ्ग-	...	२४७।६६७
मर्जिमअंसेण	...	१८७।५२७	मूले केंद्र छाई	...	७६।१०७
मर्जिमचउ	...	२५९।१६७८	य	...	
मर्जिमदध्य खेन	...	१६७।४५८	यात्रकनामनानन	...	१३६।३६३
मर्जिमपदक्वर-	...	१३।१३५८	र	...	
मण्ठि जडो	...	६०।१४८	हज्जावर अवह	...	४४।१०७
माप्रदव्यवगणा	...	१५६।३८५	हतुरेण ततो	...	४५।११०
मण्डदव्यवगणा	...	१६।५१५७	हस्त णिदइ	...	१८३।६६९
मण्डपजवं च	...	१६।१०८८	ल	...	
मण्पजवं च	...	१६।४।४४	लद्धिअपुण्णं	...	५२।१२६
मण्पजवपरिहारं	...	२७।१७२८	लिंग आपीकीर्ट	...	१७६।४८८
मण्पवयणाण	...	८७।२।९६	लेसाणं स्तु	...	१०५।१७७
मण्पवयणाणं	...	९।१२।२६	लेसाणुकसां-	...	१८९।१०४
मप्रमहियाणं	...	९।१।२।२७	लोगस्मअगमंखे-	...	२।९।५।८३
मणुसिषिपमन	...	२६।६।७।७४	लोगागासापदेसा	...	२।९।५।८६
मरिथाक्षण	...	६।७।१।६४	लोगागासापदेसे	...	२।९।५।८८
मदिमुदओही	...	२।४।१।६७३	लोगागासय	...	२।९।५।९०
मंदो बुद्धिकीणो	...	१८३।५०९	लोगामसं-	...	१२२।३।९५
मरणं पथेद	...	१६३।५१३	लोगामसं-	...	१७९।४९८
मरदिअंखेन-	...	१९।५।५४३	व	...	
मसुर्युविद्	...	८।१।२।००	वगणरासि	...	१४७।३।९९
मायालोहे	...	४।१६	वणोदयेण	...	१७७।४।९३
मिच्छत्त बेंदंतो	...	८।१।७	वणोदयसंपा-	...	१९।२।५।३५
मिच्छाइटी जीवो	...	९।१।८	वत्तगहेद् काले	...	२।१।०।६७
			वत्तावत्तपमादे	...	१५।३।३

गाथा,	पृ. ग्र.	गाथा,	पृ. ग्र.
वर्तीसं अडदा- २३२१६२७	सकीसामा पटमे १५९१४२९
वर्तुणिमित्ते २४८१६७१	नका नमुदीवं ८१२२३
वर्तुस पदे- १५०१३११	मंखा नद वयासे १५१२५
वसदमिदिकसा- १६९१४६४	संवालोता ओं १५०१४०५
वयणेहि वि २४८१६४६	संवालन्ता ओणो ३११८७
वरकाओदेस १८८१५२५	संवालिदित २४४१६५७
ववहारो पुण का- २१८१५७६	मंसेओ ओं २१२
ववहारो पुण ति- २१८१५७७	मंसेजापमे वासे १५९१४०६
ववहारो पुण २१८१५८९	संवजामंसेजा २१३११८१
ववहारो य विय- २१२११७१	संवजामंसेव- २२०१५७७
वादस्मृहमे २६७१०१८	मगजुलर्मिं ३४१७३
वापशननरो १३५१३५९	मगमार्हिं विभन्न १८१४९
वामपुष्टे खद्या २४४१६५६	मगमगमर्मस्य ८३१२०६
विउलम्बदीवि १६२१४३९	मगमगमेवन १६०१४३३
विकहा तदा १५१३४	मगमगमअवहा... २३७१४८०
विषगहगादिमा- २४६१६६५	संगदिय मयल १५०१४६९
विदावलिलोगाण ८४१२०९	मंजलगाणोक्ता- १४१३२
विदियुवम्य २५७१६९५	मंजलगाणोक्ता- २०१४९
विवरीयमेहि ११७१३०४	मद्राणसमुधा- १५४१५४२
विविहगुण १३१२२१	संटाविदृष्ट स्वं १५१४२
विसजंतकूड ११७१३०२	मण्णाणिंगं २५३१६५७
विसयाण विस- ११७१३०७	सण्णाणारास १६५४५६३
वीरमुहकमल २७०१७२७	मणिस्म वार... ६५१९६८
वीरियुदमिद ५४१९३०	मणी ओंच मिच्छे २६५१७७९
वींसं वींसं पाहुड १३०१३४२	मणी सण्णाप २५८१९९६
वेगुर्वं पमरे २५३१६८१	सनकं उवमदो १२१२६
वेगुविय आहारो १६१२४१	मनकं पुठींगं २६५१७११
वेगुविय उत्तवं १३१२२३	सन्दिना लम्मागा ५८११४३
वेगुवियवरसं- १०११२५६	मनमर्हवदिमि १५७१४२३
वेजणउत्तव ११८१२०९	सनादि अंता २३३१६३२
वेषुकप्लोर- ११०१२८५	सदमित्यंगो ३०१६९
वेदस्मुदीरणाए १०६१२७१	संपुणे तु समर्गं १६३४४५९
वेदादहारोति- २६८१७२३	महृणासहर्ण २४३१६४४
वेयणक्ताय २४७१६६६	मत्तावागो सचो ८०१२७५
वेमदछपण्ण- १५४११४०	ममओ हु वस्मा २१४१७८
स		सम्मतदेस य- १२१२५
संकमणे छाणा १८११५०५	सम्मतदेस य- १०१२८२
संकमणं सद्या १८०१५०३	सम्मानिच्छारि- १११२४

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालावाम्

गाथा.	पु. गा.	गाथा.	पु. गा.
गम्भत्यरण १२०	मुक्तस्य गमुष्ठा-	... १९६१५४४
गम्भापत्ती... २९१६६	मुहं दुग्धिं	... ११४१२९४
गम्भयरणस्या १०३१२६४	सुतादो तं समं	... १३१२८
समादी जीवो १३१२७	मुद्रेस्वरं च पाणं	... १४०१३६८
मम्मामिच्छदये १०१२१	मुहमणिगोद	... ३१९४
मवंगांगमनभन १६३१४४७	मुहमणिगोद	... ७०१७२
गवं च लोगणालि १५९१४३१	मुहमणिगोद	... १२३१३९९
मवमल्ली २१८१५९१	मुहमणिगोद	... १२३१३२०
सवमसामो ११४१२९६	मुहमणिगोद	... १२३१३२१
सवसमासो १२६६१३२९	मुहमणिगोद	... १४०१३७
सवधग्नां ओष्ठं २६३७१९६	महद्वयस्वरुपु	... १०११२८१
सव्वावाक्षस एक १५४१४१४	महमेसु संख	... ८४१२०७
सर्वोपि पुच्छमां १५१३६	महमेदरुण	... ४२११०१
सर्वेषि मुहमाणं १७८१४९७	मुहमणिवाते	... ४११९७
सर्वोहिनि य क- १५३४४२२	मुहो मुहम	... २५४१६८९
संगारी पंचमस्या ६३११५४	मंडी सूर्य अंगुल	... ६४११५६
सामारो उवजोगो ४१७	संदी सूर्य पाता-	... २२१५९९
सांतरणिरंतरण २१११५४४	सलाकिष्ठे	... ११३१२९२
सामण्डीन ३३१५५	सलकिद	... ११०१२८४
सामण्डा ऐरद्या ६२११५२	सेसद्रससंभासा	... १८६१५९८
सामण्डा पंचिदि ६१११४९	सोलसयं चउ	... २३११६२६
सामण्डो य एवं ३७१८८	सोवक्कमाणुकम	... १०४१२६१
सामण्डो निपंत्ति ३११७८	सो संजमं ण गि-	... १११२३
सामण्डं पञ्चत २६४१७०८	सोहम्मासाण	... २३५१६३५
सामाइन्द्रउ १४०१३६६	सोहम्मादासा-	... २३५१६३६
गाहरणवादेषु ८५१२१०	सोहम्मोसाणा	... १६११४३४
गाहरणोदयण ७३१११०	सोलसय	... १२८१३३५
साहारणमाहारो ७३११११		ह
गाहियगहसमेक ४०१९१	हिदि होदि हु	... १६३१४४२
गिरवाकिरियु- २४५१६६०	होमितकसं	... २२११००
मिद्धमुद्दं १११	ज्ञा जेसि	... ४४१११२
गिदाणांतिम २२०११५६	हेमिलपुढीणं	... ५३११२७
गिदाणं सिद्धर्गं २०२१७२०	हेमिलपुढीणं	... ६३११५३
सिल्पुत्रि ११०१२८३	होति अणियङ्गिं	... २६११५७
सिल्पेलवेषु ११३१२९०	होति खवा इगि	... २३३१६२९
गीर्वी गंगो ताळं ५१११२३	होदि आणितम	... १४६१३८८
गीर्वेसि गंपती २१६५		

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालके प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची ।

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय—भीअमृतचन्द्रद्वारिकृत मूल और प० नाष्टरामजी प्रेमीकृत सरल और विस्तृत भाषाटीका । इसमें भावकाचार और अहिंसाके स्वरूपका विशद वर्णन है । म० सजिस्टद्का १।
२ पंचस्तिकाय—(अप्राप्य) पुनः संशोधित होके छपेगी ।

३ शास्त्रार्थव—भीशुभचन्द्राचार्वकृत मूल, स्व० प० जयचन्द्रवीकृत भाषाटीका, बोगके विषयका अपूर्व प्रथं है । महस्तपूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तावना भी है । मूल सजिस्टद्का ४)

४ सप्तमंगीतर्तिगिरि—भीविमलाचार्वकृत मूल और स्व० प० ठाकुरप्रसादजी शार्मा व्याकरण-चार्वकृत भाषाटीका । नव्यनवाचका महस्तपूर्ण प्रथं है । मूल १)

५ शृहद्व्यवस्त्रप्रग—(अप्राप्य) पुनः छपेगी ।

६ गोम्मटसार—कर्मकांड—भीनेमिचन्द्राचार्वकृत गाथायें, और स्व० प० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृताचाया और भाषाटीका सहित । मूल सजिस्टद्का २॥)

७ गोम्मटसार—जीवकांड—भीनेमिचन्द्राचार्वकृत मूल गाथायें, और प० सूखचन्द्रजी विद्वानशास्त्रीकृत संस्कृताचाया और माषाटीका सहित । मूल सजिस्टद्का ३॥)

८ लघियसार—भीनेमिचन्द्राचार्वकृत मूल गाथायें, और स्व० प० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृताचाया और हिन्दीटीका सहित । मूल सजिस्टद्का १॥)

९ प्रवचनसार—भीप्रत्यकृत्कृन्दाचार्वकृत मूल गाथायें, अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनजी संस्कृत टीकायें, स्व० पादे हेमराजकी हिन्दीटीका, डॉ० ए० एन० उपाध्याय एम०ए०, डॉ० किंद० की द्विका महस्तपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना है, अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार भी है । म० सजिस्टद्का १॥)

११ समयसार—(अप्राप्य) संशोधित होकर पुनः छपेगा ।

१२ द्रव्यातुर्योगतर्कणा—भीभोजसागारकृत, अप्राप्य है ।

१३ स्याद्वादवंजरी—भीपिण्डियेष्वास्त्रिकृत मूल, और डॉ० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व प्रथं है । बड़ी लोकसे किसे हुए १३ परिचित है । मूल सजिस्टद्का ४॥)

१४ सभाप्तवाचार्यार्थिगमसूत्र अर्थात् तस्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र—भीमत् उमास्वतिकृत मूल सूत्र और संस्कृतमाध्य, प० सूखचन्द्रजी विद्वान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका, म० सजिस्टद्का ३)

१५ पुष्टमाला मोक्षमाला और भावनावौध—भीमद्राजचन्द्रकृत, अनुवादकर्ता—प० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, मूल ॥)

१६ उपदेशाचाया और आत्मसिद्धि—भीमद्राजचन्द्रप्रणीति । अनुवादकर्ता—प० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, मूल ॥) **१७ योगसार—**अप्राप्य है ।

१८ श्रीदेवीन्दुदेव और परमात्मप्रकाश—डॉ० डॉ० एन० उपाध्याय, अंग्रेजी प्रथं, मूल १)

१९ श्रीमद्भारतम्—भीमद्राजचन्द्रजीके समस्त पनों, रचनाओं (ग्रन्थों) का अपूर्व संग्रह, अच्युतमाला अपूर्व और विशाल प्रथं है । म० गाँधीजीकी महस्तपूर्ण प्रस्तावना है, अनुवादकर्ता डॉ० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, पुरुषेन्द्रया १०००, मूल सिर्फ ६)

आगे छपनेवाले प्रथं—भीडमास्वाविकृत प्रश्नमरतिप्रकरण सं० डी०, मा० डी०, शीउमन्त-भावकार्वकृत आत्मीयामाला सं० डी०, मा० डी०, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा सं० डी०, मा० डी०, शीकुन्द्रकृत्ताचार्वकृत सर्व दीय अष्टवाकुम्, निषमसार, रथ्यसार आदि, मूल गाथायें, सं० डी० और नई हिन्दीटीका सहित छपनेकी अवस्था हो रही है ।

गुजराती प्रथं—१ श्रीमद्भारतम्—सलालानपूर्ण महान् प्रथ, महात्मा गांधीजीकी किसी महस्तपूर्ण प्रस्तावना सहित, अप्राप्य है । २ भावनावौध—भीमद्राजचन्द्रकी अपूर्व रचना, मूल सजिस्टद्का सिर्फ १)

मिळनेका पता—परममुक्तप्रभावकमंडल (रावचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

डॉ० साराकुमार, बौद्धीरीवाचार, बर्मई नं० २

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके

२ महत्वपूर्ण ग्रंथोंका नया प्रकाशन

१ न्यायाचतुर्वादः—समाद् विकामादियों के सभाके ९ रत्नोंमें से क्षणक नामक रत्न कस्याणविनिरस्तोत्र, सन्मतिर्तुर्व आदि महान् प्रयोगे के रचयिता भीसिद्धसेन-दिवाकर इस प्रथके मूलकर्ता हैं। विद्विषणिकी संस्कृतदिक्षाक्रम सरल हिन्दी अनुवाद और दर्शनाचार्य पं. विजयमूर्ति एम्. प. ने किया है। न्याय-शास्त्रका मुख्य प्रेय है। इसमें न्यायशास्त्रके प्रमाण, लक्षण, नव और उनके भेद, आदि मुख्य मुख्य विषयोंका विवेचन है। पृष्ठसंख्या १४४. मूल्य छंडिलद प्रयोग ५) पो. ।)

२ प्रशास्त्रतिप्रकरणः—मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसंग्रहके रचयिता श्रीउमास्त्रामी-कृत मूलश्लोक, हिन्दीसंश्लिष्ट संस्कृतटीका और साहित्याचार्य वं. राजकुमारजी शास्त्री कृत सरल हिन्दीटीका। वैराग्य-अध्यात्मका सुन्दर सरल स्पष्ट विवेचन इसमें है। पोठबंध, कथाय, रागादि, आठ कर्म, पञ्चनिद्र्य विषय, आठ मदस्थान, आचार, भावना, दशविषि धर्म, धर्मकथा, नवतरत, उपयोग, भाव, वदवृद्ध, चारित्र, शाल, धान क्षयकषेत्री, समुद्रधातु, योगनिरोध, मोक्ष-गमन आदि विषयोंका हृदय प्राप्ति वर्णन इसमें है। जिसे पढ़कर हृदय गदगद हो जाता है। पृष्ठसंख्या २४०. मूल्य छंडिलद प्रयोग ६) पोष्टेज ।=)

सूचना—उस तरफ छोपे हुए प्रयोका मूल्य अत्यधिक महाराईके कारण बढ़ गया है।
उनका मूल्य और पोष्टेज इस प्रकार है:—

नं ३ का ६) पो. ॥) नं ६ का ३) पो. ॥) नं ७ का ३) पो. ॥) नं १० का ६) पो. ॥) नं ११ का ६) पो. ॥) नं १४ का ३) पो. ॥) नं १९ का १०) पो. ॥)

जिन प्रयोका मूल्य नहीं किया है। ये समाप्त हो गये हैं। पुकः कृपतेवर मिलेंगे। उनमें से कई छप रहे हैं और कईकी छपानेकी डबवस्था हो रही है। प्रयोका मूल्य पोष्टेज और रजिस्ट्रीके ।॥) आनेपर प्रय भेजे जाएंगे। वी. पी. से नहीं। रेलवे मैगानेवाले भीराई दाम देशानी भेजें। अधिक मूल्यके प्रय मैगानेवाले, प्रभावान्वय वितरण करनेवाले प्रत्रम्भवहार करके से कर दें। हमें उन्हें पूरी दुक्षिणा देंगे।

पता:-परमभूतप्रभावकमंडळ

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

पीपली लैलवर लालकुमार ४५५

प्रियप्रियालक्ष्मी लैलवर ४५५

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library

मसूरी
MUSSOORIE

MUSSOORIE
यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है।
This book is to be returned on the date last stamped

QL H 294.482
SID



120842
LBSNAA

५
 ३४० १८-
 अवाप्ति सं०
 ACC. No..... १२२
 वर्ग स.
 Class No... युस्तक स.
 Book No...
 लेखक
 Author.....
 शीर्षक
 Title.....
 १८८१, फ़र्फ़ा, बैलून

H 294.482 LIBRARY 13723
सिद्धांत LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No.

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
 2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
 3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
 4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
 5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving